

सामान्य भाषाविज्ञान

बाबूराम सक्सेना

एम० ए०, डी० लिट्० (प्रयाग)





१८८३ शक

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रथम सस्करण १०००

द्वितीय सस्करण २०००

तृतीय सस्करण ४०००

चतुर्थ सस्करण ३०००

पचम सस्करण ४५००

षष्ठ सस्करण ४१००

मूल्य ६ ००

शक सवत् १८८३

मुद्रक

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

दिन्नसमग्गहदयाय अलक्खितरूपाय

तस्सा देविया ससिनेह समप्पिता

कामनाहि नेदिट्ठा वि

मुद्दूरा येव अम्हे यस्स"

प्रकाशकीय

भूतपूव बड़ौदा नरेश महाराजा सयाजी राव गायकवाड ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बम्बई अधिवेशन मे सम्मिलित होकर सम्मेलन को पाँच सहस्र रुपए की सहायता प्रदान की थी। उस निधि का सदुपयोग सम्मेलन ने 'सुलभ साहित्य माला' नाम की एक ग्रथमाला सचालित कर उसके अन्तगत अनेक उपयोगी पुस्तके प्रकाशित की है।

उक्त ग्रथमाला के अन्तगत प्रस्तुत 'सामान्य भाषा विज्ञान' को प्रकाशित कर सम्मेलन का प्रकाशन विभाग गौरवान्वित हुआ है। इस ग्रथ के लेखक डा० बाबूराम सक्सेना अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त भाषा-विज्ञानवेत्ता है। इस ग्रथ को लिख कर डाक्टर साहब ने हिन्दी मे भाषाविज्ञान जैसे गूढ विषय को सरल, सुबोध ढग से लिखने की एक नयी पद्धति का सृजन किया है। विषय-विवेचन एव शैली-सौष्ठव की दृष्टि से यह ग्रथ इतना अधिक लोकप्रिय और उपयोगी बना कि इसके छठे सस्करण को प्रकाशित करने का हमे सुअवसर मिला है। भाषातत्त्ववेत्ताओ ने इस पुस्तक को हिन्दी मे भाषाविज्ञानविषयक पिछली प्रकाशित पुस्तको की पाँत मे सर्वोच्च स्थान दिया है। आशा है भाषाविज्ञान के विद्यार्थियो के लिए यह ग्रथ इस क्षेत्र का प्रवेश-द्वार सिद्ध होगा।

सहायक मत्री





प्रथम संस्करण की भूमिका

क्यों ?

भाषाविज्ञान पर हिन्दी मे तीन-चार पुस्तके पहले से मौजूद है। तब भी कागज की इस महगाई के समय भी नई पुस्तक क्यो निकाली जा रही है, इसका उत्तर मुख्य रूप से साख्य-तत्वो मे से वही तत्व है जो महत् और पचतन्मात्राओ के बीच मे पडता है। गौण रूप से, छोटी सी एक और वासना को अतृप्त न रखकर पुनर्जन्म के कारणो की कमी करना भी इस पुस्तक के प्रकाशन का हेतु हो सकता है। १९२१-२२ मे मै हिन्दू विश्वविद्यालय काशी मे पूज्य प्रोफेसर टर्नर के चरणो मे बैठकर भाषा-विज्ञान का अध्ययन करता था। श्री बाबू श्यामसुन्दरदास जी कभी-कभी कृपा कर मेरे कमरे मे आकर प्रोत्साहन देते और बातचीत करते थे। जब मैं प्रयाग मे अध्यापक होकर आ गया, तो उसी परिचय के नाते १९२३ मे श्री बाबू साहब ने मुझ से भाषाविज्ञान पर हिन्दी मे पुस्तक लिख देने को कहा। मैंने सामग्री इकट्ठी कर ली और कुछ महीनो मे पुस्तक का प्रथम अध्याय लिखकर उनके अवलोकनार्थ भेजा। उन्होंने उसे पसन्द किया और आज्ञा की कि छह महीने मे पुस्तक तय्यार कर दी जाय। मेरे ऐसे अल्पज्ञ के लिए इतनी जल्दी ऐसे गहन विषय पर पुस्तक तय्यार कर पाना असभव था। इसलिए मैंने अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। हताश श्री बाबू साहब को स्वय यह काम करना पडा और कुछ ही दिनो मे "भाषाविज्ञान" नाम की उनकी पुस्तक प्रकाशित हो गई। दिग्गज और अल्पज्ञ्यनी सामान्य जन की क्षमता मे इतना अन्तर होता है! मैंने जो भाग लिखा था वह जबलपुर से निकलने वाली 'श्री शारदा' मे छपा दिया, और आगे कुछ न लिखा। पर वासना अन्त करण मे बनी रही।

ईश्वर को धन्यवाद है कि उसने यह काम उस समय रुकवा दिया। इस बीस साल के अन्तर मे, मैंने विषय का थोडा बहुत अनुशीलन, परिशीलन कर लिया है, अध्यापन भी यथेष्ट कर चुका हूँ। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक अधिक आत्म-विश्वास से उपस्थित कर सका हूँ। आशा है कि यह कम दोष-पूर्ण होगी। इसमे मैं कोई बात मौलिक दे सका हूँ, यह नही कह सकता। विषय का दर्शन मैंने अगरेजी चश्मे से किया है। दृष्टि वैसे ही कमजोर है। पर भारतीय परिशीलन की ओर भक्ति अधिक दृढ होती जा रही है।

यह पुस्तक सामान्य पाठक का विचार म रखकर लिखी गई है और विषय के प्रारम्भिक विद्यार्थियो को। इसीलिए शैली को थोडा कम नीरस बनाने का उद्योग किया है। 'बालाना सुखबोधाय' वाला ध्येय है।

इस विषय का ज्ञान मैंने कई गुरुजो की उपासना से और अगरेजी और फ्रेंच पुस्तका के अध्ययन से प्राप्त किया है। यह सारी सामग्री प्राय विदेशी थी। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक मे, पाठको को वतमान पच्छिमी अनुसन्धान का पूर्ण प्रतिबिम्ब और गन्ध मिले तो अचरज नही। जिन पुस्तको से सहायता ली है, उनके नाम ग्रन्थ-सूची मे मिलेगे। मैं उन लेखको का कृतज्ञ हूँ। विशेष रूप मे सर्वश्री टनर, चटर्जी, तारापुरवाला, ओझा, वान्द्रियाज, जेस्पसन, टकर, ग्रैफ का चिर ऋणी रहूँगा। इनकी पुस्तको की छाया और उद्धरण जहा-तहाँ मिलेगे। पुस्तक सामान्य पाठक के लिए लिखी है, इसलिए जगह-जगह कृतज्ञता-स्वरूप उल्लेख नही किया गया।

पुस्तक का चौथाई अश लैन्सडाउन मे १९४१ की गर्मी की छुट्टियो मे, दूसरा चौथाई १९४२ के ग्रीष्मावकाश मे रामगढ (नैनीताल) मे और शेष भाग पिछले छ महीनो मे यहाँ प्रयाग मे लिखा गया है। इन तीनो स्थानो पर जिन देवता और देवियो के प्रेमपूर्ण आश्रय मे यह काम हुआ है उनके प्रति मैं अपनी विनम्र स्नेहपूर्ण कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। पुस्तक प्रकाशन मे मित्रवर धीरेन्द्र वर्मा जी और माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन जी ने कृपापूर्वक प्रोत्साहन दिया है और यदि वे आग्रह न करते तो शायद अभी दो-एक साल और यह काम पडा रहता। उन दोनो का मैं आभारी हूँ।

छपाई म सम्मेलन के वतमान साहित्य मत्री मेरे मित्र श्री रामचन्द्र टण्डन ने तथा हिन्दी साहित्य प्रेस के कमचारियो ने पूरी मदद और सहयोग प्रदान किया है। उनका भी आभार मानता हूँ। छपते समय मेरे तत्कालीन अज्ञान या असावधान से जो गलतियाँ रह गई है उनका प्रायश्चित्त 'समाधान' मे कर दिया गया है। पाठक पढने के पूर्व उसका अवलोकन करने की कृपा करे। यदि और कही भूले या अपूर्णताएँ रह गई हो तो उनकी सूचना मिलने पर वे अगले सस्करण म कृतज्ञतापूर्वक ठीक-ठाक कर दी जाएँगी।

अपने पाठक की सीमाओ का विचार कर, नितान्त आवश्यक ही नए लिपि-चिह्न इस पुस्तक मे रक्खे गए है। वर्णो के नीचे की बिन्दी (यथा ज़ ख़) सामान्य से कुछ विभिन्न ध्वनि का सकेत करती है। वर्ण के नीचे का गोलाकार चिह्न (म॒, न॒)

स्वरत्व को और तारा-चिह्न (*) शब्द के अनुमान-सिद्ध रूप को जतलाता है। भिन्न संकेत न होने पर वर्ण के ऊपर ˘ चिह्न उसके ह्रस्वत्व की सूचना देता है। ऍ ऑ की मात्राएँ ॅ ॉ है।

इस पुस्तक में पाठक को *इतिहासिक, भूगोलिक* आदि कुछ शब्द अपरिचित (और अशुद्ध ?) से मिलेंगे। मेरी धारणा है कि हिन्दी को संस्कृत-व्याकरण का अनावश्यक आश्रय छोड़ देना चाहिए, इसलिए ये नए रूप समाविष्ट किए गए हैं। इसका यह मतलब नहीं कि संस्कृत से शब्द न लिए जायँ। मेरी निश्चित सम्मति है कि जहाँ हिन्दी में शब्द न हों वहाँ अरबी, फारसी, अंगरेजी आदि की अपेक्षा, संस्कृत और प्राकृतों से ही लेने चाहिए। यदि गढ़ना ही हो तो अपनी से लिया जाय। पारिभाषिक शब्द संस्कृत को ही आधार मानकर बनने चाहिए। मेरे विचारों के बारे में कुछ 'कृपालुओं' के बीच भ्रान्ति है इसलिए ये शब्द यहाँ लिख देना उचित समझा। *इतिहासिक* आदि *विकृत* (?) शब्द देखकर यदि 'पंडित वर्ग' को दुःख हो तो मेरी सनक समझकर क्षमा करने की उदारता दिखाएँ।

संसार की भाषाओं की स्थिति का दिग्दर्शन करानेवाला एक नकशा भी इस पुस्तक के साथ जा रहा है। इसका खाका विलसं ग्रैफ की पुस्तक से लिया गया है।

संसार पर घोर संकट है और अपने देश पर विपद। दासता की कटुता का नंगा चित्र इधर पूरे रूप में सामने आया है। जो महापुरुष संसार का आदर्श बता रहे हैं, सत्य, अहिंसा और सुख का मार्ग दिखा रहे हैं और हमारे प्राणों के भी प्राण हैं उनके जीवन को संकट में देखकर हम लोग विह्वल हो गए थे। कौन भारतीय विशेषकर राष्ट्रीय भावनाओंवाला, ऐसा होगा जिसके अन्तस्तल में इन महापुरुष ने वीरता और स्वातन्त्र्य-प्रेम का प्रकाश न पहुँचाया हो। ईश्वर को कोटिशः धन्यवाद है कि आज वह घोर तपस्या में उत्तीर्ण हुए हैं और उज्ज्वलतर निखर हैं। ईश्वर उन्हें चिरायु करे। इस पुस्तक का सौभाग्य है कि वह आज ऐसी पुण्य तिथि पर प्रकाश में आ रही है।

२४ चैथम लाइन
प्रयाग
पुण्य तिथि, ३-३-१९४३

—बाबूराम सक्सेना

छठा संस्करण

इस बार नई सामग्री जोड़कर भाषाविज्ञान के अध्ययन की नई प्रवृत्तियों को भी समाविष्ट कर लेने का प्रयत्न किया गया है। संशोधन और सामग्री-संकलन में इस मर्तबा श्री विद्यानिवास मिश्र और श्री रमेशचन्द्र मेहरोत्रा ने बड़ी मदद की, इसके लिए मैं इन दोनों का आभार मानता हूँ। इसके पूर्व के संस्करणों में श्री रमानाथ सहाय श्रीवास्तव तथा श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी ने सहायता पहुँचाई थी। उनकी सेवा भी स्मरणीय है। वर्तमान संस्करण के प्रूफ संशोधन का कार्यभार डा० उदयनारायण तिवारी ने लिया था। उनका भी कृतज्ञ हूँ। (शुभम्)

२४-४-६१ —बाबूराम सक्सेना

विषय-सूची

प्रथम खंड

अभिव्यक्ति के तीन स्तर है, वाक्य रूप और ध्वनिग्राम (१९)-वाक्य विचार की पूर्णता की इकाई है (१९), रूप छोटी से छोटी अर्थवान इकाई है (२०), और ध्वनिग्राम किसी भाषा-विशेषण उक्ति की वह अंतिम इकाई है जिसके बाद विश्लेषण करना उस भाषा की दृष्टि से निष्प्रयोजन है (२०-२१)।

पाँचवाँ अध्याय—संघटनात्मक भाषा-विज्ञान सम्प्रदाय पृ० २२—२४

इस सम्प्रदाय की मान्यताएँ (२२)—भाषा का बोला जाने वाला रूप ही उसका वास्तविक रूप है (२२), भाषा के अवयव एक-दूसरे से असलग्न या असंबद्ध नहीं हो सकते (२२-२३), भाषा के संबंध में जन्मजात रुचि-अरुचि का कोई प्रश्न नहीं उठता (२३), भाषा का शुद्ध-अशुद्ध, कोमल-परुष आदि कहना ठीक नहीं (२३), एक भाषा का दूसरी भाषा में यथार्थ अनुवाद नहीं किया जा सकता (२३)। संघटनात्मक भाषाविज्ञान का प्रसार (२४)।

छठा अध्याय—भाषा का उद्गम पृ० २५—३१

धर्म ग्रन्थों के अनुसार भाषा ईश्वर-प्रदत्त है (२५) या धर्मग्रन्थीय भाषा ही मूल तथा आदि भाषा है (२५-२६) परन्तु विकासवाद माननेवालों के इस समस्या के विविध हल (२७)—(क) आपस के समझौते से भाषा बनी, पर भाषा की अनुपस्थिति में कैसा वादविवाद या समझौता? (२७), (ख) पशुपक्षियों तथा सृष्टि के अन्य पदार्थों से भाषा सीखी गई, पर अनुकरणात्मक और अनुरणनात्मक शब्द बहुत थोड़े है तथा मनुष्य के पास भी भाषा जानने की शक्ति नहीं होगी (२७-२८), (ग) मन के भावों और आवेशों की व्यक्तकारी ध्वनियों से भाषा की सृष्टि, पर विस्मयादि-बोधक अव्यय बहुत कम तथा भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न है (२८-२९)। यह अल्पज्ञानी मनुष्य के लिए जटिल समस्या है पर वह है प्रयत्नशील (३०), वस्तुतः भाषा तथा विचार का अटूट सम्बन्ध है और विचार का आविर्भाव मनुष्य-समाज के विकास की समस्या के साथ उलझा हुआ है (३०-३१)।

सातवाँ अध्याय—भाषाविज्ञान तथा अन्य विज्ञान ३२—४१

भाषा का विचार के बाह्य स्वरूप होने के नाते विचारात्मक ज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध (३२)। भाषाविज्ञान का सम्बन्ध—मनोविज्ञान से (३२), तर्कशास्त्र से (३२-३३), समाजशास्त्र से (३३-३४), शरीरविज्ञान से (३४), भूत-विज्ञान से (३४-३५), इतिहास से (३५-३६), भूगोल से (३६), नृ-तत्वज्ञान से (३६) वाङ्मय से (३६-३७) तथा व्याकरण से (३७)। भाषा वाक्यों का समूह है (३८)।

सोलहवाँ अध्याय—ध्वनि-विकास पृ० १०८—११७

ध्वनिविकास के मूल मे प्रयत्न-लाघव ही है (१०८) पर ध्वनि उच्चारण की सरलता या कठिनाई का निर्णय करना मुश्किल है (१०८-१०९), यह ध्वनि-विकास बहुत ही धीरे व अनजान मे होता है (१०९) और एक सुसगठित मनुष्य-समुदाय मे सर्वत्र व्यापक होता है (११०)। यह विकास वाक्य या शब्द मे ध्वनि की परिस्थिति ही पर निर्भर है (११०-१११) और प्रारम्भ होने पर निश्चित दिशा की ओर ही बढता रहता है (१११) अतएव इसके नियम निर्धारित किये जाते हैं (१११-११२), पर ये नियम, न तो भविष्य मे होने वाले विकास के नियामक है (११२-११३) और न भूतविज्ञान के नियमो की तरह अटल (११३)। ध्वनिविकास के कुछ उदाहरण—(क) नई ध्वनि का आगम (११३), (ख) समानध्वन्यात्मक पर भिन्नार्थबोधक शब्दो की उत्पत्ति (११३-११४), (ग) सन्धि आदि के कारण अस्थान ध्वनि विकार (११५), (घ) पूर्ववर्ती अथवा विदेशी भाषाओ के अज्ञानवश अस्थान गलत प्रयोग (११५-११६) और (ङ) विनोदजन्य तथा कवि-सृष्टि शब्द रूपो का आगम (११६-११७)।

सत्रहवाँ अध्याय—पदरचना पृ० ११८—१२४

ध्वनियो का अर्थ-व्यजकता की सुविधा के अनुसार विभाजन-शब्द या पद (११८), वाक्य की प्रतिमा का मस्तिष्क मे होना व उच्चारण (११८)। वाक्य के पदो का मस्तिष्क द्वारा ग्रहण समष्टि रूप से होता है पर कुछ ध्वनिया अर्थ-तत्व की और कुछ परस्परा सम्बन्ध की बोधक होती हैं (११९)। प्रत्येक भाषा की अपनी स्वय की विचार को व्यक्त करने की धारा है (११९) और यह सम्बन्धतत्वो को प्रगट करने के ढग मे मालूम होती है (१२०)। सम्बन्धतत्व को व्यक्त करने के ढग—(क) सम्बन्ध-तत्व का अलग शब्द ही होना (१२०), (ख) सम्बन्धतत्व का अर्थतत्त्व मे जुडकर उसी का अग हो जाना (१२०), (ग) अर्थतत्व की ध्वनियो मे कुछ परिवर्तन कर देना (१२१) (घ) अर्थतत्त्व की ध्वनियो मे ध्वनिगुण का भेद कर देना (१२१), (ङ) अर्थ-तत्व को अविकल छोड देना (१२१) (च) अर्थतत्त्व का वाक्याश मे विशेष स्थान पर ही रखना (१२१-१२२)। प्रत्येक भाषा उपरि-लिखित उपायो मे से एक या अनेक उपायो को ग्रहण करती है। (१२२)। पद या शब्द का प्राचीन (१२२-१२४) तथा अर्वाचीन (१२३-१२४) लक्षण। ध्वन्यात्मक तथा व्याकरणात्मक शब्द (१२४)।

अठारहवाँ अध्याय—रूप विज्ञान पृ० १२५—१३०

रूप ध्वनिग्राम और अर्थ को जोडनेवाली कडी है (१२५)। रूप अभिव्यक्ति के स्तर पर छोटी से छोटी अर्थवती इकाई है (१२५)। क्या रूप का ध्वनिग्राममय होना जरूरी है? (१२५-१२६) रूप परस्पर सबवाध और पूरक वितरण रखने वाले आकारो के समूह का प्रतिनिधित्व करता है (१२७)। ध्वनिग्रामीय कारण से एक रूप के व्यष्टि-रूपो म परस्पर भेद पडना सधि कहलाता है (१२८) और अन्य कारण से व्यष्टि-रूपा मे भेद पडना रूपात्मक कारणजन्य व्यष्टि-भेद कहलाता है (१२८)। रूप का वर्गीकरण क्रम के—विन्यास के—और उसके बद्ध या मुक्त स्वभाव के—आधारो पर किया जाना है (१२९)। रूप का महत्व पद के भीतरी उपादान तत्वो के परस्पर सबध की दृष्टि से है और पद का महत्व वाक्य की दृष्टि से है (१२९-१३०)।

उन्नीसवाँ अध्याय—सधि पृ० १३१—१३४

सधि के दो प्रकार—(१) पद के बाहर, वैकल्पिक (२) पद के भीतर, नित्य (१३१)। सधि के विचार से ध्वनिग्राम-विकार—अपश्रुति (१३२), स्वराघात मे परिवर्तन (१३३), बलाघात के स्तर मे परिवर्तन (१३३), आगम (१३३), लोप (१३४) और आदेश (१३४)।

बीसवाँ अध्याय—पद विकास पृ० १३५—१४९

वाक्य द्वारा उद्बोधित अर्थ का विश्लेषण प्रत्येक भाषा मे किन्ही धाराओ मे होता है और ये धाराएँ सम्बन्ध-तत्वो द्वारा निर्धारित होती है (१३५) जो कि निम्नलिखित भावो को प्राय प्रकट करते है—(क) लिग, पुल्लिग स्त्रीलिग और नपुसक लिंग, पर इनका नैसर्गिक पुरुषत्वादि से असम्बद्ध होना (१३६), अचेतन व चेतन पदार्थ (१३७), (ख) वचन—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन तथा व्यक्तिवाचक या समूहवाचक शब्द (१३८-१३९), (ग) काल—वर्तमान और उसकी सहायता से भविष्य तथा भूतकाल (१४०-१४१) (घ), प्रेरणार्थक आदि—सस्कृत के दस गुण आदि (१४१-१४२), (ङ) वाच्य—कर्तृ, कर्म और भाव (१४२-१४३), (च) पद—परस्मैपद और आत्मनेपद (१४३), (छ) वृत्ति (१४४), (ज) विभक्ति—प्रथमादि और हिन्दी मे विकारी तथा अविकारी (१४४-१४५), परसर्ग (१४५) (झ) कारक (१४६), ये धाराएँ न तो नैसर्गिक है न किन्ही तार्किक सिद्धान्तो पर निर्भर (१४६)। न अटल (१४७) और न सब

दूसरा खड

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

भाषा

भाषा शब्द का प्रयोग कभी व्यापक अर्थ में होता है तो कभी संकुचित। मूक भाषा, पशुपक्षियों की भाषा अथवा संस्कृत ग्रंथों के टीकाकारों द्वारा *इति भाषायाम्* द्वारा अभिप्रेत भाषा में सर्वत्र एक ही भाव छिपा हुआ है—वह साधन जिसके द्वारा एक प्राणी दूसरे प्राणी पर अपने विचार, भाव या इच्छा प्रकट करता है। बेकार की डाँट खाकर शिशु जब माँ की ओर टुकुर-टुकुर निहारता है और कुछ बोलता नहीं, तब क्या माँ उस बच्चे के अंतस्तल की बात नहीं समझ पाती? अथवा जब भिखारी विमुख होकर द्वार पर से लौटने लगता है तब उसकी आकृति से जो भाव प्रकट होता है वह किस सहृदय से छिपा रहता है? इसी प्रकार यदि कोई गूँगा मुँह के पास हाथ ले जाकर चुल्लू बनाता है अथवा पेट पर हाथ फेरता है, तो देखने वाले को उसकी प्यास या भूख का अन्दाज हो ही जाता है। पेड़ की सघन छाया में बैठे हुए पक्षियों में से यदि किसी को दूर से आती हुई बिल्ली दिखाई दे जाय तो उस पक्षी के शब्द करते ही उसके सारे साथी तुरंत उड़ कर पेड़ पर क्यों बैठ जाते, यदि उनको उस शब्द द्वारा भय की सूचना न मिलती? बछड़े के *अम्मा* शब्द में वह शक्ति है कि कहीं अन्यत्र बँधी हुई भी उसकी माँ चारा खाना छोड़ कर विकल हो उठती है। इन सभी उदाहरणों से इतना स्पष्ट है कि एक प्राणी अपने किसी अवयव द्वारा दूसरे प्राणी पर जो कुछ व्यक्त कर देता है—वही विस्तृत अर्थ में भाषा है। इसे सर्व-साधारण भाषा कहते हैं।

कवि की प्रतिभा इससे भी वृहत्तर अर्थ मे भाषा समझ सकती है उस अप्राणी भी परस्पर भाव व्यक्त करते हुए दिखाई देते है। तुलसीदास जी ने वर्षाकाल मे ताल-तलइयो के परस्पर स्नेह का जो आदान-प्रदान देखा वह साधारण जन की बुद्धि नही देख सकी थी। सुमित्रानन्दन पन्त को उदधि का गान सुनाइ पडा। महादेवी वर्मा का 'सुमन' तो

स्वप्नलोक की मधुर कहानी
कहता सुनना अपने आप।

और उनकी प्रतिभा को

नीरव तारो से,
बोली किरणो की अलके,

ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है। पर सामान्य मनुष्य की समझ मे यह सब, अचेतन ससार का व्यापार, नही आता और इसीलिए वह भाषा शब्द का इतना व्यापक अर्थ नही करता।

भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए भाषा का और भी सकुचित अर्थ लिया जाता है। सामान्य रूप से हम कह सकते है कि यदि किसी मौखिक या अन्य क्रिया के दुहराने से कोई अभिप्राय प्रकट होता है तो वहाँ भाषा मौजूद है। इसलिए पशुओ या पक्षियो की ऐसी आवाजे जिनको दुहरा कर दूसरे पशु-पक्षी शृगार या भय या चेतावनी की अभिव्यक्ति कर सके, भाषा के अन्तर्गत है। एक तो अन्य प्राणियो को छोडकर हम अपना ध्येय मनुष्य की भाषा तक सीमित रखते है, दूसरे, मनुष्य द्वारा प्रयुक्त अन्य अवयवो का त्याग कर केवल वाणी को ही अवलम्बन मानते है। बच्चे अथवा भिखारी की मूक भाषा का अथवा इगित भाषा का यहाँ कोई स्थान नही। इसके अतिरिक्त, मनुष्य की वाणी द्वारा व्यक्त सभी ध्वनियो का भी इस वैज्ञानिक अध्ययन मे प्रयोजन नही—न हमे अट्टहास से काम, न रोदन से और न घोडे को चलने के लिए प्रेरित करने के ट्‌ ट्‌ ट्‌ ट्‌ शब्द अथवा किसी की विपत्ति मे सहानुभूति और करुणा सूचक च्‌ च्‌ च्‌ च्‌ शब्द से। हमे तो काम है वाणी द्वारा प्रयुक्त ऐसी ध्वनियो से जो अध्ययन द्वारा

विश्लेषण मे आ सके और जिनके इधर-उधर के हेर-फेर से अन्य शब्द बन सके। हमे प्रयोजन है ऐसी ध्वनियो से जिनके द्वारा एक मनुष्य अन्य मनुष्य पर अपने विचार प्रकट कर सके। यह व्यापार मनुष्यो तक ही परिमित है——इसमे अन्य प्राणी के प्रवेश की गुजाइश नही। कथा-कहानियो के वे अश जिनमे मनुष्य और अन्य प्राणियो के सवाद अकित है विज्ञान की दृष्टि से कवि की कल्पना की श्रेणी मे आते है और यदि किसी की श्रद्धा इतना स्वीकार नही करती तो भी इस अध्ययन को प्रारम्भ करने के पूर्व उसे इतना मानकर ही चलना होगा कि उस प्रकार के सवाद आदि हमारे क्षेत्र से परे है।

विज्ञान

दर्शनकारो ने जीवात्मा के लक्षणो मे *ज्ञान* को मुख्य माना है। प्रत्येक चेतन पदार्थ मे ज्ञान की कोई न कोई मात्रा अवश्य रहती है। यह ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक तो नैसर्गिक (स्वत सिद्ध) दूसरा बुद्धिग्राह्य। *स्वत सिद्ध ज्ञान* की मात्रा पशुपक्षियो मे अधिक रहती है और दूसरे की मनुष्य मे। गाय का बछडा स्वभाव से ही आग की ज्वाला के पास नही फटकता पर मनुष्य का बच्चा आग पकड लेता है और बुद्धि से सीख कर ही उससे बचा करता है। कुत्ते की, पानी मे तैरने की शक्ति स्वत सिद्ध है, आदमी के बच्चे को कठिन प्रयत्न करने पर प्राप्त होती है।

बुद्धिग्राह्य ज्ञान को प्राय दो विभागो मे विभाजित करते है—विज्ञान और कला मे। *विज्ञान* विशिष्ट ज्ञान है जिसमे विप्रतिपत्ति और विकल्प की गुजाइश नही और इसके तत्त्व सर्वत्र व्यापक है। दो और दो मिलकर चार सब कही होते है, ऐसा नही कि गरीबो के यहाँ तीन और अमीरो के यहाँ चार या पाँच। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षणशक्ति व्यापक है, ऐसा नही कि न्यूटन के देश मे उसका एक अर्थ हो और कपिल ऋषि के देश मे दूसरा। ये विज्ञान के मूल तत्त्वो के उदाहरण है। *कला* वाला ज्ञान सीमित और विकल्पात्मक होता है। बगाली

चित्रकार दूर तक लम्बी चली जाने वाली उगलियो से स्त्री के सौन्दय को अकित करता है, पर रविवर्मा के चित्रो की साधारण नाप की उगलियो को भी हम असुन्दर नही समझते। रीतिकाल की, भरपूर अलकारो मे लदी हुई कविता भी काव्य की श्रेणी मे आती है और साथ ही छायावाद के नीरव अल्कारो से सुशोभित अनन्त की ओर की उडान भी सुन्दर और मनोहारिणी कविता है। दोनो प्रकार का ज्ञान कला के अतर्गत है। एक ओर मणिपुर और गुजरात का नृत्य है और दूसरी ओर रूस का, एक ओर भारतीय सगीत तो दूसरी ओर अँगरेजी। कला के अतर्गत ये सभी है पर भारतीय सगीत जो माधुर्य एक भारतीय के समुख उपस्थित कर हृत्तन्त्री को झकृत कर देता है, चाहे वह शब्द एक भी न समझे, उतने अश मे अँगरेजी सगीत नही। इसी प्रकार अँगरेजी नागरिक की भावना अपने सगीत के पक्ष मे और हमारे सगीत के विपक्ष मे होती है। कला का यही विकल्प है, यही उसकी विप्रतिपत्ति है। कला का जितना अश मनुष्यमात्र पर व्यापक है वह विज्ञान का है—कला का स्वकीय नही।

विज्ञान और कला का एक और गौण अतर है—विज्ञान का ध्येय शुद्ध ज्ञान है और कला का व्यवहार-ज्ञान, मनोरजन और उपयोग। काव्यकला से हमारा मनोरजन होता है, और उसका इसके अलावा भी उपयोग है। पर पृथ्वी घूमती है या सूर्य, हम क्यो बोलते है, सभी मनुष्य एक ही भाषा क्यो नही बोलते, इत्यादि प्रश्नो का समाधान हमारी ज्ञान की प्यास को ही अधिक बुझाता है, उपयोग की श्रेणी मे प्राय कम आता है।

कला का प्रतिपादन शास्त्र करता है। उसका ध्येय साधारण व्यवहार होता है और उसमे काल और देश के अनुसार विकल्प होते रहते है। ऐसा समझना कि एक देश और काल का शास्त्र सब देशो और कालो के लिए स्थिर सत्ता रखता 'है, मनुष्य की बुद्धि की अवहेलना करना है।

कोई भी ज्ञान, विज्ञान की श्रेणी मे स्थान पाने के पूर्व वाद की

अवस्था मे रहता है। जब उसकी अपवादरहित सत्ता स्थिर हो जाती है तब उसको विज्ञान कहते है।

उन्नीसवी सदी के विद्वानो मे, भाषा के तत्त्वो का अध्ययन विज्ञान की कोटि मे आता है अथवा शास्त्र या वाद की कोटि मे—इस विषय को लेकर बहुत वादविवाद चलता रहा। पर अब इतना स्थिर है कि भाषा-विषयक जिन मूल तत्त्वो को मनुष्य की बुद्धि ने पकड लिया है वे इस अध्ययन को विज्ञान की श्रेणी मे स्थान पाने का अधिकारी बनाते है। इसीलिए इस अध्ययन का नाम भाषाविज्ञान उपयुक्त है, भाषाशास्त्र नही।

प्रस्तुत पुस्तक मे भाषाविज्ञान-सबधी सामान्य सिद्धान्तो की विवेचना करना ही अभिप्रेत है, किसी विशिष्ट भाषा के तत्त्वो की विवेचना नही।

दूसरा अध्याय

भाषा

मनुष्य तरह-तरह की भाषाएँ बोलते है, कोई हिन्दी, कोई मराठी, कोई गुजराती, कोई बगाली, तो कोई अँगरेजी, जर्मन, तुर्की, चीनी, जापानी आदि। यदि और भेद की दृष्टि से देखा जाय तो एक भाषा के अतर्गत ही मनुष्य कई तरह की बोलियाँ बोलते है, हिन्दी वाले ही कोई अवधी, कोई ब्रज, कोई खडी बोली आदि। और इन बोलियो के भीतर भी बहुत से भेद है। परन्तु इन सब की तह म एक एकत्व है---मनुष्य के विचारो, भावो और इच्छाओ को प्रकट करना।

जिन ध्वनिचिह्नो द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है उनकी समष्टि को *भाषा* कहते है। भाषा के इस लक्षण मे विचार के अतर्गत भाव और इच्छा भी है। विशेषकर असभ्य जातियो की भाषा में अधिकतर भाव इच्छाएँ, प्रवृत्तियाँ आदि ही द्योतित होती है, विचारो की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है। बोलते समय हमारे विचारो की पूर्ण अभिव्यक्ति ध्वनिचिह्नो ही से नही होती। उनकी मदद के लिए हम इगित का भी प्रयोग करते है। उस समय मुखाकृति, आँखो का भाव और हाथ के हिलने-डुलने से हमारे भाव को समझने मे दूसरे को सहायता मिलती है। सभी भाषा मे इगित का कोई न कोई अग मौजूद रहता है, प्राय उसी तरह जैसे पैरो के चलने के समय मनुष्य के हाथो का हिलना। यह और बात है कि कोई इगित की मात्रा का कम इस्तेमाल करते है कोई ज्यादा। व्याख्यानाओ मे कोई मेज पर हाथ पटकता है, कोई चुटकी बजाता है, तो कोई हाथ पॉव और आँखे नचाता है। इगित और मुखराग से, बोले हुए शब्दो का अर्थ निश्चित ही नही होता, परिपुष्ट भी होता है। साहित्य मे काकु की विशेष महिमा बताई

गई है। भाव के व्यक्तीकरण मे इगित का महत्त्व विशेष रहता है, जो बात शब्द से नही प्रकट होती वह इगित से हो जाती है, और परस्पर विरोध होने पर इसके द्वारा जताया हुआ भाव ही विजयी होता है। इगित की मदद न पाकर वाणी, भाव के व्यक्तीकरण मे बहुत अपूर्ण रह जाती है। सभ्य समाज की ऐसी शिक्षा होती है कि भाषण करते समय इगित और मुखराग को दूर रक्खा जाय। इस शिक्षा के फलस्वरूप मात्रा कम हो जाती है, पर मिटती नही।

किसी-किसी जाति मे भाषा के अलावा इगित-भाषा भी मिलती है जिसका वे लोग विशेष समय पर उपयोग करते है। अमरीका के पश्चिमी प्रदेशो मे इण्डियन जातियो मे ऐसी इगित भाषा देखी गई है। ऐसा जान पडता है कि इस तरह की भाषा का विकास सामान्य इगितो मे ही हुआ है और शायद वाणी के सहारे से ही यह उठ खडी हुई है। आस्ट्रेलिया के कुछ आदिम जन-गणो को रात को बातचीत करते समय आग का सहारा लेना पडता है, नही तो भाषा इगितो के न देख पाने से समझ ही मे न आए। कुछ भाषाओ मे पुरुषवाचक सर्वनामो का बोध केवल इगितो से होता है।

ध्वनिचिह्नो के अतिरिक्त अन्य चिह्न भी है जिनके द्वारा हम अपने विचार परस्पर प्रकट करते है, जिनमे प्रधान है लेखबद्ध अक्षर। आजकल प्राय लेख द्वारा ही देश-देशातर से विचार-विनिमय होता है। ध्वनि का क्षेत्र सीमित है, लेख का अपेक्षाकृत अपरिमित। वाणी के इस रूप के द्वारा ही उसकी स्थिरता और विस्तार सभव हुआ। वाल्मीकि की बात हम आज भी सुन सकते है और भारत मे बैठे-बैठे शेक्सपियर के ड्रामे देख सकते है। पर यह चक्षुग्राह्य अक्षर ध्वनि पर ही निर्भर है, इसलिए भाषा की दृष्टि से ध्वनिचिह्नो की अपेक्षा इनकी नेत्रग्राह्य सत्ता गौण है। और इनसे भी गौण सत्ता है स्पर्शग्राह्य अक्षरो की जो अधो के उपकारार्थ तय्यार की गई किताबो मे इस्तेमाल मे आते है। स्काउट लोग झडियो द्वारा जो सदेश भेजते है उनमे प्रयुक्त अक्षरो की भी बहुत गौण सत्ता है। और इसी प्रकार तार द्वारा टिक-टिक करके

जो संदेश भेजे जाते हैं उनकी भी। हाँ टेलीफोन द्वारा जो ध्वनिचिह्न एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं उनकी सत्ता प्रायः वही है जो भाषा के ध्वनिचिह्नों की। इस प्रकार भाषा का अभिप्राय, विचारों का व्यक्तीकरण, प्रमुख रूप से श्रोत्रग्राह्य ध्वनिचिह्नों से सिद्ध होता है और गौण रूप से दर्शन, संकेत अथवा स्पर्श द्वारा ग्राह्य लेख, छपाई, स्काउट-चिह्न आदि से। गौण रूप में प्रयुक्त ये चिह्न विभिन्न मनुष्य-समुदायों ने अपने-अपने लिए बना रक्खे हैं और इनके मूल्य वे हैं विशेष समुदाय के व्यक्तियों की स्वीकारी। एक समुदाय अ द्वारा व्यक्त की हुई ध्वनि को অ (बंगाली अ) से व्यक्त करता है तो दूसरा किसी अन्य से। इन समुदायों का अस्तित्व आवश्यकता के अनुसार विस्तृत और संकुचित भी किया जा सकता है। इस प्रकार कोड (गुप्त) भाषाओं और लिपियों की सृष्टि होती है। एक मित्र-समुदाय का कोड यह था—

अहिफन कमठ चक्र टङ्कारा।
तरुवर पवन युवा सुस्कारा॥
अँगुलिन अच्छर चुटकिन मात्रा।
कह हनुमन्त सुनहु सौमित्रा॥

और इस कोड की भाषा में जिसे दीक्षित कर लिया जाता था उस पर भी मन एहसान का बोझ लाद कर अभिन्न मित्र बना लिया जाता था।[1] रहस्यमयी भाषा बोलने की उत्सुकता शायद मनुष्य में स्वभाव से ही है। बच्चे जब उल्टे वर्णों की भाषा (*तुम क्या कर रहे हो* को *मुत इका रक हरे ओह*) सीख लेते हैं तब अपना कौशल दिखाने के लिए मित्रों में ही

---

१ इस कोड की कुंजी यह है। फणाकार हाथ दिखाकर स्वर, कमलाकार से कवर्ग, पहिए के आकार से चवर्ग, हाथ से टङ्कार ध्वनि करने से टवर्ग, हाथ को तना हुआ तरु बनाने से तवर्ग और उससे हवा करने से पवर्ग का बोध होता है। मूछों पर हाथ फेरने से अन्तस्थ वर्ण और मुँह से सुस्कार ध्वनि निकालने से ऊष्म वर्णों का व्यक्तीकरण होता है। एक उंगली दिखाने से प्रथम और दो से द्वितीय, इस तरह से वर्णों का अलग-अलग, और एक बार चुटकी बजाने से ह्रस्व और दो बार से दीर्घ मात्रा का बोध कराया जाता है।

इसका प्रयोग नही करने, अपने चचा, मामा आदि मे भी बोलने लगते है।

यदि वैज्ञानिक और सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो भाषा मनुष्य के केवल विचार-विनिमय का ही साधन नही है, विचार का भी साधन है। दो-तीन बरस का बच्चा जब बोलना सीख लेता है तब अकेले मे बैठा खिलौनो से खेलता हुआ वह मन की बात प्रकट करता रहता है, किसी को सुनाने के लिए नही। वयस्क मनुष्य भी भावावेश मे अकेला ही मन की बात शब्दो मे कह जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भाषा और विचार एक ही वस्तु के दो अभिन्न पहलू है। गाधी जी ने मोतीलाल जी को मरते समय राम कहने की प्रेरणा की और यद्यपि उनके मुख मे, अशक्त होने के कारण, कोई ध्वनि नही सुनाई दी तथापि उनके ओठो की आकृति मे वहाँ बैठे लोगो को प्रत्यक्ष मालूम हुआ कि मरणासन्न प्राणी राम शब्द मनसा बोल रहा है। निरतर प्रयोग करते-करते ही हम लोग ऐसी शक्ति प्राप्त कर लेते है जिससे बिना प्रत्यक्ष बोले ही विचार कर लेते है और प्रत्यक्ष कुछ बोल कर विचार कुछ कर सकते है। कर्मठ पुजारी पूजा करते समय बोलता कुछ जाता है और साथ ही साथ विचार किसी और बात का करता जाता है। अर्थ जानने वाला विचारशील भक्त भी बहुधा सध्या का मत्र कुछ बोलता है और सोचता कुछ और है। ऐसी दशाओ मे शब्द और विचार का सामजस्य नही बैठता और इससे ऐसा मालूम होता है कि विचार और शब्द मे तादात्म्य नही है। परन्तु बात ऐसी नही है। उदाहृत दशाओ मे मन में जो विचार है वही मुख्य है और उनके तादात्म्य वाले शब्द (ध्वनिचिह्न समूह) अस्तित्व मे है पर प्रकट नही हुए। उन विचारो के साथ-साथ जो ध्वनियाँ मुँह मे निकली वह अनर्गल और उन विचारो से बिल्कुल असबद्ध है। उनका उच्चारण केवल अभ्यास से किया जाता है, जिस प्रकार अर्थविहीन शब्दो का अथवा बिना समझी हुई परदेशी भाषा के शब्दो का।

भाषा विचार करने का भी साधन है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि

यदि कोई भी विचार करने बैठे तो भाषा की मदद के बिना नही कर सकते। जिसको सदेह हो वह प्रयत्न करके देख ले। साधारण रीति से हम कह सकते है कि ध्वनियाँ विचारो से उद्भावित होती है और विचार ध्वनियो से, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विद्वानो का मत है कि इन दोनो के बीच में एक माध्यम है—एक रूप या प्रतिमा। इसको चाहे ध्वनि-प्रतिमा कहे या विचार-प्रतिमा, पर यही ध्वनियो और विचार मे सबध उपस्थित करती है। किसी विचार के मन मे आने के लिए इतना जरूरी है कि विचार और यह प्रतिमा आ जायँ, मुख से बोली ध्वनियाँ चाहे आएँ चाहे नही। विचारो के साथ ही साथ यह प्रतिमाए भी बनती बिगडती रहती है। मनुष्य जब एक बार भाषा का व्यवहार सीख लेता है, तो ध्वनिचिह्न अनायास ही उसकी इच्छा के अनुकूल अपने आप विचारो के साथ निकला करते है, अपने सतत प्रयत्न से वह कभी अभ्यास से किन्ही ध्वनियो को निकाल कर तत्सबधी विचारो को मस्तिष्क मे स्थान न देकर अनर्गल ही उनको बकता है, अथवा उच्चारण को बिल्कुल दबाकर विचारो को मस्तिष्क मे रखकर काम किया करता है। इन अवस्थाओ का साधक है केवल अभ्यास।

इस प्रकार भाषा का विचार से अटूट सबध है। इसे मनुष्य अपने पूर्वजो से सीखता आया है। भाषा सीखने की सामर्थ्य मनुष्य मे स्वभाव से ही होती है और यदि उसे अनुकूल वातावरण मिल गया, तो वह उसे सीख लेता है, अन्यथा नही। जिन बच्चो को भेडिये उठा ले जाते है और किसी कारण जिनको मार कर खा नही जाते वे बडे होकर मनुष्य की भाषा नही बोल पाते। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य कोई भी भाषा माँ के पेट से सीख कर नही आता। मनुष्य ने इसे अपने समुदाय मे सीखा है और यह मनुष्य की सस्कृति की देन है, उसी प्रकार जैसे धर्म, कला आदि। केवल भाषा ऐसी है जो मनुष्य मात्र मे सर्वत्र फैली है, इस विस्तार तक धर्म या कला नही। और यह भी सभव है कि सस्कृति की सब से पुरानी चीज भाषा ही है—उसने आग के प्रयोग के पूर्व ही इसको सीखा होगा।

जिस चीज को हम दूसरो से सीखते है उसे हम ठीक वैसी ही नही सीख पाते जैसी उनकी होती है जिनसे हम सीखते है, और विशेषकर जब हम कोई चीज सहवास से ही सीखते है। बच्चा भाषा अपने पास-पडोस के मनुष्यो से अपने आप सीखता रहता है, कोई उसे सिखाने नही बैठता। पढने-लिखने की बात दूसरी है। ऐसी परिस्थिति मे यह आवश्यक नही कि किसी ध्वनि को वह ठीक उसी तरह बोले जिस तरह वह मनुष्य या मनुष्य-समुदाय बोलता है, जिससे सुनकर उसने सीखा है, और न ठीक उसी अर्थ मे। उदाहरण के लिए, *गाय* शब्द को बच्चा घर मे सुनता है और एक विशेष चलता-फिरता जानवर देखता है, जिसके प्रति उस शब्द का व्यवहार होता है। जब तक उसका अनुभव उसी गाय तक सीमित है तब तक वह उस शब्द का वही सीमित अर्थ समझता है। जैसे-जैसे उसका अनुभव बढता जाता है उसके *गाय* शब्द के अर्थ मे भी हेर-फेर होता जाता है। इसी तरह पिता जब *गाय* शब्द बोलता है और उसका पुत्र जब उसका अनुकरण करके उसी शब्द का उच्चारण करता है तब सभव है कि बच्चा ठीक उसी स्थान और उतने ही प्रयत्न से उस शब्द का उच्चारण न कर रहा हो क्योंकि ग् आदि ध्वनियाँ उच्चारण के अवयवो के कई प्रकार के सूक्ष्म परिवर्तनो से करीब-करीब एक ही तरह की, कई निकल सकती है, और इनकी पकड हमारी स्थूल श्रोत्रेन्द्रिय से नही होती।

इस सीखने के कारण ही भाषा मे विकार अथवा परिवर्तन अवश्यम्भावी है, और यही कारण उसकी अपूर्णता का है। जब हम बोलते है तब प्रतिक्षण यही अनुभव होता रहता है कि हम अपने मन की पूरी बात नही कह पा रहे है और पूर्णता लाने के लिए मुखराग, चितवन, हाथ आदि से सहारा लेते है। वाचिक भाषा की अपेक्षा लिखित भाषा तो और भी अपूर्ण है, क्योंकि जो सहायक वस्तुएँ वाचिक को प्राप्त है, उसको वे भी नही। इसी कारण लेख से कभी-कभी अनायास ही अनर्थ हो जाते है, उसमे आँख का "शील" नही मिलता।

मनुष्य की भाषा उसकी सृष्टि के आरभ से, निरन्तर गति से,

प्रवाह रूप में चली आ रही है। इस प्रवाह के आदि और अन्त का कोई पता नहीं मिलता। मनुष्य उसे सीखना चला आया है और यावज्जीवन सीखता और व्यवहार करता चला जायगा। नदी के वेग के समान उसकी भाषा का वेग अनियन्त्रित है। आज हमें भाषा की विभिन्नता मिलती है। कह नहीं सकते कि यह विभिन्नता कितनी पुरानी है। कोई निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि मनुष्य की सृष्टि या विकास पृथ्वी के किसी एक विशिष्ट स्थान में हुआ है या अलग-अलग स्थानों पर। किसी भी अवस्था में भाषा की विभिन्नता समय और देश के अनुसार भाषा के स्वभाव से ही अवश्यम्भावी थी। प्रत्येक भाषा के पीछे उसका इतिहास है जिसका अनुमान हम उसके वर्तमान स्वरूप से लगा सकते हैं। उसके भविष्य का भी थोड़ा बहुत अनुमान शायद कर सके।

भाषा के बारे में हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिन ध्वनियों से किसी विशेष जीव या वस्तु का बोध होता है, उनका उस जीव या वस्तु से कोई नियत स्वाभाविक संबंध नहीं, केवल सामयिक व्यवहार का संबंध है। यदि कोई नियत स्वाभाविक संबंध होता तो प्रत्येक काल और देश में *गाय* और *कमल* का वही अर्थ होता जो हम हिन्दी वाले समझते हैं। तब न भाषा में परिवर्तन होता और न विभिन्नता ही आ पाती। जब हम यह कहते हैं कि शब्द (ध्वनि-समूह) और अर्थ का नित्य और अटूट संबंध है तब इस कथन से केवल इतना प्रयोजन है कि प्रत्येक शब्द का कुछ-न-कुछ अर्थ है, चाहे यहाँ चाहे अन्यत्र, चाहे आज कल चाहे किसी और समय में। सम्भव है कि बहुतेरे ऐसे शब्द जिनको आज मनुष्य-समुदाय निरर्थक समझता है, किसी समय सार्थक रहे हों, या भविष्य में सार्थक हो सकें। अल्पज्ञानी होने के कारण हम उनका बोध नहीं है।

मनुष्य ध्वनि-संकेतों का अनायास ही व्यवहार करता रहता है और कभी उनका विश्लेषण करने नहीं बैठता, परन्तु ये ध्वनियाँ विश्लेषण-सह्य हैं। विधाता की इस सृष्टि में इन ध्वनियों की संख्या अनन्त है

और प्रत्येक जन-समुदाय केवल एक थोडी सी संख्या का प्रयोग करता है। ध्वनियो का विश्लेषण सर्वप्रथम वैयाकरणो ने किया। श्रुति के अनुसार इन्द्र ने 'वाणी' को दो हिस्सो मे विभक्त किया था। भाषा के विश्लेषण का यह प्रथम उल्लेख है।

भाषा के द्योतक हमारे पुराने शब्द *वाक्* और *वाणी* है जिनमे बोलने का अर्थ निहित है। *वाक्* का दूसरा अर्थ *जिह्वा* का भी होता है। जिह्वा बोलने मे प्रमुख भाग लेती है, इसीलिए बहुधा अन्य भाषाओ में भी जिह्वा और भाषा के लिए समान शब्द है। फारसी का जबान, अँगरेज़ी का टग, फ्रेंच का *लाग, लॉगाज*, लैटिन का *लिगुआ* और ग्रीक का *लइग्नेइन* जो भाषा के अर्थ मे प्रयोग मे आते है, सभी के मूल मे जिह्वा का अर्थ है। अंग्रेजी का *स्पीच*, जर्मन *श्प्राखे* और अरबी *लिबसान* प्राय उसी अर्थ के द्योतक है जिसका कि हमारा शब्द *भाषा*।

तीसरा अध्याय

भाषा का संघटन

सघटनात्मक भाषा-विज्ञान के मनीषियो ने भाषा की परिभाषा इस प्रकार की है—"भाषा यादृच्छिक वाचिक प्रतीको की वह सघटना है, जिसके माध्यम से एक मानव समुदाय परस्पर व्यवहार करता है।" इस परिभाषा के चार अश है।

पहला तो यह, भाषा एक सघटना है अर्थात् ऐसी सुव्यवस्थित योजना है जिसमे प्रत्येक अवयव के बाद आनेवाले औरो की सख्या एव प्रकार की मर्यादा सुनिश्चित है। हम जब सस्कृत भाषा के सघटन का विचार करते है तो यह निश्चित रूप से कह सकते है कि किसी भी सस्कृत-शब्द के आदि मे ण् या ङ नही आ सकता, या जब हम हिन्दी द्वारा सघटन की बात सोचते है तो भली भाँति जानते है कि अकर्मक क्रिया के पहले सामान्य भूतकाल के द्योतन मे कर्त्ता के बाद "ने" नही आयेगा। इस प्रकार चूँकि आदमी भाषा समाज से सीखता है और समाज मे रहने ही के लिये उसका प्रयोग करता है, इसलिए उसे समाज द्वारा स्वीकार्य परिधि के भीतर अपनी भाषा को रखना पडता है। इस समाज-स्वीकार्य मर्यादा या दूसरे शब्दो मे भाषा की व्यवस्था के पूर्व-निश्चय का ज्ञान ही हमे भाषा को सघटन कहने के लिए विवश करता है। सघटन होने ही के कारण भाषा के अवयवो का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है और सघटन होने के कारण भाषा मे सम्प्रेषणीयता आती है।

भाषा की दूसरी विशेषता है प्रतीकमय होना। प्रतीक और सकेत इन दोनो मे एक विशेप अन्तर यही है कि जहाँ सकेत और सकेतित मे किसी न किसी प्रकार का नियत सम्बन्ध हुआ करता है वहाँ प्रतीक

और प्रतीयमान मे यह सम्बन्ध नियत न होकर काफी अनिश्चित होता है। जैसा ऊपर कह आये है, वस्तुत यदि भाषा सकेतो के सहारे चले तो ससार मे भाषा के इतने भेद ही न हो। 'अश्व' कहने मात्र से किसी भी भाषा-भाषी के द्वारा केवल घोडे का ही बोध हो ऐसी बात नही है। जिन्हे हम अनुरणनात्मक शब्द कहते है, वे भी प्रत्येक भाषा मे अलग-अलग होते है। हिन्दी की नदी '*कलकल*' करती है, पर अँग्रेजी की नदी '*मरमर*' करती है। हिन्दी का घोडा '*हिनहिनाता*' है पर अँग्रेजी का घोडा '*नेइग*' करता है। इसीलिए हम भाषा मे सकेत न ढूँढकर प्रतीक ढूँढते है। प्रतीक और प्रतीयमान का सम्बन्ध वक्ता और श्रोता के आपसी समझौते पर निर्भर होता है। वह किसी भौतिक•नियम से नियत्रित नही है। सकेत और सकेतित के बीच एक निश्चित सादृश्य होता है। इसलिए उसको ग्रहण करने के लिए किसी भी समुदाय-विशेष के समय (Convention) की आवश्यकता नही पडती है। सडक पर स्कूल के सामने आने के पहले बच्चो का चित्र रहता है और वह मोटर वालो को सावधानी का सकेत दे देता है, चाहे वह मोटर वाला उस जगह की भाषा समझे या न समझे। परन्तु भाषा ठीक इसके विपरीत जिन प्रतीको की सघटना है, वे प्रतीक उस भाषा के बोलने वाले समुदाय के बाहर समझे ही नही जा सकते। साथ ही ये प्रतीक वाचिक होते है। वे मनुष्य के वाग्यन्त्र मे श्वास की अनेक प्रकार की प्रक्रियाओ से उत्पन्न होते है। सघटनात्मक भाषा-विज्ञान वालो की दृष्टि मे भाषा प्रथमत बोली जाने के लिये है, उसका लिखा जाना एक सीमित और गौण उपयोग है। लिखित प्रतीक वाचिक प्रतीक से देश-काल की परिधि मे बाहर ले जाने की कोशिश करता है, पर वह होता है वाचिक प्रतीक पर ही आधृत, क्योकि उनके द्वारा अर्थ-ग्रहण करने के पूर्व उनके पाठक मन मे वाचिक प्रतीक ही को दुहराते है।

इस परिभाषा की तीसरी विशेषत इन प्रतीको को यादृच्छिक कहना है। "यादृच्छिक प्रतीको की सघटना" यह कहना ही विरोध सा

प्रतीत होता है। एक ओर हम यह कहते है कि भाषा सघटनात्मक होने के कारण पूर्व-निश्चित होती है और वही दूसरी ओर हम यह भी कहते है कि सघटना यादृच्छिक प्रतीको की बनी है। इसका समाधान कैसे होगा? वस्तुत भाषा एक जड और गतिहीन पदार्थ नही है, वह एक निरन्तर वर्तमान प्रक्रिया है, जिसमे प्रतिक्षण असलक्ष्य गति से परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन का कारण है उसके बोलने वाले समुदाय के प्रति व्यक्ति की बोधशक्ति की अलग सत्ता और उसके विकास की अलग प्रक्रिया। भाषा बोलते समय जब कोई व्यक्ति कुछ प्रतीको का प्रयोग करता है तो वह अपने समुदाय की स्वीकार्य सीमा के भीतर रहते हुए भी कुछ न कुछ एक-दूसरे से विभिन्न अर्थ एव ध्वनि रखता ही है। धीरे-धीरे जब उस समुदाय के अधिकाश लोग भेद के ऐसे समान स्तर पर पहुँच जाते है, जब एक पूरी की पूरी व्यवस्था ही बेकार हो जाती है तो हम यह कहते है कि भाषा मे एक नया सघटन आ गया। भाषा मे इसलिए कोई भी परिवर्तन विच्छिन्न या एकाकी रूप मे नही होता। परिवर्तन तभी होता है जब पूरा सघटन बदल जाता है। परिवर्तन पर नियन्त्रण रखने वाले हेतु मनुष्य के आधीन है, इसीलिए हम इन प्रतीको को यादृच्छिक कहते है। उदाहरण के लिए हम सस्कृत मे 'दारा' को पुल्लिग कहते है, जबकि इसका अर्थ स्त्री है। 'मित्र' को नपुसकलिग कहते है, जब यह पुरुष मित्र के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है। हिन्दी मे हम *'राम ने उसको मारा'* कहेगे और *'राम ने उसे मारा'* भी कहेगे पर *'राम ने अध्यापक मारा'* न कह कर केवल *'राम ने अध्यापक को मारा'* कहेगे। इस प्रकार एक तरह की इसकी यादृच्छिक व्यवस्था है। व्यवस्था बदलती रहती है, क्योकि जिन प्रतीको का हम व्यवहार करते है वे प्रतीक हमारी यादृच्छा के द्वारा निर्मित किये गये है और निर्मित किये भी जा रहे है, परन्तु वह दूसरी व्यवस्था को जन्म देती रहती है।

परिभाषा का अतिम अश है भाषा का एक समुदाय के परस्पर व्यवहार का प्रकृष्टतम माध्यम माना जाना। भाषा मनुष्य के अनेक

अर्जित संस्कारो मे से एक संस्कार है जिसे वह जन्म से नही प्राप्त करता, बल्कि जिस समुदाय के बीच मे वह बरतता है, उसी से उसे अर्जित करता है। जैसे आदमी खाने का तौर-तरीका सीखता है, उसी तरह भाषा के प्रतीको का भी तरीका सीखता है। दूसरे तौर-तरीके मे भाषा मे यह समानता है कि भाषा भी मनुष्य के जीवन मे उसी की तरह आरोपित व्यापार है, वह भाषा-समुदाय के दैनन्दिन जीवन का प्रकृष्टतम माध्यम है, बल्कि कहना चाहिए कि समाज और भाषा मे एक अविभाज्य सम्बन्ध है। हम भाषा के बिना किसी समुदाय की कल्पना ही नही कर सकते। मनुष्य के सामाजिक जीवन मे भाषा का स्थान इसीलिए है कि यह दूसरे तौर-तरीको की अपेक्षा कही अधिक महत्वपूर्ण और अपरिहार्य है। समुदाय कम से कम दो का तो होना ही चाहिए। ऐसी भी भाषाएँ है, जो क्रमश लुप्त होती जा रही है, पर तब तक बनी रहती है, जब तक कि उनके कम से कम दो बोलने वाले एक-दूसरे के पास बने रहते है।

हम अन्त मे भाषा के इस लक्षण के पद का समाहार करते समय यह कह सकते है कि भाषा वह है जो बोली जाती है, जो विशिष्ट समुदाय मे बोली जाती है, और जो मनुष्य और उसके समाज के भीतर की ऐसी कडी है जो निरन्तर आगे जुडती रहती है।

चौथा अध्याय

भाषा की इकाइयाँ

भाषा को संघटन मानने पर हमें अब यह विचार करना है कि भाषा की संघटना के स्तर कौन-कौन से हैं, उस संघटना के उन स्तरों पर इकाइयाँ कौन-कौन सी हैं और ये इकाइयाँ कितनी भौतिक हैं और कितनी मानसिक हैं। यद्यपि हम भाषा को दो स्तरों में विभक्त करते हैं तथापि विभक्त करने के पहले इस पर जरूर बल देना चाहते हैं कि वस्तुतः संघटित के अर्थ ही यह होते हैं कि परस्पर संयुक्त भाव इसमें हो, इसलिये जितनी भी विभाजन की हम बातें करते हैं वह धारणात्मक स्तर पर ही, पारमार्थिक स्तर पर नहीं। संस्कृत के महाकवि कालिदास ने शब्द और अर्थ को जो शिव-पार्वती की तरह संयुक्त माना है, वही वस्तुतः चरम सत्य है। केवल समझने के लिए इन दो भेदों की कल्पना कर लेते हैं। ये दो भेद हैं—अभिव्यक्ति (Expression) और अर्थ (Content)। "अभिव्यक्ति" को हम 'शब्द' भी कह सकते हैं, शब्द एक ऐसा सामान्य शब्द है जिसका प्रयोग अनेक अर्थों में बहुत छूट के साथ होता है। अभिव्यक्ति से हमारा तात्पर्य भाषा के उस अंश से है, जो एक भौतिक घटना के रूप में हमारे वाग्यन्त्र से घटित होकर हमारे श्रवण-यन्त्र के द्वारा गृहीत होता है और अर्थ से हमारा तात्पर्य उस भौतिक घटना के प्रेरक संकेत और उसके परिणाम दोनों से है।

अर्थ शुद्ध रूप से मानसिक सत्ता है। इसीलिए अभिव्यक्ति के विश्लेषण की अपेक्षा उसका वैज्ञानिक विश्लेषण अधिक कठिन है। अर्थ वस्तुतः वक्ता और ग्रहीता की पूर्ण सामाजिक इयत्ता का ही प्रतिभास है। गाँव में रहने वाले आदमी के सामने जब पेड़ का शब्द आयेगा तो वह अपने गाँव के आस-पास मिलने वाले पेड़ों के बाहर पेड़ की सत्ता

नही देख पायेगा। मरुस्थल के निवासी के मन मे पेड नागफनी बनकर ही रह जायगी, पर हिमालय की तराई का निवासी उसे देवदारु ही के रूप मे देखेगा। इसी कारण अर्थ की मीमासा उतनी निश्चित और स्पष्ट नही की जा सकती। उसकी अपेक्षा अभिव्यक्ति की मीमासा अधिक स्पष्टता मे की जा सकती है, यद्यपि अभिव्यक्ति की मीमासा करते समय भी हम उसके प्रेरक अर्थ को भूल नही सकते पर वह अर्थ विशेषाकारक न होकर सामान्याकारक होता है। आगे हम इसे अधिक स्पष्ट करेगे, यहाँ हम केवल यह इगित करना चाहते है कि सघटनात्मक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे कार्य करने के लिए नये अमरीकी भाषाविदो ने अर्थ की आवश्यकता से अधिक उपेक्षा की है और अब यह स्थिति आ गयी है कि उनकी दृष्टि इसी कारण अधिकाश दूसरे वर्ग के विचारको के द्वारा एकागी भी मानी जाने लगी है।

इस अभिव्यक्ति के स्तर पर भी हम भाषा के तीन स्तर सोच सकते है—वाक्य, रूप और ध्वनिग्राम। वाक्य विचार की पूर्णता की इकाई है और इसका ज्ञापन भौतिक घटना मे एक अपेक्षाकृत लम्बे विराम के द्वारा होता है। वाक्य ही व्यवहार मे अपने मे उक्ति का एक पूर्ण रूप होता है। वाक्य को हम ऐसे शब्दो या रूपो मे विभक्त पाते है, जो हर एक तरह से परस्पर सम्बद्ध होते है। यह सम्बन्ध चाहे एक रूप से दूसरे रूप मे हो, या एक रूप-समूह से दूसरे रूप मे हो, या एक रूप-समूह से दूसरे रूप-समूह मे हो। वाक्य के स्तर पर हम जब सघटना का विचार करते है तो इन्ही सम्बन्धो का विवेचन करते है और इन सम्बन्धो के विविध प्रकार के विन्यास के आधार पर वाक्यो की विविधता की व्यवस्था निर्धारित करते है। साधारण भाषा मे हम कह सकते है कि जिन भाषाओ मे रूप-प्रक्रिया है, उनमे पदो का दूसरे पदो से वाह्य सम्बन्ध वाक्य-विश्लेषण का अग है, और पदो के भीतर प्रकृति और प्रत्यय का अन्त सबध पद-विश्लेषण या रूप-विश्लेषण का विषय है। जिन भाषाओ मे रूप-प्रक्रिया नही है अर्थात् जिनमे एक रूप दूसरे रूप से असलग्न होकर भाषा मे सन्निधि या क्रम-मात्र से ही सम्बन्ध की स्थापना करते

है उन भाषाओ मे वाक्य-विचार और रूप-विचार के बीच मे रेखा नही खीची जा सकती।

रूप (morpheme) भाषा के अभिव्यक्ति-स्तर पर वह इकाई है जो एक सम्बन्धवाचक ध्वनिग्राम-राशि की होती है और जो अर्थवान् होती हुई भी स्वय अर्थ नही होती। एक तरह से यह ध्वनिग्राम-राशि और अर्थ के बीच जोडने वाली कडी है। जहाँ तक कि इसके आकार का प्रत्यय है वह प्रत्यय भौतिक है पर जहाँ तक कि इसमे निहित अर्थ का प्रत्यय है वह प्रत्यय मानसिक है। उदाहरण के लिए यदि हम सस्कृत के "राम" शब्द को ले तो इसमे हमे तीन रूपतत्वो का सश्लेष मिलता है।

{ रम } + { घञ् (अ) } + { सुप् (म्) }

जब हम "रम्" रूप की बात करते है तो हम केवल उसके तिडन्त और कृदन्त प्रत्यय से सम्बन्ध स्थापित करने की आकाक्षा रखने वाले "रम्" को ही ध्यान मे रखते है, न कि उसके "रमना" अर्थ को। इसी तरह "घञ्" प्रत्यय की जब बात करते है तो हम केवल उसकी धातु मे कर्तृत्व सम्बन्ध जोडने की शक्ति की ही कल्पना करते है और अन्त मे "सु" रूप से हमारे मन मे कर्त्ता के रूप मे आदमी नही खडा होता है बल्कि उससे केवल "राम" जैसे किसी प्रातिपदिक का किसी कार्य-विशेष से सम्बन्ध-विशेष ही हमारे मन मे उदित होता है। इसलिये यह ध्यान देने योग्य है कि रूप छोटी से छोटी अर्थवान् इकाई है सही, पर वह अर्थ से भिन्न है और इस प्रकार वह ध्वनिग्रामाकार होते हुए भी ध्वनिग्राम की तरह अर्थ-शून्य नही है।

अन्त मे हम भाषा के अन्त्य अवयव ध्वनिग्राम पर आते है। ध्वनिग्राम किसी भाषा विशेषगत उक्ति का वह अन्त्य गुणखड है, जिसके बाद विश्लेषण करना उस भाषा की दृष्टि से निष्प्रयोजन है, पर जो साभिप्राय होते हुए भी स्वय कोई अर्थ न रखता हो। इस तरह से ध्वनि-ग्राम पूर्णत भौतिक घटना पर आधृत है, यद्यपि स्वय यह भौतिक तथ्य

का प्रतिनिधित्व मात्र करता है स्वय भौतिक तथ्य उपस्थित नही करता। भाषा के विश्लेपण की ऊपर भी जो इकाइयाँ बतायी गयी है वे भी भौतिक घटना या तथ्य की (Presentation) आकृति न होकर (Representation) प्रतिकृति के ही रूप मे कल्पित की गयी है। वस्तुत एक तरह मे वे अपने सवादी तथ्य की अपेक्षा वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक परिच्छिन्न एव सत्य है। उदाहरण के लिए हिन्दी भापा-भाषी जब 'कमल' शब्द का उच्चारण करता है तो वह चाहे इस शब्द के आद्य अवयव 'क्' का उच्चारण पृष्ठ कोमल तालु से करे, चाहे कोमल-तालु से करे, चाहे उससे भी कुछ आगे आकर करे, पर उसके हिन्दी-श्रोता तीन प्रकार के "क" के उच्चारणो को एकाकार ही मानेगे। उसके लिए "क्" की तीन सत्ताएँ निरर्थक है और उससे यदि कहा भी जाय कि उसने कमल के "क्" का उच्चारण तीन प्रकार से किया है तो वह विश्वास नही करेगा क्योकि उसके लिए "क् की तीन नही केवल एक इकाई ही सत्य है।

इस प्रकार हम वैज्ञानिक परिकल्पना के आधार पर सक्षेप मे चार स्तरो पर भाषा की सघटना का विश्लेषण कर सकते है (१) अर्थ-स्तर पर अर्थतत्व का विश्लेपण जिसे हम अर्थ-विज्ञान कह सकते है। (२) वाक्य-स्तर पर वाक्य-तत्वो मे विश्लेषण जिसे हम वाक्य-विज्ञान कह सकते है। (३) रूप-स्तर पर रूप-तत्वो मे विश्लेषण जिसे हम रूप-विज्ञान कह सकते है और (४) ध्वनिग्राम-स्तर पर ध्वनिग्राम-तत्वो मे जिसे हम ध्वनिग्राम-विज्ञान कह सकते है।

पाँचवाँ अध्याय

संघटनात्मक भाषाविज्ञान-सम्प्रदाय

भाषा की उपरिलिखित परिभाषा के अनुसार उक्त प्रकार से भाषा की सघटना के विश्लेषण मे जो सम्प्रदाय विश्वास रखता है, वह अपने का सघटनावादी भाषाविद् कहता है। यह सम्प्रदाय ऐतिहासिक या तुलनात्मक अध्ययन के सम्प्रदाय से मुख्यत इसलिए कुछ अलग है कि यह भाषा को उसके जीवित और वर्तमान रूप मे ही ग्रहण करना चाहता है, न कि उसके विगत और मृत रूपो के सदर्भ मे। इसके लिए भाषा का इतिहास नही बल्कि भाषा का भूगोल ही महत्व रखता है। इस सम्प्रदाय को भाषा के इतिहास मे गौण रुचि है और इसकी मान्यताएँ सक्षेप मे ये है —

(१) भाषा का बोला जानेवाला रूप ही उसका वास्तविक रूप है इसीलिए भाषा लिखने के पहले भाषा बोलनी चाहिए और बोलने के पहले सुननी चाहिए।

(२) भाषा के सघटनामय होने के कारण उसके अवयव एक दूसरे से असलग्न या असम्बद्ध नही हो सकते। वस्तुत भाषा का विश्लेषण उसके अवयवो की निरपेक्ष या पारमार्थिक सत्ता के आधार पर नही किया जाता, वह विश्लेषण आधृत होता है भाषा की विविध प्रकार की सम्पर्क-सीमाओ के व्यापन पर। इस विश्लेषण मे पारमार्थिक (Absolute) सत्ताओ को परिधियो मे बाँध देने की चेष्टा की जाती है। इन परिधियो को बनाने की चेष्टा इसलिए की जाती है कि जिन परिधियो के भीतर चाहे जितने भी विकल्प हो, वे अनेक नही माने जाकर केवल एक ही माने जाते हैं। भाषा की इन परिधियो की सीमाये जब टूटती है, तब पूरी भाषा की शृखला टूट जाती है और फिर नयी परिधि से नयी

शृखला बनती है। सक्षेप मे भापा मे कोई परिवर्तन एकाकी नही होता। वह परिवर्तन पूरी शृखला मे होता है।

(३) भाषा एक अर्जित सस्कार है इसलिए भाषा के सम्बन्ध मे जन्मजात रुचि-अरुचि का प्रश्न नही उठता। भापा बच्चा अपने बडो से अधिक अपने समकालीनो से सीखता है, बडे केवल उस भाषा मे अनावश्यक और अप्रभावकारी नियन्त्रण का ही कार्य करते है। यदि बच्चा बडो की भाषा को यथावत् स्वीकार करता तो भाषा कभी बदल ही नही पाती।

(४) भापा के मवध मे कोमल-परुष, सरल-कठिन या शुद्ध-अशुद्ध जैसे विकल्प वैज्ञानिक दृष्टि से अनुपयुक्त है। प्रत्येक भापा अपने समुदाय के लिए अपने समुदाय की दृष्टि से जैसी होती है वैसी दूसरे समुदाय के लिए नही हो सकती। इसका कारण केवल इतना ही है कि अभ्यासवश आदमी एक समुदाय के रहन-सहन से इतना अभिभूत हो जाता है कि वह दूसरे प्रकार के रहन-सहन मे विचित्रता अपने-आप देखने लगता है। प्रत्येक मनुष्य की भाषा अपने मे पूर्ण व्यवस्था होती है, इसलिए जिसे शुद्ध भाषा कहते है और जिसका प्रचलन मनवाना चाहते है, वह समाज की स्वीकृति पर ही अवलवित है। भापा के ऊपर अधिकार उसके औसत बोलने वाले का है, किसी जन-विशेष का नही। महाभाष्यकार ने भी लोक को ही भाषा के सम्बन्ध मे प्रमाण माना है।

(५) भाषा की सघटना मे प्रतीको का विन्यास, यादृच्छिक होने के कारण प्रत्येक सघटना को दूसरी सघटना से इतनी दूर कर देता है कि यथार्थ रूप को एक भाषा का दूसरी भापा मे अनुवाद नही किया जा सकता। यह कहना कि यह विन्यास उस भाषा के बोलने वाले समुदाय की सास्कृतिक सम्पद् या हीनता का मापदड हो सकता है, एक बहुत बडे असत्य की प्रतिष्ठा होगी। इस विन्यास मे शुद्ध रूप से मनुष्य की यदृच्छा काम करती है। •मीमासा शास्त्र मे इसी सिद्धान्त को *भूमौ अर्थ मुखे शब्द, औत्पत्तिक शब्दस्य अर्थेन सह सम्बन्ध* जमीन मे प्रतीयमान और मुँह मे•शब्द, भला इन दोनो के बीच "यादृच्छिक

सम्बन्ध माने बिना कैसे काम चलेगा" इस कथन के द्वारा समर्थन किया गया है।

सघटनात्मक भाषाविज्ञान ने इधर हाल मे वाक्यविन्यास के विश्लेषण पर भी ध्यान दिया है और रूल्स वेल्स ने आसन्न घटक (Immediate Constituents) सिद्धान्त की स्थापना करके वाक्यविश्लेषण का एक नया तरीका निकाला है। पर अभी वाक्यस्तर पर विश्लेषण शाघ्यावस्था मे है। इसीलिए इसके विस्तार मे जाना आवश्यक नही। अर्थ के क्षेत्र की ओर मे पहले जितनी उदासीनता थी, उतनी अब नही है, यह एक शुभ लक्षण है। तब भी अर्थ-विचार की दिशा मे प्रगति मन्द है।

सघटनात्मक भाषाविज्ञान का समुचित उपयोग भाषा-शिक्षण बोलियो के भौगोलिक सर्वेक्षण, भाषा-रीति विज्ञान (Linguistic Typology), ऐतिहासिक भाषाविज्ञान मे प्रत्याकलन (reconstruction), नृतत्त्व एव समाजशास्त्र मे हुआ है। भाषा-शिक्षण के क्षेत्र मे प्रत्यक्ष समय और प्रयत्न का लाघव इस शाखा के उपयोग के फलस्वरूप आया है। गत पच्चीस वर्षो के निरन्तर प्रयोग के बाद यह स्थिति आ गयी है कि सघटनात्मक भाषाविज्ञान ने इस भाषाशास्त्र को विज्ञान के स्तर पर पहुँचाने की दिशा मे बहुत बडी मजिल तै कर ली है और अब उसका अध्ययन अपरिहार्य हो गया है।

छठा अध्याय

भाषा का उद्गम

दूसरे अध्याय मे हम देख चुके है कि मनुष्य अपने पूर्वजो से भाषा सीखता आया है। हमने अपने माँ-बाप से सीखी, उन्होने अपने माँ-बाप से। इस तरह चलते-चलते उस आदि अवस्था तक हम पहुँच जाते है जब भाषा पहले पहल सीखी गई होगी। उस समय मनुष्य को भाषा किसने सिखाई ? और यदि सिखाने वाला कोई नही था तो मनुष्य ने किस प्रकार भाषा का सृजन किया। यह सवाल विचारणीय है।

धर्मग्रन्थो मे श्रद्धा रखने वालो के लिए इस प्रश्न की तह मे कोई समस्या नही मालूम होती। प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ मे परमेश्वर ऋषियो को ईश्वरीय ज्ञान (वेद के रूप मे) प्रदान करता है। इन आदिम ऋषियो को उस वैदिक भाषा का स्वत ज्ञान होता है और ये परम्परा मे अपने बाद वालो को और ये अपने बाद आने वालो को सिखाते चले आए है। यास्क की दृष्टि से प्रवरो ने अवरो को यह ज्ञान दिया और पतञ्जलि के मत से ईश्वर से पूर्व कोई गुरु नही था—वही अनन्त काल मे आदि गुरु है। इस प्रकार देववाणी सस्कृत ही आदि भाषा है जिसे परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ मे ऋषियो को सिखाया और जिससे बाद को अन्य भाषाएँ और उपभाषाएँ फूट निकली। इजील को धर्मग्रन्थ मानने वालो के लिए तो यहूदी भाषा (इब्रानी) ही आदमी की आदिम भाषा थी जो परमेश्वर-प्रदत्त है और यदि बेबल के मीनार की दुर्घटना न हुई होती तो आज भी वही अकेली भाषा सारे ससार मे प्रचलित होती और भाषा की विभिन्नता के कारण मनुष्य जाति की जो दुर्गति हो रही है उससे वह बच जाती।

आदि मे किसी परमेश्वर की कल्पना न करने वाले और सृष्टि को प्रवाह रूप मे अनादि और अनन्त मानने वाले धर्म भी आदि भाषा की सत्ता स्वीकार करते है। बौद्ध लोग पालि (मागधी) को मूल भाषा मानते है और विश्वास करते है कि आदि कल्प के मनुष्य, ब्राह्मण और सबुद्ध इसी का व्यवहार करते थे। जैन लोग तो आर्ष (अर्द्धमागधी) को मूल भाषा (प्राकृत) मान कर उसे मनुष्यमात्र ही तक सीमित नही रखते। उनका विश्वास है कि श्री महावीर स्वामी की इस भाषा का उपदेश तिर्यग्योनि (पशु-पक्षी आदि) के और सिद्ध, देव आदि योनियो के जीव भी समझते थे, और सुन कर लाभ उठाते थे।

मतमतान्तरो पर श्रद्धा रखनवाले और यह मानने वाले कि मनुष्य परमेश्वर के यहाँ से इस ससार मे आते समय ही भाषा सीखकर आता है, एक दूसरी ही समस्या से विचलित रहे है—कौन-सी भाषा लेकर मनुष्य यहाँ उतरता है? ई० पू० ५वी सदी के ग्रन्थकार हेरोडोटस ने लिखा है कि मिस्र देश के राजा सैमेटिकुस ने यह जानने के लिए कि ससार मे सबसे प्राचीन कौन मनुष्य-जाति है, दो तत्काल पैदा हुए बच्चो को एक पार्क मे अन्य मनुष्यो से विलग रक्खा। उन्होने जब बोलना आरभ किया तो उनके मुँह से बेकोस शब्द निकला जो फ्रिजियन है और जिसका अर्थ है "रोटी"। उन बच्चो के सामने किसी को भी बोलने का निषेध था। बेकोस शब्द जो उन बच्चो के मुँह से निकला वह भी रोटी लाने वाले प्रहरी की जबान मे अनजान मे कभी निकल गया था। इस प्रयोग से यह निश्चय न किया जा सका कि मिस्री लोग आदि पुरुष है या फ्रिजियन। इसी प्रकार का एक प्रयोग कुछ बच्चो पर अकबर बादशाह ने भी करवाया था और वे बच्चे भी गूँगे निकले। इससे इतना स्पष्ट है कि मनुष्य का बच्चा कोई भी भाषा सीख कर नही आता, जो सीखना है यही इस ससार मे। धर्म मे अटल विश्वास रखने वाले इन प्रमाणो से हतबुद्धि नही होते। वे कहते है कि माना कि अब मनुष्य जाति, जन्म से कोई भाषा सीखकर नही आती पर सृष्टि के आरभ मे अवश्य भाषा मनुष्य को सिखाई गई थी अन्यथा आज की तरह सब लोग गूंगे ही

आते और जब मनुष्य को और कोई पूर्वज स्वजातीय शिक्षक नहीं सिखा सकता था उस समय निश्चय ही उसको यह ज्ञान किसी दैवी शक्ति से मिला होगा।

आधुनिक विज्ञान मनुष्य की सृष्टि को विकासवाद की दृढ नींव पर ही स्वीकार करता है, इसीलिए भाषा के उद्गम की समस्या उसके सामने जटिल समस्या के रूप मे उपस्थित होती है और इसको हल करने का विद्वानो ने प्रयास किया है।

एक मत यह है कि आरभ मे जब सकेत आदि से मनुष्य-समुदाय का यथेष्ट काम नही चला, तब समुदाय ने एकत्र होकर विचारपूर्वक निश्चय किया कि अमुक वस्तु का यह नाम होगा और अमुक का यह। इस प्रकार उसने आपस के समझौते से भाषा का सृजन किया। परन्तु यह मत थोडे दिन भी समीक्षा की कसौटी पर नही ठहर सका। सवाल उठा कि जब मनुष्य के पास कोई भाषा थी ही नही, केवल सकेत थे तब उसने एक दूसरे पर अपने समझौते के समय के विचार किस साधन से प्रकट किये होगे ? क्या यह सभव नही कि एक वस्तु के लिए किसी सदस्य ने एक नाम पेश किया हो और दूसरे ने दूसरा और फिर वाद-विवाद हुआ हो कि कौन स्वीकार किया जाय और कौन नही ? यह वाद-विवाद क्या केवल सकेतो से हुआ होगा ? फिर किसी वस्तु का विचार उठते ही उसकी ध्वन्यात्मक प्रतिमा मन मे आ जाती है। तो, जब किसी वस्तु का क्या नाम रक्खा जाय यह बात निश्चित नही हुई थी तब यह प्रतिमा कैसे मस्तिष्क मे आई और किस रूप मे ? और उसकी अनुपस्थिति मे विचार ही कैसे आया ? इस प्रकार समीक्षा करने पर विचारपूर्वक आदि भाषा के निर्माण का मत कितनी कमजोर दीवार पर खडा है यह स्पष्ट हो जाता है।

भाषा की उत्पत्ति का समाधान करने के लिए दूसरा मत यह है कि मनुष्य ने भाषा अपने आस-पास के पशु-पक्षियो तथा सृष्टि के अन्य पदार्थों से सीखी। कोयल को कुहू, कुहू करते सुना तो उसका नाम कुहू रक्खा, बिल्ली को म्याऊँ, म्याऊँ करते सुना तो उसकी सज्ञा

म्याऊँ बनाई, पेड से पत्ता गिरते देखा और उसकी आवाज परखी तो पत् धातु गिरने के अर्थ मे निश्चित की, पानी की तेज धार को बहते सुनकर नद् धातु का निश्चय किया और नदी शब्द बनाया। आज भी इस प्रकार शब्द बनते है। बच्चे मोटर को मोटर न कहकर पों-पों कहते है क्योकि उनको हटाने के लिए मोटर *पों-पों* शब्द करती है और मोटर के हार्न को हम लोग अपनी भाषा मे *भोंपू* नाम शायद इसीलिये दे बैठे है। परन्तु यह मत भी समीक्षा करने पर पक्का और सतोषजनक नही ठहरता। पहली बात तो यह है कि ससार की पुरानी से पुरानी भाषा का भी अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि ऐसे शब्द जो इसप्रकार पशु-पक्षियो के अनुकरण और अन्य पदार्थो के अनुकरण पर बने है, उनकी सख्या बहुत कम है। कोई कह सकता है कि सस्कृत आदि सब मे पुरानी भाषाएँ जिस अवस्था मे हमको मिलती है वह हजारो वर्ष की विकसित अवस्था है, इस कारण यह तर्क पुष्ट प्रमाण नही। इस सदेह मे कुछ तथ्य है। परन्तु ससार की असभ्य और असस्कृत जातियो की भाषाओ का भी विद्वानो ने अध्ययन किया है और तब भी इसी नतीजे पर पहुँचे है कि अनुकरणात्मक और अनुरणनात्मक शब्दो का अनुपात उन भाषाओ मे भी बहुत थोडा है। अमरीका की, मॅकेजी नदी के किनारे बसी हुई असभ्य जाति अथबस्कन की भाषा मे तो ऐसे शब्दो का नितान्त अभाव पाया गया है। दूसरी बात यह है कि क्या जब पशु-पक्षियो को प्रकृति ने ध्वनियो के उच्चारण करने की शक्ति प्रदान की थी तो आदिम मनुष्य को कोई भी शक्ति प्राप्त न थी ? क्या वह स्वय दृश्यो और वस्तुओ को देखकर कुछ गौर न कर सकता था ? जब उसे भी यह शक्ति प्राप्त थी तब वह भाषा के सृजन के लिए दूसरो का ही सहारा क्यो लेता ?

दूसरे मत की समीक्षा से ही तीसरा मत निकल आया। प्रकृति के जीवो का अवलोकन करते समय हम देखते है कि उन के भावो और आवेशो के ही समय विशेष रूप से ध्वनियाँ निकलती है। पक्षी आनन्दोल्लास, भय, भूख आदि के ही समय शोर मचाते है अन्यथा चुप रहते है।

गाय का बच्चा भी कुदक्की मारते समय, भूख से या मां को देख कर उल्लास से *अम्मां-अम्मां* करता है। गायें, भैंसे बहुधा मैथुन की प्रबल अदम्य आकांक्षा होने पर रँभाती है। श्री वैशाखनंदनजी भी पीछे नज़र घुमाकर और यह ज्ञान प्राप्त कर कि इतनी भारी जगह की घास हमने साफ कर दी, आनंदातिरेक से रेंकने लगते है। इसी प्रकार, तृतीय मत को पेश करने वाले विद्वानो के अनुसार आरंभ मे मनुष्य मे भी इसी प्रकार भाव प्रकट करने की शक्ति थी और विस्मयादिबोधक शब्द इसी शक्ति के परिणाम है। इन विद्वानो का कहना है कि प्रारंभ मे मनुष्य इन्ही का उच्चारण कर सकता था और धीरे-धीरे इसी प्रकार की उच्चारित ध्वनियो का उन आवेशो और भावो से अलग भी उच्चारण करने की उसे शक्ति प्राप्त हो गई। जैसे कि हम देखते है कि प्रारंभ मे बच्चा जो सोचता है उसे अकेला बैठा हुआ भी शब्द मे प्रकट करता जाता है, पर धीरे-धीरे वह विचार और ध्वनि को अलग करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है, ठीक उसी प्रकार आदिम मनुष्य-समुदाय की शक्ति का विकास हुआ होगा। उदाहरण के लिए *छि छि, धत्, हुश, हला,* आदि अथवा अँगरेजी के *फाइ, बाश,* आदि शब्द पेश किये जाते है। मजदूर जब बोझा उठाता हुआ थका रहता है तब उसके मुँह से अनायास *हे, हो* आदि शब्द निकल पडते है और इसी से उठाने के अर्थ की अँगरेजी धातु हीव की उत्पत्ति बताई जाती है। इसी प्रकार तिरस्कार-सूचक *फाइ* शब्द से तिरस्कारपूर्ण काम करने वाले फिएंड (शैतान) शब्द का संबंध जोडा जाता है।

दूसरे मत को काटने के लिए यह मत उपकारक साबित हुआ। पर स्वयं यह मत भी पूरे तौर से संतोषजनक नही है। पहली बात यह है कि विस्मयादि-बोधक अव्यय भाषा के मुख्य अंग नही और किसी भी भाषा मे उनकी संख्या बहुत परिमित है। वे वाक्य के अंदर तो आते ही नही उनका अस्तित्व अलग ही है। दूसरे, यह बात भी कि ये अव्यय सदा और सर्वत्र मनोराग, आवेश आदि के द्योतक है ठीक नही जँचती, क्योंकि कही और कभी कोई अव्यय प्रयोग मे आते है और दूसरे देशकाल मे अन्य।

तब भी दूसरे और तीसरे मत क अनुसार भाषा के थोडे से (परन्तु बहुत थोडे से) शब्दो की उत्पत्ति समझ मे आ जाती है। शेष के विषय मे वे केवल असतोषजनक वाद की सत्ता पर स्थित रहते है।

फिर इस जटिल समस्या का क्या हल है ? अल्पज्ञानी मनुष्य के ज्ञान की वर्त्तमान स्थिति मे इस समस्या का हल नही सूझता। इसी कारण पिछली पीढी के भाषा-वैज्ञानिको ने इस प्रश्न को उठाया तो, पर टाल दिया था और यह कहा था कि इससे हमे सरोकार नही, हम तो जैसी भाषा पाते है उसका अध्ययन करते है और उसके मूलतत्त्वो तक पहुँचने की कोशिश करते है, भाषा की उत्पत्ति का विषय तो दर्शन के क्षेत्र मे आता है। पर आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक यह नही कहता। वह स्वीकार करता है कि भाषा की मूल उत्पत्ति का पता लगाना उसी का कर्त्तव्य है। वह प्रयत्नशील है—असभ्य और बर्बर जातियो की तथा बच्चो की बोलियो का अध्ययन करता है, दूर-दूर की भाषाओ की परस्पर तुलना करता है और भाषा के मूल आधार पर पहुँचने का उद्योग करता है। वह हिम्मत नही हारता।

भाषा और विचार का अटूट सबध है। मनुष्य के मस्तिष्क मे जब विचार उठे होगे तभी भाषा भी आई होगी। पाणिनीय शिक्षा मे कहा है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मन कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥

अर्थात् आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थो को समझ कर मन को बोलने की इच्छा से प्रेरित करती है। मन शरीर की अग्नि (शक्ति) पर जोर डालता है और वह वायु को प्रेरित करती है (इस प्रकार शब्द निकलता है)। आदि काल मे यदि भिन्न-भिन्न स्थानो पर मनुष्य का विकास हुआ होगा तो सभव है कि भिन्न-भिन्न भाषाएं प्रारभ से ही उपस्थित हुई हो। यदि एक ही स्थान पर सुसगठित मनुष्य-समुदाय का आविर्भाव हुआ होगा, तो प्रारभ मे एक ही भाषा रही होगी और कालान्तर मे उसमें विभिन्नता आई होगी।

मनुष्य को विचार करने की शक्ति कब मिली? इस प्रश्न का उत्तर मनोवैज्ञानिक नही दे पाते।

भाषा और विचार के आविर्भाव का प्रश्न मनुष्य-समाज के विकास की समस्या के साथ अनिवार्य रूप से उलझा हुआ है, और जब तक विकासवाद के उपस्थापक डार्विन आदि विद्वानो के खोए हुए पूर्वजो का पता नही चलता और विकासवाद की शृखला की टूटी हुई कडी नही मिलती तब तक भाषा-वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक, भाषा और विचार के आदि स्रोत तक पहुँचने मे नितात असमर्थ है और रहेगे। धर्म पर श्रद्धा रखने वाले को यह माया नही व्यापती, क्योकि उसके सिद्धान्त है "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" और "सतोष परम सुखम्।"



सातवाँ अध्याय

भाषाविज्ञान तथा अन्य विज्ञान

ऊपर हम देख चुके है कि मनुष्य के विचारात्मक ज्ञान से भाषा का घनिष्ठ सबध है—भाषा विचार का बाह्य स्वरूप है और विचार भाषा का मानसिक स्वरूप, ऐसा भी कहा जाय तो अत्युक्ति नही। ऐसी दशा मे भाषा-विज्ञान का मनुष्य के ज्ञान की अन्य शाखाओ मे गहरा सबध है।

भाषाविज्ञान का अटूट सबध *मनोविज्ञान* मे है। मनुष्य के सभी कार्य उसकी अदम्य इच्छा से प्रेरित होते है, भाषा भी। यह इच्छा कैसे उठती है इस प्रश्न का उत्तर मनोविज्ञान ही दे सकता है। फिर मन मे विचार कैसे उठते है, मस्तिष्क मे कैसे सग्रहीत रहते है, एक शब्द के कई अर्थ रहते हुए भी किसी समय एक विशिष्ट अर्थ ही क्यो उद्बोधित होता है, शब्दो के अर्थ मे परिवर्तन किस प्रकार होते है, इन सब प्रश्नो का उत्तर भाषाविज्ञान मनोविज्ञान का सहारा लिए बिना देने मे असमर्थ है। हम देखते है कि कोई-कोई मनुष्य बोली के सभी अवयवो के सही रहते हुए भी तुतलाते है, रुक रुक कर बोलते है, इस दोष का हेतु मनोविज्ञान ही बता सकता है। इसी तरह भाषा मे जो परिवर्तन एक पीढी से दूसरी तीसरी पीढी तक आते-आते हो जाते है उनका मुख्य रूप से मनोविज्ञान से ही कारण मालूम हो सकता है। इस प्रकार भाषाविज्ञान मनोविज्ञान का ऋणी है परन्तु बदले मे मनोविज्ञान भी भाषाविज्ञान का ऋणी है। उसे भी विचारो के विश्लेषण, अनुभव की सपूर्णता, अपूर्णता आदि के अध्ययन मे भाषाविज्ञान का सहारा लेना पडता है।

भाषाविज्ञान का *तर्कशास्त्र* से प्रत्यक्ष सबध नही है यद्यपि शब्दो का अर्थ व्यक्तित्व से सामान्यता को कैसे पहुँचता है तथा सामान्य

अर्थबोधक शब्द किसी व्यक्ति का द्योतक किस तरह हो सकता है इसके अध्ययन मे तर्कशास्त्र से कुछ सहायता मिलती है। पर साधारण रीति से भाषा तर्क के अनुसार नही चलती और प्राणी और अप्राणी, स्वेदज, अडज, उद्भिज्ज आदि शब्द जिनमे तर्कशास्त्र का प्रत्यक्ष प्रभाव दीखता है, अनुसन्धानकर्ता के मस्तिष्क की उपज है, साधारण भाषा के नही।

भाषाविज्ञान का *समाजशास्त्र* से भी गहरा सबध है। भाषा विचार-विनिमय का साधन है, यह विचार-विनिमय मनुष्य-समाज मे ही होता है, समाज ही अपने समुदाय के व्यक्ति पर भाषा थोपता है, व्यक्ति को जसी है वैसी ही स्वीकार करनी पडती है, वह ची-चपड नही कर सकता, उसमे अपनी इच्छा के अनुकूल, बिना दूसरे व्यक्तियो की सम्मति के, कोई विकार भी प्रविष्ट नही कर सकता। समाजशास्त्र के अध्ययन से ही भाषाविज्ञान के विद्यार्थी को उन अवस्थाओ का पता चलता है जिनमे भाषा का विकास होता है। समाजशास्त्र के किन प्रभावो द्वारा भारतीय स्त्री अपने पति के नाम का उच्चारण नही कर सकती, किन प्रभावो द्वारा साप को कीडा और लाश को मिट्टी कहते है, क्यो गाय बियाती है स्त्री नही, क्यो पाखाना (वस्तुत पैर रखने की जगह) कहा जाता है और उस क्रिया का नाम नही लिया जाता जो इस स्थान पर की जाती है, इन सब बातो का उत्तर समाजशास्त्र के सूक्ष्म अध्ययन से ही मिल सकता है। इसी प्रकार किसी विशेष समाज की अवस्था का अध्ययन भी इतिहासिक या तुलनात्मक भाषाविज्ञान द्वारा सहारा पाता है। अवेस्ता की ईरानी भाषा मे आँख, कान आदि करीब बीस अर्थो के बोधक दो-दो शब्द है—एक शुभ और दूसरा अशुभ। इनके रखने की उस समाज मे क्यो जरूरत पडी ? ईरान मे देव (देव) शब्द अशुभ और सस्कृत मे उसका विपरीत क्यो है ? वैदिक सूक्तो मे असुर शब्द कही देवता-वाचक और कही राक्षस-वाचक क्यो है ? सस्कृत मे यक्ष शब्द अच्छे अर्थ मे और पालि मे बुरे अर्थ मे क्यो प्रयोग मे आया है ? *अशोक महाराज* ने *देवानां प्रिय* इस वचन का अपने लिए सर्वत्र लेखो

मे प्रयोग किया है और उनके बाद वाले सस्कृत के ग्रन्थो मे इसका अर्थ है मूर्ख। क्यो? अशोक के लेखो मे *पाखडी* शब्द धर्मावलम्बी के अर्थ मे आया है और आज उस शब्द का क्या अर्थ है? अपनी भाषा मे जो शब्द *पिल्ला* कुत्ते के बच्चे के अर्थ मे अर्थ-सकोच से रूढ है वही द्राविड भाषाओ मे मनुष्य, जानवरो, पक्षियो आदि के बच्चे बच्ची क अर्थ मे आता है। इन सबसे विशेष देश और काल के समाज की मनोवृत्ति और अवस्थाओ का पता लग जाता है।

भाषाविज्ञान को मनुष्य के **शरीर-विज्ञान** का भी सहारा लेना पडता है। भाषा मनुष्य के शरीर से निकलती है। ज्ञानतनु मस्तिष्क मे मुख, नासिका, जिह्वा, तालु आदि अवयवो को प्रेरित करते है। ध्वनि के अध्ययन के तीन भाग है—ध्वनि का निर्माण, उसका दूसरे के प्रति वहन और उसकी दूसरे द्वारा प्राप्ति। ध्वनि किस प्रकार बनती है, किस प्रकार उदर से आती हुई प्राणवायु स्वरयत्र, अलिजिह्व, तालु, दाँत, ओठ नाक आदि मे स्थान पाकर और उसके कारण ध्वनि की विशेषता को प्राप्त होती है यह मनुष्य के वाचिक अवयवो के अध्ययन से ही जाना जा सकता है। फिर यह ध्वनियाँ किस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण की जाती है और उस इन्द्रिय की गठन क्या है यह भी शरीर-विज्ञान के अध्ययन से ही मालूम किया जा सकता है। आधुनिक काल मे लिखित भाषा का व्यवहार बहुत विस्तृत है। नेत्रेन्द्रिय किस तरह लेख को ग्रहण करती है और किस प्रकार अनुच्चारित शब्द को मस्तिष्क तक पहुँचाती है यह भी नेत्रेन्द्रिय और ज्ञानतुओ के अध्ययन से ही समझ में आ सकता है। साराश यह कि भाषाविज्ञान की ध्वनि के अध्ययन के लिए शरीर-विज्ञान के अध्ययन की जरूरत पडती है।

ध्वनि किस प्रकार मुँह मे निकल कर दूसरे आदमी के कान तक पहुचती है यह बात हमे *भूत-विज्ञान* बतलाता है। शब्द आकाश मे लहर मारता है या वायु मे भाषा की ध्वनियो मे और अन्य ध्वनियो मे क्या अतर है ये सब बाते भूत-विज्ञान के ही अध्ययन से मालूम होती है। और आजकल तो प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान ने भूत-विज्ञान की कार्य-

शैली का अनुकरण करके और उसकी सामग्री के उपयोग मे लाकर ध्वनि के मूलतत्त्वो की प्राप्ति मे यथेष्ट सफलता पा ली है।

भाषाविज्ञान का इतिहास से भी सबध है—राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि सभी इतिहास से। भारतीय भाषाओ मे प्रचुर मात्रा मे अरवी, फारसी और तुर्की आदि शब्दो का अस्तित्व हमारी, पिछले आठ-नौ सौ साल की गुलामी का परिचायक है। पजाब और उत्तरप्रदेश की हिन्दी-उर्दू समस्या पिछले दो-तीन सौ वर्ष की राजनीतिक विषमता की उपज है। बगाली और मराठी आदि भाषाओ मे प्रचलित व्रज-शब्द व्रजमण्डल के वैष्णवधर्म के देशव्यापी प्रभाव के द्योतक है। इसी प्रकार प्राचीन आर्य भाषाओ मे *'विधवा'* शब्द का अस्तित्व, तथा जिसकी पत्नी का देहान्त हो चुका हो उस अभागे के लिए किसी विशेष शब्द का अभाव, सभवत इस बात का सूचक है कि प्राचीन आर्यो के समाज मे पत्नी के देहान्त पर अपना विवाह कर लेने का अधिकार पुरुष ने अक्षुण्ण रक्खा था और वही समान अधिकार स्त्री को नही दे रक्खा था। प्राकृत भाषाओ के काल के पूर्व माँ की बहिन (मातृष्वसा) और बाप की बहिन (पितृष्वसा) के लिए अलग-अलग शब्द थे पर मौसा और फूफा के लिए नही, यद्यपि लडकी के पति (जामातृ) के लिए विशिष्ट शब्द था। इससे स्पष्ट है कि कुटुम्ब मे मौसा और फूफा का कोई स्थान नही था। भाषा का ऐतिहासिक या तुलनात्मक अध्ययन इतिहास के उन अगो पर जिन पर पर्दा पडा हुआ है, प्रकाश डाल सकता है। इस तरह भाषा-विज्ञान द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अन्य इतिहासिक सामग्री के अभाव मे अमूल्य होता है।

भाषाविज्ञान की मदद से प्रागैतिहासिक काल के बारे मे भी कुछ न कुछ ज्ञान मिल जाता है, उदाहरणार्थ प्राचीनतम आर्यों के विषय मे प्राचीन आर्य भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन से बडी रोचक सामग्री प्राप्त होती है। ये परिवार बना कर रहते थे—जिसमे माँ-बाप, भाई, बहिन, लडकी आदि होते थे तथा स्त्री विवाह के अनतर पति के परिवार मे आकर शामिल हो जाती थी। पशुपालन मुख्य व्यवसाय था—विशेष

कर, गाय और घोडे का। सभवत नगर बना कर नही रहते थे और कृषि भी बहुत नही जानते थे। कई वृक्षो से परिचय था तथा कई प्रकार के पशु-पक्षियो से। सौ तक के गिनती के शब्द थे, हजार का नही। ईश्वर के लिए कोई एक शब्द नही मालूम होता—शायद *द्यौ' पिता* बाद को बना। इनका आदि निवासस्थान कहाँ था इसका शब्दो के तुलनात्मक अध्ययन से प्रत्यक्ष ज्ञान नही प्राप्त होता, अनुमान कई वाद उपस्थित करता है—(क) उत्तरपूर्वी यूरुप, (ख) मध्य एशिया, (ग) उत्तरी ध्रुवप्रदेश तथा (घ) सप्तसिंधु का देश।

भाषाविज्ञान के अध्ययन मे भूगोल से भी मदद मिलती है। पहाड मरुभूमि, सागर आदि भाषा के प्रसार मे कैसी कठिनाइयाँ उपस्थित करते है, किन्ही प्रदेशो मे बोलियो की सख्या अधिक क्यो हो जाती है किन्ही मे कम क्यो—इत्यादि प्रश्नो पर तत्सबधी भूगोल के अध्ययन से यथेष्ट प्रकाश पड सकता है। स्थानो, नदियो आदि के नामो के इतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन से भूगोल-सबधी रोचक सामग्री उपस्थित हो सकती है जो ऐतिहासिक भूगोल के काम की चीज है।

भाषाविज्ञान तथा *नृतत्वज्ञान* का भी गहरा सबध है। आदिम मनुष्य की अवस्था तथा उसके विकास की सीढियो को समझने मे भाषा की उत्पत्ति की जटिल समस्या पर प्रकाश पडता है। जातीय सम्मिश्रण का भाषा पर प्रभाव पडता है अथवा नही, विभिन्न जातियाँ क्या एक भाषा का प्रयोग कर सकती है, जाति तथा भाषा का कोई अन्योन्याश्रय सबध है या नही इन तथा इस प्रकार के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नो को सुलझाने मे नृतत्वज्ञान भाषाविज्ञान की सहायता करता है। आदिम तथा बर्बर जातियो की बोली के सम्यक् अध्ययन मे भी नृतत्वज्ञान की सहायता अपेक्षित होती है।

भाषा और **वाङ्मय** का भी सबध है। वाङ्मय द्वारा हमे प्राचीन भाषाओ का ज्ञान प्राप्त होता है जिससे भाषा के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन मे सहायता मिलती है। वैदिक वाङ्मय मौखिक

परपरा से, और भारतीय प्राचीन पडितो के पदपाठ, सहितापाठ, घनपाठ आदि कृत्रिम किन्तु बहुपकारक साधनो द्वारा सुरक्षित रहा, और आज बडे काम की चीज है। प्राचीन गाथाएँ प्राय पद्यबद्ध, धर्म-सबधी अथवा वीरपूजा-सबधी भी प्राचीनकाल से ही मौखिकरूप से सुरक्षित रहती आई है, और भाषा के अध्ययन के लिए बहुमूल्य साबित हुई है। जब से मनुष्य को लेखन-कला का सहारा मिल गया तब से तो वाङमय को सुरक्षित रखने मे बडी आसानी हो गई। भाषाविज्ञान के लिए यही बहुमूल्य सामग्री है, इस वाङमय के बिना भाषाविज्ञान की टॉग टूटी रहती। लेख से जहाँ इतना सहारा मिलता है वहाँ कभी-कभी भाषा के शब्दो मे भ्राति भी उपस्थित हो जाती है—हम बोलते है *सिघ्, भूक्, हात्* पर लिखते है *सिंह, भूख* और *हाथ*। जहाँ पानी का *बरसना* सरल मार्ग से आया है वहाँ बर्खा (वर्षा) सस्कृत के पडित के मुख से निकली है। यह सभव नही कि लेख ध्वनियो को बिल्कुल यथातथ्य रूप मे उपस्थित कर सके पर तब भी उसमे उच्चारण का एक व्यावहारिक प्रतिबिम्ब तो आवश्यक है ही। वाङमय का अस्तित्व भाषा के विकास के अस्तित्व की रोक-थाम नही कर सकता, हाँ यदि पढने-लिखने की मात्रा मनुष्य-समुदाय मे बढ जाती है और सब जगह फैल जाती है तो लेख का प्रभाव भाषा के विकास पर पडे बिना नही रहता।

भाषाविज्ञान का *व्याकरण* (भाषाशास्त्र) से केवल इतना सबध है कि व्याकरण किसी भाषा की ध्वनियो और शब्द-रूपो का यथातथ्य सामान इकट्ठा करके दे देता है और उसका उपयोग भाषाविज्ञान कर लेता है। इसके अलावा और कुछ नही। जैसे किसी व्याकरण का ज्ञान उस भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उपादेय है उसी प्रकार कई भाषाओ का तुलनात्मक व्याकरण तत्सम्बन्धी तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के लिए।

सक्षेप मे हम कह सकते है कि भाषा के विज्ञान का सबध मनुष्य के सभी इतर ज्ञान से है और यह ठीक भी है, क्योकि दर्शनकार बताते

ही है कि ज्ञान अखड, अनत तथा एक है—*सत्य ज्ञानमखड ब्रह्म एकमेवाद्वितीय।*

भाषा वाक्यो का समूह है। विज्ञान की दृष्टि से हम लोग वाक्य ही बोलते है, ये वाक्य प्राय पॉच-छ शब्दो से अधिक के नही रहते। लम्बे-लम्बे वाक्य जो हमे साहित्यिक भाषा मे मिलते है स्वाभाविक नही, कृत्रिम है। कभी-कभी वाक्य मे एक ही दो शब्द रहते है। ऐसे वाक्यो के बाकी के शब्द अपेक्षित होते है और उच्चारण के बिना ही सुनने वाला उन्हे समझ जाता है। इस प्रकार वाक्य स्वत पूर्ण होता है। वाक्य शब्दो से बनता है, यद्यपि इन शब्दो का अस्तित्व और पार्थक्य, विज्ञान की दृष्टि मे, उतना प्रमाणित नही जितना वाक्य का। प्रत्येक वाक्य के उपरान्त मनुष्य क्षणमात्र के लिए रुकता है तब दूसरे वाक्य को प्रारम्भ करता है। परन्तु शब्दो के बारे मे ऐसी कोई बात नही आती। उच्चारण मे बहुधा हम अव्यया को पूर्ववर्ती शब्दो से मिलाकर बोलते है और जहॉ सधि का प्रयोग अधिक हो वहॉ तो दो प्रधान शब्दो को भी मिला देते है, जैसे (१) *इन्द्रश्च वरुणश्च* (२) *इन्द्रश्चाग्निश्च* (३) *बोल्ले गया,* (४) *माड्डाला* (५) *पडिज्जी*। इन सभी उदाहरणो मे व्याकरण की दृष्टि से जितने शब्द है, उच्चारण की दृष्टि से उतने नही। प्रथम उदाहरण मे व्याकरण चार शब्द बताता है, पर उच्चारण दो ही। कभी-कभी व्याकरण की दृष्टि से जिसे एक शब्द कहेगे वह वाक्य म दो विभिन्न स्थानो मे दो टुकडे हो कर दिखाई देता है। वैदिक भाषा मे उपसर्ग और क्रिया के बीच मे बहुधा कई शब्द आ जाते हैं। फ्रेच *न पा* एक शब्द है और उसका अर्थ है *नहीं* पर वाक्य मे *न* आरम्भ की ओर, और *पा* अत की ओर आता है, और बीच मे अन्य शब्द। इस प्रकार शब्द का अस्तित्व नितात असदिग्ध नही है। इस प्रकरण पर आगे पुन विचार करेगे। परन्तु शब्द का कोई अस्तित्व उच्चारण मे न भी झलके तो भी दिमाग मे रहता ही है अन्यथा हम शब्द के रूप न बना सकते। वाक्य मे प्रत्येक शब्द एक दूसरे की आकाक्षा रखता है। और सान्निध्य तो चाहिए ही। इसी प्रकार का शब्द-समूह

अथवा वाक्य ध्वनियो का समूह होता है। भाषाविज्ञानी ध्वनियो का पृथक्-पृथक् अस्तित्व मानते है। प्रत्येक वाक्य का अर्थ वाक्यार्थ तथा प्रत्येक शब्द का पदार्थ होता है। शब्द की अभिधा शक्ति से एक अर्थ हो, पर लक्षणा और व्यजना से दूसरा ही तात्पर्य निकल सकता है, इस बात का बडा सुन्दर स्पष्टीकरण भारतीय भाषातत्वविदो ने सदियो पूर्व कर रक्खा है।

भाषा के इस प्रकार क्रमश चार अग हुए—वाक्य, पद, ध्वनि और अर्थ। और इन्ही के अनुसार भाषाविज्ञान की भी चार शाखाएँ है--**वाक्यविज्ञान, पदविज्ञान, ध्वनिविज्ञान, और अर्थविज्ञान**।

वाक्यविज्ञान मे वाक्यो का परस्पर सवध, किसी वाक्य मे पदो का परस्पर सवध तथा उनका अपेक्षाकृत स्थान, पदो की परस्पर अपेक्षा, आकाक्षा और सान्निध्य आदि का विचार होता है। हिन्दी के वाक्य मे पहले कर्त्ता, फिर कर्म और अन्त मे क्रिया क्यो होती है और इतिहासिक दृष्टि से देखते हुए यह क्रम कब से आया है? अँगरेजी से तुलना करने पर वाक्यविज्ञान ही इस कुतूहल को शात कर सकता है कि हिन्दी मे कर्म बीच मे और अँगरेजी मे अत मे क्यो आता है। वाक्य विज्ञान शायद इस प्रकार के व्यावहारिक प्रश्नो का भी उत्तर दे कि हिन्दी के परसर्ग (विभक्तिसूचक अव्यय) सज्ञाओ के साथ मिला कर रखने चाहिए या अलग।

पदविज्ञान का कर्तव्य पदो का प्रत्येक दृष्टि से अध्ययन करना है। पद मे अर्थसूचक कौन अश है और सबधसूचक कौन, धातु, प्रत्यय, उपसर्ग आदि का परस्पर क्या सबध है, सज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि मे परस्पर क्या भेद है और क्यो उत्पन्न हुआ, व्याकरण द्वारा निर्धारित यह श्रेणी-विभाग कहाँ तक विज्ञान पर निर्भर है और कहाँ तक वैयाकरण की सुविधा पर, इत्यादि विविध प्रश्न जो पद के सबध मे उठते है उनका समाधान पदविज्ञान ही कर सकता है और पदविज्ञान भी भाषा की इतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से देखा जा सकता है।

ध्वनिविज्ञान द्वारा ध्वनियो का अध्ययन होता है। ध्वनियत्र

का सिंहावलोकन, ध्वनियो का विश्लेषण ध्वनियो के मात्रा, बलाघात, सुर आदि गुण, ध्वनिविकार, अक्षर का निर्माण इत्यादि प्रश्नो का विचार ध्वनिविज्ञान के ही अतर्गत है।

अर्थविज्ञान अर्थ के विषय मे पूर्ण रूप से विचार करता है। व्यक्ति-वाचक, भाववाचक, वस्तुवाचक आदि सज्ञाएँ किस प्रकार अर्थ ग्रहण करती है, कैसे धातु का कुछ अर्थ होता है किंतु पद का कुछ और ही, पद की ध्वनियो और अर्थ का परस्पर सबध, अर्थ मे परिवर्तन और इस परिवर्तन के कारण, इन सब बातो पर अर्थविज्ञान ही प्रकाश डालता है। किसी भाषा के अर्थ का अध्ययन ऐतिहासिक अथवा तुलनात्मक दृष्टि से भी हो सकता है।

इन चारो शाखाओ की सहायता लेकर व्युत्पत्ति का विज्ञान चलता है। किसी शब्द के मूल रूप और ऐतिहासिक दृष्टि से उसके विकार-क्रम की खोज करना व्युत्पत्ति के अतर्गत आता है।

इन मुख्य शाखाओ के अतिरिक्त किसी भाषा के शब्दकोश को उठा कर अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से अध्ययन करना भी भाषा-विज्ञान के ही अतर्गत समझना चाहिए। यही नही, किसी प्रदेश अथवा जाति के पुरो, ग्रामो और व्यक्तियो के नामो का अध्ययन भी उस प्रदेश अथवा जाति की सस्कृति आदि के बारे मे बडी रोचक सामग्री उपस्थित करता है और सामान्य रूप से भाषाविज्ञान के अतर्गत है।

कभी-कभी लोग पूछ बैठते है कि भाषाविज्ञान का अध्ययन क्यो करना चाहिए इसका उपयोग ही क्या है? इस प्रश्न का सामान्य उत्तर यही है कि विज्ञान का उपयोग मनुष्य को, ज्ञान की नैसर्गिक पिपासा को सन्तोष देना है। जैसे दर्शन, भूतविज्ञान, इतिहास आदि के अध्ययन से हमे शांति मिलती है उसी प्रकार की शांति, भाषा-विषयक कौतूहल की तृप्ति, भाषाविज्ञान के अध्ययन के द्वारा प्राप्त होती है। नितान्त व्यवहार की दृष्टि से भाषाविज्ञान के अध्ययन से भाषा का स्वरूप तथा पूर्ववर्ती भाषाओ का ज्ञान सुगमता से प्राप्त हो सकता है। भाषा-सबधी जो जटिल समस्याएँ (पारिभाषिक शब्द, लिपि, राष्ट्रभाषा आदि

के बारे मे) किसी देश और काल मे उपस्थित होती है उनका सुलझाना जिस खूबी से भाषाविज्ञान-विद् कर सकते है अन्य नही।

भाषाविज्ञान के अध्ययन का *अधिकारी* कौन है? प्रत्येक ऐसा समझदार व्यक्ति, जो भाषा-सबधी उच्च ज्ञान की पिपासा रखता है इस विषय के अध्ययन का अधिकारी है। अध्ययन प्रारभ करने के पूर्व यदि मनोविज्ञान और मनुष्य-शरीर के ऊपरी भाग की गठन का साधारण भी अध्ययन करके आदमी भाषाविज्ञान की ओर कदम बढाएगा तो उसे सुविधा होगी।

इस विज्ञान के मूलतत्वो का अध्ययन करते समय विद्यार्थी को उनकी परख अपनी मातृभाषा पर (अपने और निकटवर्ती जनो पर) घटित करके, करते रहना चाहिए और उदाहरण यथासभव अपनी मातृभाषा से सगृहीत करने चाहिए। ध्वनियो के अध्ययन के समय कानो को सदा सतर्क रखना चाहिए और यथासभव लिखित भाषा द्वारा उत्पादित भ्रमजाल से दूर ही रहना चाहिए। भाषा के मूलतत्वो को ग्रहण करके इतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन की ओर बढा जा सकता है। इसका कुछ-कुछ आभास तो सामान्य सिद्धातो के अध्ययन के समय भी उदाहरणो द्वारा उपस्थित हो जाता है।

आठवाँ अध्याय

भाषा का विकास

इस ससार की हर चीज़ परिवर्तनशील है। कुछ का परिवर्तन इतनी जल्दी-जल्दी होता है कि वह हमे प्रत्यक्ष जान पडता है, कुछ का बहुत धीरे-धीरे, इतने धीरे कि हमे मालूम नही पडता। मेज पर के फूलदान के फल कितनी जल्दी कुम्हलाते है और फिर कितने शीघ्र उनकी पखुडियाँ गिरने लगती है, इसका अनुभव साधारण मनुष्य को भी हो जाता है। पर मेज मे भी परिवर्तन हो रहा है इसका अनुभव दो-चार महीने या दो-चार साल क अनुभव और इस्तेमाल से नही होता। बच्चा कितनी जल्दी-जल्दी बढता है, उसके परिवर्तन का अनुभव आसानी से हो जाता है, पर जवान आदमी मे भी परिवर्तन होता है, उसे सरलता से नही मालूम किया जाता। प्रतिक्षण प्रति ऐहिक वस्तु मे परिवर्तन होता रहता है, कोई चीज स्थिर नही है। यही भारतीय क्षणिकवाद का अटल सिद्धात है, जो 'इद सर्व यत्किञ्च जगत्या जगत्' द्वारा प्रकट है। कवि की दृष्टि मे यह परिवर्तन ही जीवन है। अस्तु।

भाषा भी परिवर्तनशील है। किसी भी भाषा को उदाहरण के लिये ले ले। प्रति अवयव मे—क्या ध्वनि, क्या पद, क्या वाक्य-विन्यास और क्या अर्थ, सभी मे परिवर्तन होता रहता है और इसका अदाज किसी भी भाषा के सौ-दो सौ वर्ष पूर्व के रूप के साथ तुलना करने से लग सकता है। भाषा की देश काल के अनुसार जिस अनेक-रूपता का हमे अनुभव होता है वह भाषा की परिवर्तनशीलता की गवाही दे रहा है।

इस परिवर्तन को कोई उन्नति, कोई अवनति के नाम से पुकारते

है, कोई कहते है कि फलाँ रूप घिस कर ऐसा हो गया, कोई कहते हैं कि अमुक रूप ने बढ कर ऐसी शकल ग्रहण कर ली। इन सारे परिवर्तनो को **विकास** कहना चाहिए—*आदित्यवार* विकसित होकर *इतवार* हुआ और *एकादश ग्यारह*। इसी प्रकार *अलाबु* से *आलू* और *लौकी* का तथा *भक्त* से *भगत* का विकास हुआ। विकास मे उन्नति और अवनति का सवाल नही उठता, वह अवश्यभाविता का परिचायक है। भाषाविज्ञानी यह मानने को तय्यार नही कि आज जो भाषा एक समुदाय बोलता है वह दो पीढी पूर्व या उपरात बोली जाने वाली भाषा से अच्छी या बुरी है। अपने-अपने समय के लिये सभी अच्छी है। विकास मे एक आशावादित्व छिपा हुआ है, जो अभाव म भी उपयोग की आशा रखता है। बीज अपने को धरती मे खोकर ही सैकडो बीजो की सृष्टि करता है।

भाषा के परिवर्तन के कारण भाषा मे ही मौजूद है। उसे हम परपरा से सीखते है, इस कारण यह निश्चय ही है कि हम उसे ठीक वैसी ही नही ग्रहण कर पाते जैसी कि वह उनके पास है जिनसे हम सीखते है। भाषा अन्य मनुष्यो के ससर्ग से सीखी जाती है और प्रत्येक मनुष्य का ससर्ग भिन्न होता है। एक ही परिवार मे कोई वकील है तो कोई अध्यापक, कोई व्यापारी। ये सभी अलग-अलग समुदायो मे काम करते है, अलग-अलग के प्रभाव इन पर पडते है। परिवार मे स्त्रियो की स्थिति बहुधा पुरुषो से भिन्न रहती है। इनको बाह्य ससर्ग का उतना मौका नही रहता जितना पुरुषो को, इसीलिए इनकी बोली मे परिवर्तन उतनी तेजी से नही होता जितनी से पुरुषो की बोली में। इस पर भी, सुसगठित परिवार के व्यक्तियो की भाषा उतनी जल्दी परिवर्तन नही ग्रहण करती जितनी एक विशृखल परिवार वालो की।

वैज्ञानिक रीति से देखा जाय तो मानना पडेगा कि कोई दो व्यक्ति बिल्कुल एक तरह की भाषा नही बोल सकते। दो व्यक्तियो के बोलने के भेद को हम पहचान लेते है, पर उसे व्यक्त नही कर पाते। यदि जरा दूर पर हमारी नज़र से ओझल दो परिचित जन बोल रहे हो तो

हम उनकी आवाज मे ही जान लेते है कि कौन बोल रहा है। पर कभी-कभी दो बहिनो की या दो भाइयो की या भाई-बहन की आवाज मे भेद की मात्रा इतनी कम स्पष्ट होती है कि भ्रम हो जाता है। इस भेद का कारण व्यक्तियो के अभ्यास पर मुख्य रूप से और उनकी शारीरिक गठन पर आशिक रूप से निर्भर है। हमारा उच्चारण-यत्र इतना बढिया बना हुआ है कि हम सूक्ष्म भेद वाली अनेक ध्वनियो को बोल सकते है पर वे सुनने वाले को एक सी प्रतीत होगी। कई तरह का क्, कई प्रकार का प्, बोला जा सकता है, जिनकी सूक्ष्मता की परख मनुष्य का कान अथवा कोई भी यत्र नही कर सकता। एक ही मनुष्य ठीक एक ही स्थान और उतने ही प्रयत्न से एक ध्वनि का उच्चारण करता है, यह भी तो नही कहा जा सकता। फिर शब्द मे स्थान के अनुसार भी किसी ध्वनि के स्वरूप मे अतर पड सकता है—*'काला'* का अतिम *'आ'* बिलकुल उतनी ही मात्रा का नही है जितनी का पहले का। इस प्रकार व्यक्तियो की भाषा की विभिन्नता उच्चारण मे रहती है। इसी तरह अर्थ-सबधी विभिनता भी स्वाभाविक है क्योकि अर्थ अनुभव-जन्य है और स्मृति और अनुभव के सयोग से बदलता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति की स्मृति और अनुभव दूसरे की स्मृति और अनुभव से भिन्न होते है।

इस प्रकार चाहे उच्चारण की परिस्थिति (भाषा के बाह्य स्वरूप) अथवा अर्थ की परिस्थिति (भाषा के आतरिक स्वरूप) से देखा जाय, किन्ही भी दो व्यक्तियो की भाषा यथार्थ रूप मे समान नही होती। किंतु व्यक्तियो की यह भाषा-विभिन्नता वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा ज्ञात होती है व्यवहार मे नही। व्यवहार मे यह विभिन्नता उसी प्रकार समुदाय की भाषा मे लय हो जाती है जिस प्रकार लहर मे बूंद। एक समुदाय और दूसरे समुदाय मे जब तक ससर्ग की प्रचुरता रहेगी, विभिन्नता कम होगी, पर उसमे ढिलाई पडते ही विभिन्नता को अपना प्रस्तार करने का अवकाश मिल जायगा।

सामान्य रूप से हम कह सकते है कि एक सुश्लिष्ट कुटुम्ब की भाषा

एकरूप होती है और इससे कम मात्रा मे एकरूपता कई कुटुम्बो के सुसगठित समुदाय—ग्राम—मे होती है। गॉव मे यदि जातियो के अनुसार मुहल्ले बसे हो, जैसा कि बहुधा होता है, तो विभिन्नता के मोके अधिक रहते है। कबरिए जुलाहे पास के गॉवो के मुल्ला-मौलवियो के ससर्ग से कुछ अधिक विदेशी शब्दो के (विशेष कर अपने दीन के सबध के) इस्तेमाल के आदी हो जाते है। पूजा-व्रत मे लीन पुजारी बाबा की बोली मे गलत-सही कुछ सस्कृत के शब्द आ ही जायँगे और पट्टा, कबूलियत, खसरा खेतौनी मे करामात करने वाले लेखपाल जी की बोलचाल मे भी कुछ नागरिकता का आ जाना स्वाभाविक है। करबे के स्कूल से पढ कर आये हुए विद्यार्थी भी कुछ-न-कुछ परिवर्तन उपस्थित ही कर देगे और कलकत्ता बम्बई अथवा कानपुर मे दस-पॉच साल मजदूरी कर के बढिया कपडे और गहने खरीद कर लाने वाला सफल आदमी भी गॉव मे यदि दस-पॉच शब्दो का प्रवेश करा दे तो कोई अचरज नही। और यदि दूर के गॉवो से बहुत-सी बहुएँ ब्याह कर आ जाएँ तो भी कुछ नए शब्दो के समावेश की सभावना है। साधारण रीति से बहुएँ बहुत जल्दी ससुराल की बोली बोलने लगती है और मायके की भूल जाती है। उनको केवल सास-ससुर, जेठ-जेठानी की डाट का ही डर नही रहता बल्कि अपने पति और देवर-देवरानियो के हँसी-मजाक का भी भय रहता है। इसलिए निकरब के स्थान पर निसरब अथवा ईख के स्थान पर ऊख का उच्चारण विषम वातावरण मे नही ठहर पाता। पर जहॉ परिवार का इतना अकुश नही है वहॉ नए शब्द प्रवेश कर ही जाते है। इस तरह ससर्ग अपने प्रभाव के चमत्कार अनेक (और कभी-कभी दुर्ज्ञेय) प्रकार से दिखाया करता है।

सवाल होता है कि परिवर्तन के इतने ठोस हेतुओ क अस्तित्व मे, परिवर्तन अधिक तीव्र गति से क्यो नही होता? इसका उत्तर यही है कि भाषा के प्रयोजन मे ही परिवर्तन की गति की बाधा मौजूद है। भाषा का प्रयोजन मनुष्य के विचारो को परस्पर व्यक्त करना है। इस व्यक्तीकरण मे जो बाधाएँ उच्चारण-सबधी और अर्थ-सबधी, उपस्थित

होगी, उनके विरुद्ध मनुष्य-समुदाय झुँझलाएगा। जितनी अनायास आ जाएँगी उन्हे वह सह लेगा। भाषा के समझने मे जो विषमता उपस्थित होगी उसके विरुद्ध समुदाय खडा होगा। यदि बच्चा ले *पाना* के वजन पर *पा पाना* कहेगा, तो उसके माँ-बाप तुरन्त उसे समझा देगे कि 'पाना' धातु के साथ दूसरा *पाना, सकने* के अर्थ मे प्रयोग मे नही आता इसलिए *पा सकना* कहो, चाहे कारण बताए या न बताएँ पर प्रयोग की शुद्धि-अशुद्धि का ज्ञान उसे करा ही देगे। इसी प्रकार यदि विद्यार्थी ने *कर्* धातु से *करा* रूप बनाया और उसे अपने लेख मे लिखा तो गुरूजी *करा* को काट कर *किया* लिख देगे। अथवा बालक जब *घली* और *छात* कहेगा तब उसके बडे भाई और बहिन मुस्कुराएँगे, दो-एक बार उसे चिढाएगे भी और वह घोर प्रयत्न करके थोडे ही दिनो मे *घटी* और *सात* कहने लगेगा। उच्चारण और अर्थ दोनो मे, परिवर्तन अपने आप अनजान मे होता रहता है, जान मे भी ऐसा परिवर्तन जो तुच्छ है सहा जा सकता है। पर घोर परिवर्तन बहुत कम होता है और जब होता भी है तब समुदाय जब उसे अगीकार कर लेने को तैयार ही रहता है तभी होता है। *असुर* शब्द के अर्थ का *देवता* से *राक्षस* मे परिवर्तित हो जाना आर्य जाति को किसी बडी ठेस के लगने का द्योतक है। इसी प्रकार *देवाना प्रिय* का अर्थ मूर्ख हो जाना पडितवर्ग के बौद्धमत और उसके महापुरुषो के प्रति द्वेष का ही सूचक हो सकता है। अँगरेजो को भारत के 'न्यायप्रिय शासक' के स्थान से देश को गुलामी मे जकडे रखने वाली 'बेईमान जाति' की हीनता पर ला पटकने वाली भारतीय मनोवृत्ति भी तो मनोवृत्ति के धीरे-धीरे और फिर किसी महापुरुष की प्रेरणा से झटके के साथ जोर से बदल जाने का ही तो उदाहरण थी जो स्वराज-प्राप्ति के बाद बदल रही है।

क्या परिवर्तन तुच्छ है और क्या महत्त्व के, इसका निर्णय हर भाषा अथवा उसे बोलने वाला समुदाय स्वय करता रहता है। बगाली और नेपाली भाषाओ मे स्वरो की मात्रा मे व्यतिक्रम होने से उतना भ्रम नही होता, इसलिए वहाँ वह सह्य है परन्तु हिन्दी मे उसका महत्व

है (नही तो *कटना काटना, मरना मारना* मे अतर न रहे), इसलिए व्यतिक्रम नही आने पाता। जर्मन भापा मे अतिम व्यजन सघोष हो अथवा अघोप इसमे विशेष अतर नही पडता, इसलिए द् लिख कर भी त् बोल सकते है (और *गुद्* को *गुत्* कह सकते है) पर अँगरेजी मे ऐसा नही करने पाते क्योकि ढेरो ऐसे शब्द है जहाँ इस अतर के न रखने से घपला हो जाय (और इसीलिए *किट्-किड्, कैप्-कैब्, रिप्-रिब्* मे उच्चारण का भेद रक्खा जाता है)।

इस प्रकार भापा के विकास मे परिवर्तन कुछ अश मे होता रहता है और कुछ मे नही। सृष्टि के ऋत (गति के नियम) और सत्य (स्थिति के नियम) सदा ही काम किया करते है और इस जगती के जगत् का एक उदाहरण भाषा इन नियमो के चक्र के बाहर नही जा सकती। काल-भेद से एक ही भापा को अवस्थाओ के अनुसार हम अनेक नाम देते आए है पर वह धारा एक ही है। एक ही धारा कही भागीरथी, कही गगा तो कही हुगली हो जाती है। दर्शनकारो ने सवाल उठाया था कि साल भर का बच्चा जब विकसित होता होता दस साल का हो जाता है तब वह वही रहता है या दूसरा हो जाता है ? उत्तर मिला था कि न हम यही कह सकते है कि वही है और न यही कह सकते है कि अन्य है। वह वही भी है और नही है, और अन्य भी है और नही है। दार्शनिक ढग से यही उत्तर भापा के बारे मे भी दिया जा सकता है।

नवाँ अध्याय

विकास का मूल कारण

पिछले अध्याय मे हम देख चुके है कि ससार की प्रत्येक अन्य वस्तु की तरह भाषा का भी निरतर विकास होता रहता है, यह विकास ही सृष्टि के हर पदार्थ का नियम है। यह विकास गति और स्थिति क विचित्र समिश्रण के रूप मे प्रगट होता है। भाषा-विज्ञानियो ने इस विकास के मल कारण को ढूंढने का प्रयत्न किया है और इस सबध म विविध विद्वानो के विविध मत है। सामान्य रूप से चार वाद उपस्थित किए जाते है।

पहला वाद

शारीरिक विभिन्नता—प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य से शरीर क सस्थान की दृष्टि से भिन्न है, उसके उच्चारण के अवययो की नाप तथा उसके मस्तिष्क की गुरुता दूसरे के अयवयो और मस्तिष्क से भिन्न है। जो शरीर विशालकाय जर्मन का है वह जापानी का नही, और जो मस्तिष्क आर्य ब्राह्मण के कधे के ऊपर स्थित है वह पचम जाति के अछूत का नही। इसी प्रकार इससे कम मात्रा मे विभिन्नता एक ही जाति अथवा देश के विभिन्न व्यक्तियो मे पाई जाती है। परमेश्वर ने कोई दो व्यक्ति समान नही बनाए।

शरीर-भेद के कारण भाषा-भेद होता है, यह वाद परीक्षा करने पर युक्ति-सगत नही जंचता। हमारे रोज के अनुभव की बात है कि एक ही समुदाय मे बडे कद के भी आदमी होते है और छोटे भी, मोटे भी और दुबले-पतले भी, बडे सिर वाले भी और छोटे सिर वाले भी, लबे सिर वाले भी और गोल सिर वाले भी, पर इनके कारण समुदाय की भाषा मे विभिन्नता नही आती। इसी बात को और सकुचित और सुश्लिष्ट

क्षेत्र (परिवार) में जाँचें तो वहाँ भी यही परिणाम पाएँगे। संसर्ग का भेद न होने पर, कन्नौज के ब्राह्मण से अपनी उत्पत्ति बताने वाला बंगाली ब्राह्मण और सीधे हज़रत मुहम्मद के खानदान से सिलसिला जोड़ने वाला बंगाली मुसलमान बंगाल के किसी गाँव में पैदा होकर और जन्म बिता कर एक ही बोली बोलते दिखाई देते हैं। जो महाराष्ट्र के ब्राह्मण कुमायूँ में जाकर दो सौ वर्ष पहले बस गए थे उनके वंशज उतनी ही शुद्ध कुमाऊँनी बोलते हैं जितनी कि वहाँ बहुत पहले से रहने वाली क्षत्रिय अथवा डोम की सन्तान। गढ़वाल में कई पीढ़ी पूर्व आकर बसा हुआ चीनी परिवार उतनी ही सुन्दर गढ़वाली का प्रयोग करता है जितनी कि कोई अन्य गढ़वाली। कोई-कोई हिन्दुस्तानी परिवार विलायत में जाकर बस गए हैं और उनके बच्चे वहाँ शुद्ध अँगरेज़ी बोलते हैं। इसी प्रकार कोई कोई हिन्दुस्तानी अँगरेज़ी मेमें ब्याह कर ले आते हैं। इनके बच्चे भाषा की दृष्टि से पूर्णरूप से परिवार में खप जाते हैं। फिर शारीरिक भेद पर भाषा-भेद की निर्भरता कहाँ रही?

दूसरा वाद

भूगोलिक विभिन्नता—कुछ विद्वानों का मत है कि भूगोलिक परिस्थिति के अनुसार भाषा में विभिन्नता आ जाती है। पहाड़ आदि ठंडे प्रदेशों के निवासी जाड़े के कारण उतना मुँह नहीं खोल सकते जितना कि मैदान वाले रेगिस्तान वाले मुँह ढके रहते हैं। इन कारणों से एक प्रकार की भूगोलिक स्थिति वाले प्रदेश की भाषा दूसरे प्रदेश की भाषा से भिन्न होती है। यही भाषा-विभेद का कारण है।

यह वाद भी तर्क-कसौटी पर खरा नहीं उतरता। एक बार जब भाषा प्रवाह में आ गई तो भूगोलिक परिस्थिति उसके बनाने या बिगाड़ने में सहायक या बाधक नहीं होती। और जो युक्ति इस वाद के पक्ष में दी जाती है वही इसके विपरीत बैठ सकती है। पहाड़ों और रेगिस्तानों के निवासी जलवायु की असुविधा के कारण ही तो ज्यादा मजबूत होते हैं, कठिन परिश्रम के आदी होते हैं, फिर उन्हें मुँह खोल कर

स्पष्ट उच्चारण करने मे क्या दिक्कत होनी चाहिए ? और मैदानो के आदमी सुगम जलवायु के कारण शिथिल भी रहते है। जरूरी न होने के कारण कठिन मेहनत भी नही कर पाते। फिर मुँह खोल कर वे स्पष्ट उच्चारण क्यो करे ? वर्तमान भाषाओ की समीक्षा से भी यह परिणाम नही निकलता कि पहाडी अथवा रेगिस्तानी प्रदेशो की भाषा मे और मैदानो की भाषा मे, स्पष्टता अस्पष्टता आदि का कोई भेद है।

तीसरा वाद

जातीय मानसिक अवस्था-भेद—कुछ लोगो का विचार है कि किसी किसी जाति (अथवा राष्ट्र) की मानसिक अवस्था दूसरी जाति अथवा राष्ट्र की मानसिक अवस्था से ऊँची या नीची होती है और इसी कारण भाषा मे भेद उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए जर्मन विद्वानो का मत है कि उनकी भाषा मे एक सौष्ठव और गति है जो अग्रेजी आदि भाषाओ मे नही है और उनकी राय से भाषा का यह सौष्ठव और यह गति उनकी जातीय मानसिक गति और सौष्ठव के कारण है। इसी प्रकार फ्रेंच भाषा में एक अद्भुत लालित्य है जो उस जाति की ललित मानसिक अवस्था का परिचायक है। इसी तरह कोई कह सकता है कि बगाली भाषा मे दुरूह सयुक्त व्यजनो तथा मूर्धन्य व्यजनो के अभाव से जो माधुर्य आता है वह उनके सौन्दर्यानुभव और स्त्रीत्व के प्रभाव से तथा भाषा की द्रुतगति उनके तेज दिमाग के कारण है। और मद्रासी जो खटाखट कठिन से कठिन मूर्धन्य व्यजन जल्दी-जल्दी बोलता जाता है वह उसकी इस मानसिक अवस्था का परिचायक है कि वह विषम जलवायु की परिस्थिति मे भी अपना काम सुगमता और खूबी से कर सकता है।

कोई भाषा अन्य भाषा की अपेक्षा अधिक द्रुतगति से विकसित होती है, इसमे मूल कारण सगठन की शिथिलता, और सुश्लिष्टता की कमी ही होती है, किसी जाति की मानसिक अवस्था की उच्चता

या नीचता नही। ऐसा देखा गया है कि यदि किसी देश मे कई साल तक युद्ध जारी रहे जिसके कारण पुरुष अधिक सख्या मे सग्राम मे जुटे रहे और स्त्रियाँ अन्यान्य व्यवसायो मे, तो उस समय भाषा मे परिवर्तन की गति द्रुत हो जाती है। इसका कारण यही हे कि सीखने वाले, बच्चो की पीढी पर यथेष्ट नियन्त्रण नही रह पाता और इस प्रकार सगठन की कमी आ जाती है। यह भी सभव है कि राजनीतिक, सामाजिक आदि परिस्थितियो के कारण, युद्ध न होने पर भी, स्वतन्त्रता और निरकुशता की लहर युवकवर्ग मे फैल जाय और अन्य क्षेत्रो की तरह भाषा के क्षेत्र मे भी फैल जाय, उस समय भी भाषा मे परिवर्तनो की गति के द्रुत होने की सभावना है, क्योकि बच्चे और लडके लडकियाँ भाषा के सशोधनो की पर्वाह न करेगे और अध्यापक तथा मातापिता खीज कर रह जायँगे। भाषा के प्रवाह मे द्रुत और विलम्बित गति रहती है, और यह भी समझ मे आता है कि आपेक्षिक दृष्टि से किसी भाषा मे दूसरे की अपेक्षा द्रुत या विलम्बित गति हो। पर इसका मूल कारण केवल जातीय मानसिक अवस्था को ही समझना ठीक नही मालूम होता। सौष्ठव, लालित्य और माधुर्य आदि गुणो की मर्यादा तो अपनी-अपनी रुचि पर निर्भर है। जिस चीज को जर्मन अपनी भाषा का सौष्ठव कहता है उसी को अग्रेज या फ्रेंच रूक्षता के नाम से पुकारता है। बगाली जिसको अपनी भाषा की सुन्दरता कहता है उसी को पजाबी जनानापन कह कर हँसी उडा सकता है। भारतीय सस्कृति वाले को सस्कृत के जो पद ललित और सुरस जान पडते है वही पद इसी देश के ऐसे निवासी को जो विदेशी सस्कृति के पालने पर झुलाया गया है, करीह नजर आते। दसवी सदी के महाकवि राजशेखर के मत मे "सस्कृत की रचना रूक्ष और प्राकृत की सुकुमार है। पुरुष और महिला मे जितना अन्तर है। उतना इन दोनो मे है" किन्तु आज जब हम प्राकृत का टवर्गध्वनि-प्रचुरता देखते है तब हमे कवि की उस उक्ति मे सदेह होने लगता है। फारसी की एक कहावत का अर्थ है—

"फारसी मधुर भाषा है।" इस प्रकार हर एक को अपनी भाषा में गुण और अन्यों की भाषा में अपेक्षाकृत अवगुण दिखाई देते हैं और इस क्षेत्र में भी हमें तुलसीदास की यह अनुभूति याद आ जाती है —

निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका।

चौथा वाद

प्रयत्न-लाघव—मनुष्य का स्वभाव है कि अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए, लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कम से कम प्रयत्न करे और यदि एक ही जगह पर पहुँचने के लिए दो मार्ग हों तो छोटी-मोटी बाधाओं की भी परवाह न कर छोटा और सीधा रास्ता ही पकड़े। पहाड़ पर रोज ही का अनुभव है कि चक्करदार चौड़ी सड़क को छोड़ कर ऊबड़-खाबड़ पगडंडी पर ही अधिक लोग चढ़ कर रास्ता और समय की बचत कर लेते हैं। फाटक पर 'आम रास्ता नहीं' का नोटिस मोटे अक्षरों में टँगे होने पर भी यदि आप के बंगले से कहीं जाने का सीधा रास्ता मिलता है तो आपकी नजर बचा कर लोग आपके बंगले में हो कर जाने की अनधिकार चेष्टा करेंगे ही। और गाँवों में मेंढ-मेंढ न चलकर बोए हुए खेतों को रौंद कर जाने वालों की शिकायत और ऊपर से गाली-गलौज की बौछार हुआ ही करती है। कुली को छ पैसे की जगह अगर चार ही पैसे देने पर वह चला जाय तो कौन समझदार आदमी दो पैसे की बचत कर लेना न चाहेगा? केवल परीक्षा में पास हो जाने को ही अपना परम लक्ष्य रखने वाले विद्यार्थी को महत्त्व के ही अंशों पर निर्भर रहने और ग्रंथों के शेष अंशों को छोड़ जाने से कौन अध्यापक रोक सकता है? इस प्रकार जिधर भी निगाह डाली जाय हमें मनुष्य के कार्यों में प्रयत्न की बचत करने का सिद्धांत अंतर्निहित दिखाई देता है। यही सिद्धान्त भाषा के परिवर्तनों के मूल में भी हो सकता है।

प्रयत्न-लाघव का यह सिद्धान्त तरह-तरह से भाषा में काम करता

हुआ दिखाई देता है। और कही एक चीज मे प्रयत्न-लाघव कर के दूसरी मे प्रयत्न-वृद्धि से ही सुविधा मालूम होती हे। सुविधा ही प्रयत्न लाघव की जड है।

भाषा के वे अश जो बहुधा प्रयोग मे आते है उनका मूल अश तो रह जाता है किन्तु शरीर विकल हो जाता है। अभिवादन के शब्द व्यक्तियो के नाम, सर्वनाम, बहुव्यवहृत अव्यय इत्यादि मे काफी विकार होने पर भी मूल स्थित रहता है। इसका कारण यही हे कि बहुव्यवहार के कारण इनका अस्तित्व मस्तिष्क मे निश्चित स्थान प्राप्त कर लेता है पर प्रयोग की अधिकता के कारण इनको अशरूप से बोलने से ही काम चल जाता है। शास्त्र मे दडवत् प्रणिपात करके गुरु को अभिवादन करने का विधान दिया है और अनुमान है कि रघुवश के निर्माता के काल मे ऐसी प्रथा भी थी। धीरे-धीरे सारी देह को जमीन पर न टिका कर केवल दोनो हाथो को जोड कर टिकाने का प्रयत्न-लाघव किया गया। इसके लिए शरीर झुकाना तो पडता ही था, फिर जमीन तक हाथो को न ले जाने की प्रथा चल पडी होगी। यह प्रयत्न-लाघव की दूसरी अवस्था आई। और तीसरी अवस्था थी अपने सिर को थोडा झुका कर अजलि उस पर टेक देना। और अब गुरु के अभिवादन की चरम-सीमा बिना शरीर का कोई भी अवयव झुकाए हाथ जोड देना है, और कभी-कभी ये हाथ मस्तक के ठीक सामने न आकर दाऍ-बाऍ कधे के सामने ही दिखाई पडते है जिससे दडवत् प्रणिपात की तो नही, हॉ दडवत् प्रहार की मुद्रा की आशका होती है। इसी प्रकार बदगी करने का पुराना ढग यह था कि शरीर को काफी झुका कर दाहिने हाथ को अपने मस्तक पर ले जाकर अर्ज करना और इसकी चरम सीमा आज यह है कि हाथ (कभी-कभी बॉया भी) मस्तक तक जाता है जिससे यह आशका होती है कि मस्तक पर बैठी हुई मक्खी को उडा देने का उद्योग तो नही है। इसी प्रकार भाषा के भी प्रयत्न-लाघव के उदाहरण दिए जा सकते है। कुछ ये है —

अपर > अवर > अउर > और > औ > अ

तत >तओ>नउ>त

खलु>क्खु>हु>उ

साहब>साब

जय रामजी की>जय राम>जै राम

हुजूर>जुर

बाबू>बाउ

बाप साहब>बा साब, मास्टर साहब>माट्‌ साब >माम्साब

भाई>भइ

धीरेन्द्र>धरिन, रामेश्वर>रमेसुर, गोपीकृष्ण>गोपी, कृष्णमानसिंह>कृष्णा आदि। अथवा *हीरावल्लभ दादा>हिरदा, पद्मादत्त दादा>पद्दा सुवीरा>सुँइरा, बडी जिज्जी>बडी जी।*

अस्ति>अत्थि>आथि

आछेति>आछइ>आछे>आहि>हइ>है

वर्तते>बट्टइ>बाटइ>बा

त्वया>तुए>तुइ, तू

मया>मए>मइ, मैं

बलाघात और भावातिरेक मे भी भाषा मे परिवर्तन होता है और इसके मूल मे भी सुविधाजनक प्रयत्न-लाघव है। बलाघात के समय हम किसी विशेष अक्षर पर अधिक प्राणशक्ति खर्च कर देते है जिसका नतीजा यह होता है कि उस अक्षर का अस्तित्व तो दृढतर हो जाता है पर पास-पडोस के अक्षर कमजोर पड जाते है और एक आध उनमे से गायब भी हो *जायँ तो अचरज* नही। प्राचीन *अलाबु* शब्द के वर्तमान दो रूप *आल्* (मालवी) और *लौकी* (हिन्दी) मिलते हैं। इनमे *आल्* उस प्राकृत से आया हुआ रूप है जिस मे बलाघात प्रथम अक्षर पर था और *लौ-(की)* उसका जिसम बलाघात उपधा के अक्षर पर था। इसी प्रकार भावातिरेक मे भी भाषा मे परिवर्तन आ जाता है। बच्चे के *पाँव* को दुलार मे *पइयाँ* और *गाल* को *गल्लू* कहने लगते है। ब्रजनारी की *बाँह* का *बँहियाँ* रूप, मोहक मोहन के

अतिशय प्रेम का ही द्योतक हो सकता है। इसी प्रकार गुस्से मे *रामेश्वर* का *रमसुरा* हो जाना अथवा कल्लू का *कलुआ* हो जाना स्वाभाविक है। अतिशय प्रेमातिरेक मे भी मनुष्य अपने स्निग्ध जनो के नाम विगाड कर बोलता है—बहू का *बहुरिया*, ननद का *ननँदिया* या *भौजाई* का *भौजइया* रूप स्नेह का सूचक है। कभी-कभी जोर देने के लिए स्वर अथवा व्यजन की मात्रा दीर्घ हो जाती है—*नद्दी* (नदी), बब्बू (बाबू) आदि उदाहरण है। इन्ही मे से एकाध कारण शब्दो के वर्धित रूपो के मूल मे है—उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलो मे सज्ञाओ को बढा कर बोला जाना है यथा, *लोटवा*, *घोडवा*, *कुतवा-कुतउना*, *मुन्नना* आदि। दिल्ली की तरफ ह की जगह *हैगा*, है की जगह *हैंगे* का प्रयोग भी जोर देने की भाषा का उदाहरण है।

बडे-बडे शब्दो के पूरे रूप का उच्चारण न करके उनके आदि के अक्षरो को अथवा समस्त शब्द के प्रथम पद को ही बोल कर काम निकालना भी प्रयत्न-लाघव के सिद्धान्त का ही उदाहरण है। *इक्का* *(गाडी,) कापी (-बुक) ब्लाटिंग (-पेपर,) जोडी* (घोडो आदि की) *मोटर* *(कार)* तथा *वा० सी० (वाइसचैसलर) डी० सी० (डिप्टीकमिश्नर)* सुदि (शुक्ल दिवस—शुक्ल पक्ष का दिन अर्थात् तिथि), बदि (बहुल-कृष्ण दिन, कृष्णपक्ष का दिन अर्थात् तिथि) आदि तथा अग्रेजी *एन्० सी० ओ, एम० डी० ओ, एस० ओ०* आदि इसके उदाहरण है। शब्दो या शब्दसमूहो को प्रयत्न-लाघव के लिए छोटा कर के बोलने के कुछ विलक्षण परिणाम हो जाते है। गली मे "*लेउ साग बथुई का*" यह आवाज सुन कर हम वेचने वाले को "*ए बथुई*" कह कर बुलाते है। *जानकी (प्रसाद), लक्ष्मी (शकर), शारदा (प्रसाद)* आदि पुरुष प्रयत्न-लाघव मे *जानकी* आदि कहे जाते है, और *इन्दु (मती)* *इन्दिरा (-णी)* आदि स्त्रियाँ *इन्दु* आदि। *फैजाबाद आई, बनारस गई लखनऊ जाई* आदि मे विशेष प्रयत्न-लाघव दिखाई पडता है और इन पुँल्लिग नगरवाची शब्दो से स्टेशनो पर इन नगरो को आने-जाने वाली गाडियो का वोध होता है।

बोलते समय प्रयत्न-लाघव की दृष्टि से मन बहुधा आगे की ध्वनियों पर दौड़ जाता है और इसके कारण तरह-तरह के ध्वनि-विपर्यय भाषा में आ जाते हैं। सामान्य रीति से नीचे लिखे प्रकार के परिवर्तन देखे गए हैं।

(१) **ध्वनि-विपर्यय**—जिन पदों में *म् र्* या *ल्* की ध्वनि रहती है उनमें विशेष रूप में यह देखा गया है। यह विपर्यय कभी दो ध्वनियों में ही होता है और कभी सम्पूर्ण अक्षरों में। और यह परिवर्तन पहले-पहल बच्चों और अज्ञों की बोली से आरम्भ होता है और नियंत्रण न होने पर टिक जाता है। हिन्दी के नखलऊ *(लखनऊ)*, डूबना *(बूडना)*, कुलफी *(कुफली,)* अरमूद *(अमरूद)*, *चिन्ह (चिह्न)*, मतबल *(मतलब)*, *नहाना>हनाना*, *तकुआ>* कतुआ, बसक *(बकस)*, *जबेली (जलबी)*, और संस्कृत का *वल्मीक (वैदिक वम्री वम्र)* तथा अंग्रेजी *वर्ड (यिड्ड)*, *ऑस्क (आक्स)*, *वॉस्प (वॉप्स)* अवे० वफ्र (सं० वप्र) फा० बर्फ इसी के उदाहरण हैं। दो-तीन ध्वनियाँ यदि पास ही पास लगातार आवें तो इस भूल की संभावना अधिक रहती है। बचपन में बहुधा *तौ तचतउ तचत तो तचिहै* आदि वाक्यों के उच्चारण का अभ्यास खिलवाड़ में ही भाषा की शुद्धि कायम रखने के लिए करा दिया जाता है।

(२) **ध्वनि-लोप या अक्षर-लोप**—जब दो समान ध्वनियाँ या समान अक्षर पास ही पास आते हैं तब प्रयत्न-लाघव से अनजान में ही उनमें से एक का लोप हो जाता है, यथा सं० *जहि> जहीहि*, सं० *मदुघ< मधुदुघ*, सं० *तृथा<वृत था*, पा० *अपतिस्सावो अपतिस्सववासो* अव० *बिलइया<बिलालिआ<विडालिका* तथा *इंग्लैंड>इंग्लैंड*, हि० *बड़ी जिज्जी>बड़िजी*, हि० *छोटी जिज्जी>छोटी जी*।

(३) **समीकरण**—जब दो विभिन्न ध्वनियाँ पास-पास आती हैं तो प्रयत्न-लाघव में वे दोनों सम हो जाती हैं। यह समीकरण दो प्रकार का होता है—(क) मस्तिष्क एक ध्वनि पर जमा हुआ है और उसी समय आगे आने वाली ध्वनि का आभास आ गया तब पिछली ध्वनि ही आगे आने वाली ध्वनि को अपनी-सी कर लेती है, अथवा (ख) जब मस्तिष्क एक ध्वनि पर आधा ही ठहरा था तभी

अगली ध्वनि आ धमकी और उसने पिछली ध्वनि को सम कर लिया। इस प्रकार जब परवर्ती ध्वनि पूर्ववर्ती के समान हो जाय तो उसे पुरोगामी समीकरण और जब पूर्ववर्ती ध्वनि परवर्ती के समान हो जाय तो उसे पश्चगामी समीकरण कहते है। किसी शब्द मे इन दो समीकरणो मे से कौन-सा होगा यह बात प्राय सदा ही उन दोनो ध्वनियो के आपेक्षिक बल तथा उनके बलाघात पर निर्भर होती है और बलवती ध्वनि सदा निर्बल को दवा देती है।

उदाहरणार्थ—

(क) **पुरोगामी**—स० *लग्न* > प्रा० *लग्ग*, *स्तृणोति* (*स्तृ + नोति*), *दाटम्* (*दश् + तम्*), स० *यस्य* > प्रा० *जस्स*, स० *निषण्ण* > प्रा० *निसिन्नो*।

(ख) **पश्चगामी**—स० *भक्त* > प्रा० *भत्त*, स० *सर्प* > प्रा० *सप्प*, स० *वल्कल* > प्रा० *वक्कल*, स० *चतुष्क* > प्रा० *चउक्क*, स० *दुग्ध* प्रा० *दुद्ध*, स० *असूया*, > प्रा० *उसूया*, स० *इक्षु* > प्रा० *इक्खु* हि० *मार डाला* > *माड्डाला*, हि० *चोर ले गया*, *चोल्ले गया*, हि० *उँगली उँगुली* < स० *अंगुली*।

उच्चारण की सुविधा की दृष्टि से और कई प्रकार के प्रयत्न-लाघव देखे गये है। जब हम कोई उच्चारण क्रम से करते है और उस क्रम के बीच मे कोई अवयव विषम बैठता है तब उसको भी क्रम मे सम कर लेने की प्रवृत्ति होती है, यथा गिनती गिनते समय *तैतालीस* और *पैतालीस* के बीच के विषम *चौआलीस* का *चौतालीस* हो जाना, अथवा *तिरपन* और *पचपन* के बीच *चौअन* का *चौपन* हो जाना समझ मे आता है।

(४) **विषमीकरण**—कभी-कभी पार्श्ववर्ती सम ध्वनियो के उच्चारण मे असुविधा जान पडती है तब प्रयत्न-लाघव के लिए उनको विषम (परस्पर भिन्न) कर लेते है, यथा स० *पक्व* > प्रा० *पिक्क*, स० *मुकुट* > प्रा० *मउड* हि० *मौर*, स० *मुकुल* > प्रा० *मउल* हि० *बौर*, *श्रथ्* धातु से स० शब्द *श्रिथिर* बनना चाहिए पर उससे *श्रिथिल* के द्वारा *शिथिल* हुआ, स० *अष्टमी* > हि० *अट्टिमी*।

(५) **स्वरभक्ति**—संयुक्ताक्षरों के बोलने में विशेष प्रयत्नशील रहने की जरूरत होती है। इस असुविधा को हटाने के लिए मन अपने आप उस संयोग को, बीच में और कोई ध्वनि लाकर, दूर कर देता है और दो व्यंजनों के संयोग को दूर करने के लिए एक छोटा-सा स्वर ला धरता है। संस्कृत से प्राकृतों में विकास होते समय इस प्रवृत्ति के बहुतेरे उदाहरण मिलते हैं, सं० *रत्न* < प्रा० *रदण*, सं० *कृष्ण* प्रा० *किसण*, इसी प्रकार *भक्त* > *भगत*, *इन्द्र* > *इन्दर*, *प्रसाद* > *परसाद*। संस्कृत शब्दों का पंजाबी लोगों के मुख से उच्चारण आज भी इसके बहुत से उदाहरण उपस्थित करता है। इस प्रकार दो व्यंजनों के बीच स्वर रख देने को स्वरभक्ति कहते हैं। दो संयुक्त ध्वनियों के बीच में स्वर ही नहीं, कभी-कभी व्यंजन (बहुधा ह् या न) भी ले आते हैं, यथा हि० *तैरना* का उच्चारण *तहैरना*, प्रा० *वक्क* हि० *बाका*, सं० दर्शन पा० *दस्सन* प्रा० *दसन*।

कभी-कभी दो स्वरों के बीच में व्यंजन रखने के उदाहरण भी प्राकृत में मिलते हैं, यथा *अपस्सि उत्तिएणपद* > *अपस्सि मुत्तिणणपद*।

(६) **अग्रागम**—बोलते समय आरम्भ में ही कोई ऐसी ध्वनि आ जाती है या संयुक्ताक्षर आ जाता है जिसके उच्चारण में कठिनता मालूम होती है तब उस शब्द के पूर्व कोई स्वर अनजान ही आकर सहायता करता है। *स्त*, *स्त्र*, *स्न* आदि संयुक्ताक्षर प्राकृत काल से ही उच्चारण में दुख देते रहे हैं, इसी कारण प्राकृत का *इत्थी* सं० *स्त्री* मिलता है। आज भी *स्त्री*, *स्नान*, *स्कूल*, *स्टेशन*, को हम *इस्त्री*, *अस्नान* *इस्कूल*, *इस्टेशन* कहते हैं और पंजाबी भाई स्वरभक्ति का सहारा लेकर *सणाण*, *सकूल*, *सटेशन*, बोलते हैं। *र*-ध्वनि भी शब्द के आरंभ में कठिन प्रतीत होती है, इसीलिए कुछ लोगों के उच्चारण में *राम* का *अराम* सुनाई देता है, यद्यपि वे यही समझते हैं कि हम *राम* ही कह रहे हैं। इस सुविधा के प्रयोग को अग्रागम कहते हैं।

(७) **उभय सम्मिश्रण**—बोलते समय एक ही विचार के वाचक दो-शब्द कभी-कभी एक साथ मस्तिष्क में उद्बोधित हो जाते हैं और

परिणाम-स्वरूप दोनो के सम्मिश्रण से (जिसमे एक का अग्राश और दूसरे का अंतिमांश होता है, एक नया ही शब्द बन जाता है। प्राकृत देक्ख, दिस्सइ तथा पेक्खई के मेल से, अव० फिन, फिर और पुनि के मेल से, पा० दुवे और उभय से दुभय आदि रूप उदाहरण हैं।

जिस प्रकार समानार्थक दो शब्दो के सम्मिश्रण से नया ही शब्द बन जाता है, उसी प्रकार वाक्य मे दो वैकल्पिक विन्यासो के कारण नया ही भ्रान्त विन्यास हो जाता है। प्राकृत (बोलचाल की) भाषाओ मे बहुधा इसके उदाहरण मिलते हैं। सकर्मक, अकर्मक प्रयोगो तथा कर्तृवाच्य कर्मवाच्य आदि के व्यवहार मे यह भूल अधिकाश मे देखी जाती है। गलत परसर्ग के प्रयोग मे भी यही बात मूल मे है। उदाहरणार्थ

पा० तुम्हेहि *खादितब्बाहारतो दव्वा खादेय्याथ* (ससजातक)।

हि० *हमने गये (हम गये), (हमने देखा), हम लकडी तोरी (हमने लकडियाँ तोडी)*।

(८) **स्थान-विपर्यय**—कभी-कभी बोलने मे ध्वनियो के स्थान मे उलट-फेर हो जाता है जो प्रयत्न-लाघव का ही उदाहरण है, जैसे, स० *आश्चर्य*>प्रा० *अच्छेर*, स० *कार्य* केर। यहाँ *अर्य* और *आर्य* मे बीच मे र था और इधर उधर *अ* य तथा *आ* य। प्राकृत के नियम से *अय*>ए और *आय*>*अय*>ए बदल गए और र् उनके बाद जा पडा।

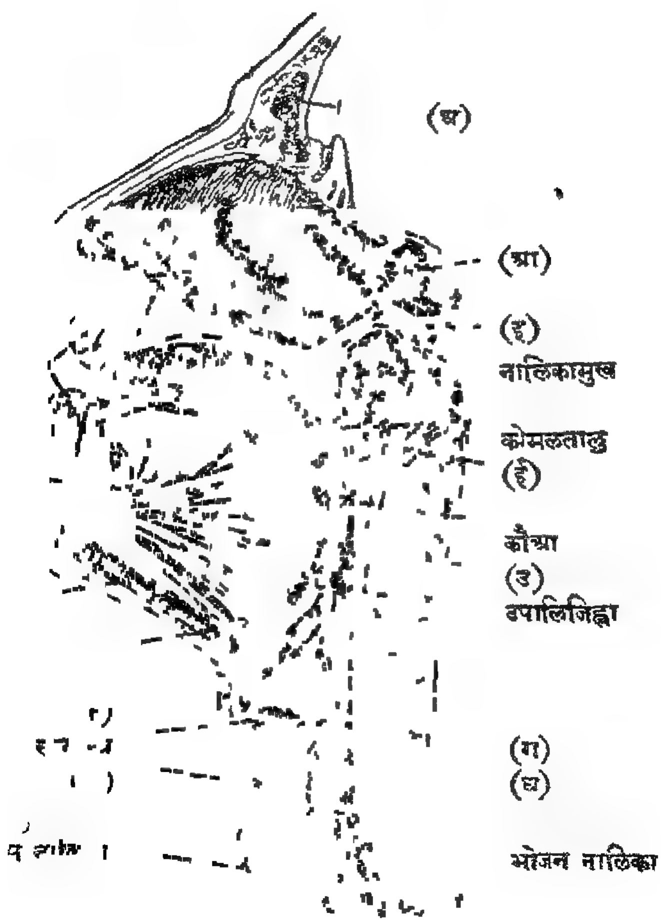
विदेशी शब्दो के अगीकार करने मे जो परिवर्तन स्वाभाविक रीति से हो जाते हैं वे भी प्रयत्न-लाघव के कारण ही होते हैं। *ग़रीब*>*गरीब*, *सिग्नल* *सिगल*, *प्वाइट्‌समैन*>*पैटमन*, *वक़्त*>*बखत*, *टाइम* *टेम*, *गार्ड*>*गारद*, *हॉस्पिटल*>*अस्पताल*, फा० *रास्ता*>*रस्ता*, अव० *रस्ता*, फा० *बस्ती*>अव० *बहस्ती* आदि इसी के उदाहरण हैं। हिन्दू-विश्वविद्यालय का *आर्टस कालेज* इक्के-ताँगे वालो के मुख से *आठ कालेज* हो गया और बाद को जो *सायस् कालेज* बना उसका नाम उच्चारण की शुद्धता स्वरूप *आठ कालेज* के वजन पर *नौ कालेज* बन गया। प्रयाग मे *यूनिवर्सिटी* को प्राय ताँगे वाले *अनवरसीटी* कहते हैं। पूर्व काल के

स्वदेशी शब्द भी परकाल मे तत्कालीन शब्दो के मेल-जोल मे बदल मे जाते हैं, अवध की अपढ गाने वालियो के मुख से मगलाचार की जगह मगलाचारि सुना गया है क्योकि चारि (सख्यावाचक) शब्द पूर्व-परिचित था। प्रयाग मे कोई-कोई समझदार भिखमगे आशीर्वाद देते समय *'बाबू लाट कमडल होइ जा'* कहते है। *कमडल* शब्द स्पष्ट ही विदेशी कमाण्डर का स्वदेशी रूप है जिससे भिखारी पहले से ही परिचित है। हर भाषा के कोष मे थोडे-बहुत विदेशी शब्द पूर्ण रूप से घुली-मिली अवस्था मे रहते है।

सस्कृत भाषा की सधियो के प्राय सभी नियम सुविधा अर्थात् प्रयत्न-लाघव के द्वारा ही भाषा मे आए होगे।

दसवाँ अध्याय

ध्वनि-यंत्र



ार के जो अवयव बोलने के काम में लाए जाते हैं उनके समूह
-यंत्र कहते हैं। पर अवयवों के इस समूह का यह नाम विद्वानों

ने केवल सुविधा की दृष्टि से ही रख छोडा है, वस्तुत यह नाम उचित नही क्योकि पशुओ के भी ये अवयव होते है और उन्ही की भाँति हम भी इन अगो से, मुख्य रूप से, दूसरा ही काम लेते है। ध्वनियो का उच्चारण इनका गौण काम है। जैसे मुख्य रूप से अन्य काम के लिए बनी हुई उँगलियो से हम हारमोनियम, सितार आदि बजा लेते है उसी प्रकार इन अवयवो से ध्वनियो का भी उच्चारण कर लेते है।

मनुष्य जीवन भर निरतर श्वास लेता और बाहर फेकता रहता है, जिस श्वास को हम बाहर फेकते है उसी की विचित्र विकृति मे ध्वनियो की सृष्टि होती है। साँस लेने और फेकने के लिए हमारे सीने मे दो फेफडे है जो धौकनी का काम देते है और ये श्वास-नलियो द्वारा हमारे गले की श्वास-नालिका से सबद्ध है। गले मे श्वास-नालिका के अलावा एक और नालिका है जिसके द्वारा खाना-पानी आमाशय मे पहुचता रहता है और आमाशय, पक्वाशय, मलाशय मे जो वायु बनती है वह अपान वायु होकर निकल जाती है और कभी-कभी ऊपर को भी डकार के रूप म आ जाती है। पर यह डकार भोजन नालिका से ही निकलती है, श्वास-नालिका से नही। श्वास-नालिका और भोजन-नालिका दोनो को अलग-अलग रखने के लिए बीच मे एक मजबूत झिल्ली की दीवार है, पहली का सबध श्वास-नलियो द्वारा फेफडो से है, दूसरी का आमाशय से, पहली आगे की ओर है, दूसरी पीछे की ओर। इन दोनो नालिकाओ का अलग-अलग काम है। श्वास-नालिका मे जरा भी पानी या खाना अदर नही पहुँचाया जा सकता। आदमी कभी-कभी यदि खाते-पीते समय बोल या हँस पडे तो पानी या पान आदि का कोई अश श्वास-नालिका के ऊपरी हिस्से मे पहुच जाता है। और तुरन्त उछू और निरतर खाँसी के द्वारा बाहर आ जाता है। यदि बाहर न आए और श्वास-नालिका मे टिक जाय तो मनुष्य का जीवित रहना सदिग्ध हो जाता है। सुपारी का टुकडा एकाध बार श्वास-नालिका मे पहुँचा नही कि कुछ ही क्षण मे मौत आ गई।

श्वास-नालिका के ऊपरी हिस्से मे स्वर-यत्र है। स्वर-यत्र स्वर-

तन्त्रियो का समूह है। इसमे बहुत महीन-महीन तन्त्रियाँ होती है, मनुष्य-निर्मित बढिया से बढिया और सूक्ष्म से सूक्ष्म बाजे के भी तारो से कई गुना महीन। ये तन्त्रियाँ श्वास-नालिका के ऊपरी हिस्से के दो कोनो मे आमने-सामने दो हिस्सो मे बटी हुइ रहती है। आपेक्षिक दृष्टि से ये तार बच्चो के छोटे होते है और मनुष्य की शारीरिक वृद्धि के अनुपात से बढते रहते है। तब भी पुरुष के स्वर-यत्र के तार स्त्री के तारों से बडे होते है। स्वर-तन्त्रियाँ चार विभिन्न प्रकारो से स्थित रहती है—(१) दोनो समूह अलग-अलग निस्पद पडे रहते है और बीच से साँस आती-जाती रहती है, (२) दोनो समूह आकर वीणा के तारो की भाँति आपस मे टक्कर मारते है और गान के स्वरो, ध्वनि के गुण सुर, अथवा ध्वनि के घोष की सृष्टि करते है, (३) दोनो समूह आपस मे जुट कर खडे हो जाते है और श्वास के निकलने मे पूरी तरह एक क्षण के लिए बाधा उपस्थित कर देते है और (४) दोनो समूह आकर जुट जाते है पर नीचे की ओर थोडा-सा भाग श्वास के आने-जाने के लिए छोड़ देते है। प्रथम अवस्था, जब हम साधारण रीति से साँस लेते है या अघोष ध्वनियो का उच्चारण करते है तब की है, दूसरी जब सघोप ध्वनियो का उच्चारण करते है, तीसरी जब हम स्वर-यत्रोद्भूत व्यजन (हम्जा) बोलना चाहते है, और चौथी फुसफुसाहट के समय की है। इस प्रकार श्वास मे ध्वन्यात्मक विकृति पैदा करने वाला प्रथम अवयव स्वर-यत्र है। इस विकृति की स्थिति के काल के अनुसार घोष की मात्रा, प्रकार के अनुसार उदात्त आदि अथवा षड्ज आदि स्वर तथा तारो के खिचाव अथवा ढीलेपन के अनुसार तीव्रता उत्पन्न होती है।

श्वास-नालिका मे विकृत हुई या अविकृत इस प्रकार की साँस मुख-विवर या नासिका-विवर मे आती है। इन विवरो की दीवारो मे, यदि स्वर-यत्र द्वारा विकृत होकर आई है तो उसकी प्रतिध्वनि करने की सामर्थ्य होती है। मुख-विवर और नासिका-विवर दोनो को अलग-अलग रखने के लिए एक दीवार है जो अदर की ओर कौवे

(अलिजिह्व) से आरम्भ होकर ऊपर के दाँतो मे समाप्त होती है—उधर से ही गिनने मे इसके, कौवा सुकुमार तालु, कठोर तालु, वर्त्स-भाग (मसूडे) तथा दाँत है और दाँतो के बाहरी भाग मे मसूडो के पास जुडा हुआ ऊपर का ओठ है। मुख-विवर की नीचे की दीवार जीभ है जिसको विवरण की सुविधा के लिए चार भागो (जिह्वामूल, पश्चभाग, अग्रभाग और नोक) मे विभाजित करते है। जिह्वा के नीचे एक विवर है जिसके नीचे की दीवार का अतिम भाग मसूडे और नीचे के दाँत है और नीचे की दतपक्ति के बाहरी भाग मे जुडा हुआ नीचे का ओठ (अधर) है।

अलिजिह्व (कौवा) तीन अवस्थाएँ ग्रहण करता है —

(१) तन कर खडा हो जाता है (पट पड जाता है) और श्वास-नालिका और नासिका-विवर के परस्पर सबध को बिल्कुल रोक देता है। परिणाम-स्वरूप सारी साँस मुख-विवर मे ही आती है, नासिका-विवर मे नही जाने पाती।

(२) बिल्कुल ढीला, शिथिल, गिरा हुआ रहता है और इस प्रकार श्वास-नालिका और मुख-विवर के सबध को रोक रखता है। परिणाम-स्वरूप सारी साँस नासिका-विवर मे ही आती जाती है।

(३) मध्यम अवस्था मे रहता है जिसमे कुछ साँस मुख-विवर मे आती है और कुछ नासिका-विवर मे।

साधारण रीति से जब हम साँस लेते रहते है तब द्वितीय अवस्था होती है पर जब जुकाम के कारण नासिका-विवर बिल्कुल आच्छन्न रहता है और हम मुँह मे साँस लेते है तब पहली अवस्था होती है।

ध्वनियो की दृष्टि से, अनुस्वार के उच्चारण मे द्वितीय अवस्था, अनुनासिक व्यजनो और सानुनासिक स्वरो के उच्चारण मे तृतीय अवस्था और शेष मे प्रथम अवस्था होती है।

जीभ भी विविध अवस्थाएँ ग्रहण करती है। साधारण रीति से साँस लेते समय वह ढीली पडी रहती है, बिल्कुल निष्पद, निष्क्रिय। कभी-कभी मुख-विवर मे आई हुई साँस को वह बाहर निकलने मे

रोकती तो नही, पर अपना कोई भाग थोडा बहुत उठा कर ऊपर (तालु) की दीवार और अपने बीच का रास्ता आपेक्षिक दृष्टि स संकुचित कर देती है (इस अवस्था मे अकारादि स्वरो का उच्चारण होता है)। ऊपर की दीवार के किसी भाग का स्पर्श करके क्षण भर श्वास को रोक कर (क आदि) स्पर्श व्यजनो की सृष्टि करती है, अथवा ऊपर के किसी भाग के काफी समीप पहुँचकर (जिस अवस्था मे पूर्ण रूप सें श्वास के निकलने का मार्ग बद भी नही रहता और बिल्कुल खुला भी नही रहता) (स् आदि) सघर्षी वर्णो की सृष्टि करती है। अथवा ऊपर काल की थोडी-सी मात्रा के लिए स्पर्श द्वारा श्वास का निर्गम रोक कर फिर सघर्ष करा के (च् ज् आदि) स्पर्शसघर्षी ध्वनियॉ बनाती है। कभी-कभी एक या दोनो पार्श्वो को ऊपर उठाकर और बीच मे खाली रहकर प्रोक्षणीपात्र की शकल ग्रहण कर (ल) पार्श्विक ध्वनि का सृजन करती है। अन्यत्र प्रोक्षणी के आकार के पत्ते की तरह ऊपर उठ कर (र आदि) लोडित ध्वनि तथा इस प्रकार ऊपर उठकर और क्षणातर मे वह गिर कर (ड) उत्क्षिप्त ध्वनि बनाती है। जीभ की नोक नीचे के दॉतो पर, ऊपर चिकने हिस्से पर, और ऊपर खुरखुरे हिस्से पर अपने ऊपरी तल से या इसके भी ऊपर मूर्द्धभाग (सुकुमार तालु और कठोर तालु के सधिस्थान) पर अपने निचले तल से स्पर्श, सघर्ष आदि कर सकती है। जीभ का पिछला भाग सुकुमार तालु से अथवा अलिजिह्व से सयोग मे आ सकता है। इस प्रकार यह चचल जिह्वा विविध अवस्थाएँ ग्रहण करके श्वास-नालिका से बाहर आती हुई सॉस को तरह-तरह से विकृत कर भॉति-भॉति की ध्वनियो की सृष्टि करने मे सहायक होती है।

ओठ भी कई अवस्थाएँ ग्रहण करते है। दोनो आपस मे सटकर अन्दर से आती हुई सॉस को क्षण भर रोक कर ओष्ठ्य और दॉतो के स्पर्श से दतोष्ठ्य स्पर्श व्यजनो की सृष्टि कर देते है। दोनो आपस मे अथवा दॉतो के बहुत निकट आकर ओष्ठ्य अथवा दतोष्ठ्य सघर्षी ध्वनियॉ बनाते है। स्वरो के उच्चारण मे दोनो मिलकर थोडी या

वहुत गोलाकार शकल या कोनो की ओर फैलकर चौडाई ग्रहण करते है।

इस प्रकार हमारे ध्वनियत्र मे स्थानभेद और प्रयत्नभेद से अनत ध्वनियो के उत्पादन की शक्ति है और प्रत्येक भाषा इन ध्वनियो की एक वहुत परिमित सख्या से ही अपना काम आसानी से चलाती है।

ध्वनि का लक्षण क्या है? आकाश मे उत्पन्न विशेष लहरियो को जिन्हे मन श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करता है उन्हे शास्त्रज्ञ शब्द कहते है और भाषा-विज्ञान की दृष्टि से मनुष्य के ध्वनियत्र से नि सृत शब्द को ध्वनि कहते है। ध्वनियत्र से निकला यह शब्द ग्रामोफोन आदि यत्रो मे सुरक्षित रक्खा जा सकता है और आवश्यकता के अनुसार श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा वार-वार ग्रहण किया जा सकता है। पर उसके ध्वनि होने के लिए मनुष्य के ध्वनियत्र से प्रथम नि सरण आवश्यक है।

ध्वनि की इस प्रकार तीन अवस्थाएँ है—उत्पत्ति, प्राप्ति और वहन। प्रथम और द्वितीय अवस्थाओ का अध्ययन ध्वनि-विज्ञानी करता है और तृतीय का भूत-विज्ञानी।

ध्वनियत्र से निकली हुई ध्वनियो को, उच्चारण करने वाला आदमी अपने लिए नही बोलता बल्कि दूसरे के लिए। और सुनने वाले मनुष्य मे उन ध्वनियो को ग्रहण कर तुरत विचारधारा की सृष्टि हो जाती है और आवश्यकता के अनुसार वह प्रत्युत्तर देता है। इस प्रकार आदान-प्रदान ही उच्चारण का मुख्य ध्येय है और यह उच्चारण प्रेषक और प्रापक दोनो के बस मे होता है।

ध्वनि का साधारण लक्षण ऊपर दिया गया है। मगर यदि और वारीकी से किसी विशेष ध्वनि का लक्षण करे तो प्रो० डेनियल जोस के अनुसार "ध्वनि मनुष्य के विकल्प-परिहीन नियत स्थान और निश्चित प्रयत्न द्वारा उत्पादित और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा अविकल्प रूप से गृहीत शब्द-लहरी है।" मनुष्य कोई भी ध्वनि नियत रूप से एक ही स्थान और प्रयत्न की नही बोलता। *का, की, कू* इन तीनो क् के उच्चारण मे स्थान-भेद सभव है। *काका* के प्रथम और द्वितीय आ मे मात्राभेद

सभव है। इस प्रकार हम लोग वाक्य की अन्य ध्वनियो के बीच मे आपेक्षिक दृष्टि से स्थान के अनुसार तरह तरह की क्, ख्, ग् अथवा अ, आ, इ आदि ध्वनियो का उच्चारण करते है। व्यवहार की दृष्टि से हम इनको अलग-अलग ध्वनियाँ नही मानते। *का, की* कु इन मब के क् को हम क् ध्वनि समझते है। विज्ञान की दृष्टि से इन्हे ध्वनि न कह कर ध्वनि-ग्राम (Phoneme) कहना चाहिए।

ध्वनि-ग्राम मे स्थान और प्रयत्न की दृष्टि से प्राय एकरूप कई ध्वनियाँ (यथा *का की*, कु, के आदि के क, *मकर*, *वल्कल*, *पक्का* आदि के मध्य के क, *वाक*, *धिक्* आदि के अन्त के क्) समूहरूप से होती है और इनमे कोई ध्वनि जो उस भाषा मे अधिक व्यवहार मे आती है मुख्य सत्ता रखती है। प्रत्येक भाषा मे इन ध्वनि-ग्रामो की सख्या परिमित होती है। जहाँ ध्वनियो के विपय मे सूक्ष्म विवेचन नही किया जाता, वहाँ ध्वनि शब्द से तत्सबधी ध्वनि-ग्राम का ही अभिप्राय समझना चाहिए।

नोट—ध्वनि-यन्त्र का ऊपर दिया चित्र पिल्जबरी व मीडर की पुस्तक (दी साइकोलाजी आव् लैंग्वेज (The Psychology of Language) से लिया गया है। उसमे (क), (ख), (ग), (घ) स्वर-यत्रपिटक को सहारा देने की चार कोमल अस्थियाँ है। (क्ष), (त्र), (ज्ञ) ठुड्डी और जिह्वा के पास की हड्डियाँ है। (ट) जीभ के नीचे और ठुड्डी के ऊपर का विवर है। (अ), (आ) नाडियो के स्थान है। (इ) खोपडी के नीचे भाग की हड्डी है। (ई) खोपडी को सहारा देने वाली, गर्दन की रीढ का सबसे ऊपर का भाग है। (उ) गर्दन का केन्द्र भाग है। स्वरयन्त्र-पिटक से लेकर ऊपर नासिका-विवर के पास तक के श्वास-नालिका के भाग को उपरिनालिका कहते है। इसी नालिका के आगे निकले हुए भाग, कमरे से, मुख-विवर और नासिका-विवर है।

ग्यारहवाँ अध्याय

ध्वनियो का वर्गीकरण

पिछले अध्याय मे ध्वनियो के उच्चारण के उपयोग में आने वाले अवयवो का उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि भीतर मे जो साँस बाहर की ओर श्वास-नालिका से होकर आती है, उसी मे स्वरयन्त्र या मुख-विवर या नासिका-विवर आदि मे कुछ रोक-थाम, विकार आदि उत्पन्न किए जाने से, ध्वनियाँ पैदा होती है। यह भी बताया गया है कि इन ध्वनियो की गिनती नही की जा सकती। हर एक भाषा अपनी जरूरत के अनुसार इनकी परिमित सख्या का इस्तेमाल करती है। ध्वनियो का वर्गीकरण दो बातो पर निर्भर है——स्थान और प्रयत्न। अन्दर से आती **साँस** को जिस जगह विकृत करते है उसी को उस ध्वनि का **स्थान** कहते है। यथा अन्दर से आती हुई साँस को यदि दाँतो के पास विकृत करे तो ध्वनि दन्त्य कहलाएगी। त् और स् दन्त्य ध्वनियाँ है क्योकि भीतर से आनेवाली साँस को जीभ की नोक ने उठकर और दाँतो के पास पहुँचकर रोक दिया, अबाध गति से बाहर नही निकल जाने दिया। इस रोक-थाम, विकार के लाने मे हमे जो काम करना पडता है उसको **प्रयत्न** कहते है। त् और स् दोनो दन्त्य है, पर त् स्पर्श ध्वनि है क्योकि जीभ ने केवल थोडी देर के लिए दाँतो को छुआ, लेकिन स् सघर्षी ध्वनि है क्योकि इसके बोलने मे जीभ ने उठकर हवा निकलने के मार्ग को इतना सकुचित कर दिया कि हवा थोडी देर तक दाँतो पर सघर्षण करती रही। नीचे लिखे विवरण मे स्थान और प्रयत्न का यह महत्त्व विशेष ध्यान से समझ लेना चाहिए।

प्राचीन काल से ही ध्वनियो के प्राय दो वर्ग किए जाते है—**स्वर और व्यजन**। और स्वर से तात्पर्य समझा जाता है उस ध्वनि

में जो स्वत बिना किसी अन्य ध्वनि की सहायता के बोली जा सके और अक्षर बनाने की सामर्थ्य रखती हो, तथा व्यजन वह ध्वनि है जिसका स्वत उच्चारण न हो सके और जो स्वय स्वर की मदद के बिना अक्षर न बना सके। स्वर और व्यजन के ये लक्षण भी प्राचीन काल से व्याकरणो मे चले आए है।

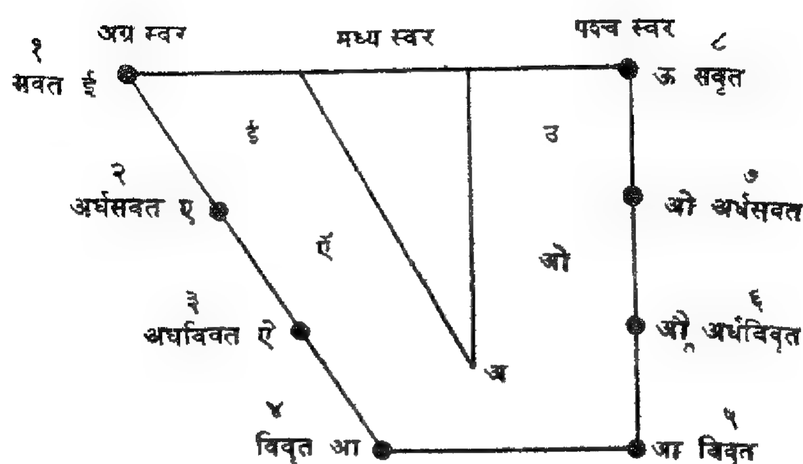
ध्वनि-विज्ञान के आधुनिक अनुसधान से पता चलता है कि स्वर और व्यजन के ये लक्षण सर्वांश मे ठीक नही। व्यजन का भी स्वत, बिना किसी स्वर की सहायता के, उच्चारण सभव है, यह प्रयोगो से सिद्ध हो चुका है। स्, ल् आदि अकेली ध्वनियो को यदि हम सावधानी से बोले तो बिना स्वर की किंचित् भी मात्रा लाए इन्हे बोल सकते है। यह और बात है कि इन अकेली ध्वनियो का कोई अभिप्राय न हो। और सयुक्त व्यजन अक्षर भी बना सकते है, यथा अँगरेजी के *गॉड्न्* (garden) और *बॉ-टल्* (bottle) शब्दो के द्वितीय अक्षर (ड्न् और ट्ल्) मे कोई स्वर नही है तब भी वे अक्षर बन गए है। इनमे न् और ल् वर्णो ने अक्षर बनाने मे सहायता दी है।

पिछले अध्याय मे स्वर-यन्त्र के व्यापार का व्योरा देते समय बताया गया है कि जब इसके तार, वीणा के तारो की तरह आपस मे टक्कर मारकर भीतर से आती हुई सॉस को विकृत करते है तब घोष उत्पन्न होता है। सभी स्वरो मे यह घोष मौजूद रहता है। ध्वनि-विज्ञान के अनुसार **स्वर** वह सघोष ध्वनि है जिसके उच्चारण मे श्वास-नालिका से आती हुई श्वास धारा-प्रवाह से अबाध गति से मुख से निकलती जाती है और मुख-विवर मे ऐसा कोई सकोच नही होता कि किंचिन्मात्र भी सघर्ष या स्पर्श हो। *आँ, ईं, ऐं* आदि सानुनासिक स्वरो मे सॉस की कुछ मात्रा नासिका-विवर से भी अबाध गति से निकलती रहती है। स्वर के अतिरिक्त शेष सभी ध्वनियाँ व्यजन है। व्यजन वह सघोष या अघोष ध्वनि है जिसके मुख-विवर से निकलने मे पूर्णरूप से अथवा कुछ मात्रा मे बाधा उत्पन्न होती है। इस प्रकार स्वर और व्यजन के बीच का स्थूल भेदक लक्षण श्वास की गति का अबाध या सबाध होना

है। किन्हीं-किन्हीं व्यजनो मे और उनके तद्रूप स्वरो मे भेद की भित्ति बहुत अल्प है। वैदिक पूर्व प्राथमिक आर्य भाषा मे छ अतस्थ (बीच की) ध्वनियाँ थी जो शब्द मे अपने स्थान के अनुसार ही स्वर या व्यजन की सज्ञा पाती थी। उस समय व्यजन रूप मे ये य् र् ल् व् म् न् थी और स्वर रूप मे इ ऋ ऌ, उ तथा स्वर न और म थी। यह प्राथमिक आर्य भाषा, आर्य प्राचीनतम भाषाओ, वैदिक, ईरानी, लैटिन, ग्रीक आदि की जननी है इसका विवरण आगे दिया जायगा। वैदिक तथा उत्तर कालीन सस्कृत मे अतिम दो स्वर (म और न) विलुप्त हो गए और इनके स्थान पर अ का आदेश हो गया, उदाहरणार्थ *गम्* और *मन्* धातुओ के क्त-प्रत्ययात रूप *गत* (*ग + अ + त् + अ*) और *मत* (*म + अ + त् + अ*) बनते है पर होने चाहिए थे (*ग् + म् + त् + अ*) और (*म् + न + त् + अ*) इन *म* और *न* स्वरो की ध्वनि सभवत उन *म* और *न* स्वरो की-सी रही होगी जो अँगरेजी आदि भाषाओ मे *गॉडन* आदि शब्दो मे आजकल भी स्वर का काम देते है। सस्कृत के बाकी चार अन्तस्थ स्वरो मे से भी ऌ और कुछ समय बाद ऋ का भी लोप हो गया। ऌ और ऋ का क्या स्वरूप था, इसका ठीक-ठीक ज्ञान आज नही है। सभव है ऌ अँगरेजी के *बॉट्ल* आदि शब्दो मे प्रयुक्त *ल* के ढग की कोई ध्वनि रही हो। य् और व् व्यजन रूप मे बहुत कमजोर पड गई। साराँश यह कि वाक्य की ध्वनियो मे कुछ का स्वरत्व या व्यजनत्व वाक्य की ध्वनियो मे उनके विशेष स्थान पर ही निर्भर है।

स्वरो के उच्चारण मे जीभ का कोई न कोई भाग थोडा या बहुत ऊपर को उठता है और इस भाग के नाम के अनुसार स्वरो मे **अग्र**, **मध्य**, और **पश्च** का भेद किया जाता है। फिर श्वास के निकलने के लिए मुख आपेक्षिक दृष्टि से बहुत या कम खुलता है, इस दृष्टि मे स्वरो की सज्ञा **विवृत** (पूरा खुला हुआ), **अर्धविवृत** (अधखुला), **अर्धसवृत** (आधा

बन्द) तथा सवृत (पूरा बन्द) होती है। ध्वनि-विज्ञान मे चार अग्र स्वर और चार पश्च स्वर मूलरूप माने गए है—



सवृत (१ और ८) उच्चारण की वह आदर्श अवस्था है जिसमे जिह्वा का अग्र या पश्च भाग ऊँचे से ऊँचा उठ सकता है और स्वरत्व कायम रहता है, इससे जरा भी ऊँचा उठा कि स्पर्श या सघर्ष उत्पन्न होकर व्यजन प्राप्त हो जायगा। **विवृत** (४ और ५) उच्चारण की वह अवस्था है जिसमे मुख-विवर अधिक से अधिक खुल सकता है, इससे अधिक की सभावना नही। **अर्धसवृत** (२ और ७) और **अर्धविवृत** (३ और ६) सवृति और विवृति के क्रम से इनके बीच की अवस्थाएँ है। विभिन्न भाषाओ के स्वरो का विवरण देने के लिए ये आठ स्वर आदर्श माने गए है और जिस प्रकार किसी गॉव मे सरकारी (सर्वे) नाप विभाग द्वारा कुछ खूँटे गाड दिए जायँ तो उनकी दूरता और निकटता का उल्लेख करके प्रत्येक गृहस्थ अपने-अपने घर का निश्चित स्थान बता सकता है कि अमुक खूँटे से इतने गज पूरब, पच्छिम, उत्तर, दक्खिन मे मेरा घर स्थित है, इसी प्रकार इन मूल स्वरो के उल्लेख मे विशिष्ट भाषाओ का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले विद्वान् उन भाषाओ

के स्वरो का विवरण दे सकते है। उदाहरण के लिए हिन्दी का इ स्वर संवृति मे मूल स्वर न० १ से कुछ कम है और उसका आ स्वर मूल स्वर न० ५ के निकट है और पश्च स्वर है न कि अग्र स्वर।

अग्रस्वरो के उच्चारण मे ओठ प्राय न० ४ से लेकर न० १ तक उत्तरोत्तर फैलते ही जाते है और पश्चस्वरो के उच्चारण मे न० ५ से न० ८ तक अधिकाधिक गोलाकार होते जाते है। पर जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओ मे ऐसे भी स्वर है जिनके अग्र होते हुए भी उच्चारण मे ओठ गोलाकार होते है, और शान भाषा से पश्च होने पर भी उच्चारण मे ओठ कोनो की तरफ फैलते है।

व्यजनो का वर्गीकरण स्थान और प्रयत्न के भेद के कारण होता है। स्वरयन्त्र मे उत्पन्न घोष के कारण व्यजन **सघोष** और **अघोष** कहे जाते है। **सघोष** व्यजन के भी दो भेद है—**पूर्ण सघोष, अपूर्ण सघोष**। **पूर्ण सघोष** वह व्यजन होता है जिसके उच्चारण मे जिस समय जिह्वा उस स्थान पर पहुँच जाती है जहाँ से उस व्यजन का उच्चारण होना है उस समय से जब तक उस व्यजन का उच्चारण समाप्त नही होता तब तक बराबर घोष जारी रहता है, और अपूर्ण सघोष व्यजन मे बराबर जारी नही रहता, उच्चारण के आदि भाग, मध्य भाग या अन्त भाग मे होता है। उदाहरण के लिए अँगरेजो की ब् अपूर्ण सघोष है (क्योकि इसके उच्चारण के अन्तिम भाग मे ही घोष रहता है) और हिन्दी की पूर्ण **सघोष**।

जब भीतर से आती हुई साँस मे दोनो ओठो के द्वारा विकार लाया जाता है, तब उन ध्वनियो को *द्वयोष्ठ्य* कहते है। जब विकार नीचे के ओठ और ऊपर के दाँतो से उत्पन्न होता है तब ध्वनियाँ *दन्तोष्ठ्य* कहलाती है और जब केवल दाँतो से तब *दन्त्य*। ऊपर की दन्तपक्ति से आगे जब तालु की ओर बढे तो मसूडे मिलते है। इस जगह को वर्त्स भाग कहते है और वहाँ उत्पन्न हुई ध्वनियो को *वर्त्स्य*। इस भाग से और ऊपर जो तालु का भाग है और जो उगली से छूने पर कडा (लुचलुचा नही) मालूम पडता है उसको *तालु* का नाम दिया गया है और उस

जगह पैदा हुई ध्वनियों को **तालव्य** का। इसके और आगे एक ऐसा सन्धि-स्थान है जहाँ पर आगे का भाग (कठोर तालु) और पीछे का भाग (कोमल तालु) मिलते हैं। इस सन्धि-स्थान का नाम **मूर्धा** है, और यहाँ पर पैदा हुई ध्वनियों का **मूर्धन्य**। कोमल (लुचलुचे) तालु पर उत्पन्न हुई ध्वनियों को आज भी *कंठ्य* कहते हैं, यद्यपि यह नाम बहुत उपयुक्त नहीं क्योंकि यह स्थान कंठ से भिन्न है। **अलिजिह्व** (कौवा) का उल्लेख विस्तार से पिछले अध्याय में हो चुका है। यहाँ उत्पन्न हुई ध्वनियों को **अलिजिह्वीय** कहते हैं। स्वरयन्त्र के भाग से ऊपर और नासिकाविवर से नीचे वाले श्वासनालिका के हिस्से को **उपरिनालिका** और वहाँ पैदा हुई ध्वनियों को **उपालिजिह्वीय** कहते हैं। स्वरयन्त्र पर भी श्वास को एक साथ रोककर, या वहाँ विशेष घर्षण करा के जब विकार उत्पन्न किया जाता है तो उस ध्वनियों को **स्वर-यन्त्र-स्थानीय** कहते हैं। इस तरह स्थान के अनुसार व्यंजन *द्वयोष्ठ्य* (प् आदि), **दन्तोष्ठ्य** (व्), **दन्त्य** (त आदि), **वर्त्स्य** (श), तालव्य (कठोर तालु वाले ट् आदि हिन्दी के), **मूर्धन्य** (संस्कृत के ट आदि), *कंठ्य* (कोमल तालु वाले हिन्दी के क् आदि) **अलिजिह्वीय** (क ग्) **उपालिजिह्वीय** (अरबी बड़ी हे और ऐन ह् अ्) तथा स्वरयन्त्रस्थानीय (*हमजा, ह्*) होते हैं। इनके भी सूक्ष्म भेद किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए दाँतों के अग्र, मध्य और पश्च भाग के स्पर्श के अनुसार **अग्रदन्त्य, मध्यदन्त्य** और **पश्चदन्त्य** होते हैं।

ध्वनियों के उच्चारण में तरह-तरह के प्रयत्न किए जाते हैं। यदि केवल दो अवयवों का स्पर्श करके भीतर से आती हुई साँस को रोक रक्खा जाय तो इस प्रयत्न से बनी ध्वनि को **स्पर्श** कहते हैं। यदि दो अवयव परस्पर इतने पास आ जायँ कि उनके बीच से हवा संघर्षित होकर निकले, तो इस तरह पैदा हुई ध्वनि को **संघर्षी** कहा जाता है। यदि जीभ के एक या दोनों पार्श्वों को उठा कर आती हुई साँस के बाहर निकलने में बाधा डाली जाय तो इस प्रयत्न से उत्पन्न हुई ध्वनि **पार्श्विक** कहलाती है। अगर जीभ को यथासंभव लपेट कर ध्वनि निकाली जाय

तो वह ध्वनि **लोडित** की सज्ञा पाती है। यदि इस तरह लिपटी हुई जीभ को एक क्षण उस अवस्था मे रखकर, उसे झटके से फिर सीधा कर लिया जाय तो इस प्रकार श्वास मे उत्पन्न हुए विकार से बनी हुई ध्वनि को **उत्क्षिप्त** कहते है। **स्पर्शसघर्षी** ध्वनि के उच्चारण मे किंचिन्मात्र स्पर्श और फिर सघर्ष होता है। इस तरह प्रयत्न के अनुसार व्यजनो के स्पर्श (क् आदि), सघर्षी (स् आदि), (स्पर्श-सघर्षी च् आदि), पार्श्विक (ल्), लोडित (र्), उत्क्षिप्त (ड़्) आदि भेद होते हैं। इनमे से भी बहुतो के सूक्ष्म प्रभेद हो सकते है। उदाहरणार्थ स्पर्श व्यजनो के **बहि स्फोटात्मक** (जैसे हिन्दी के) **अत स्फोटात्मक** (सिंधी की ज् ब्) तथा **उत्क्षेपात्मक** प्रभेद होते है। प्रथम मे साँस स्पर्श हटते ही फट् से बाहर निकल जाती है, द्वितीय मे बाहर निकलने के पूर्व साँस को अदर की ओर चूसने का-सा भाव होता है और तृतीय मे एकत्रित की हुई साँस को ढकेल फेकने का-सा भाव होता है। **क्लिक** ध्वनियो का भी विशेष प्रयत्न से दत, वर्त्स, तालु आदि स्थानो पर उच्चारण किया जाता है। हिन्दी आदि भारतीय भाषाओ मे इनका प्रयोग करुणा (च च् च्) प्रेरणा (ट ट् ट्) आदि भावातिरेक को व्यक्त करने के लिए होता है पर अफ्रीका आदि कुछ विदेशो मे भाषा मे उनका उसी प्रकार प्रयोग होता है जैसे अपनी भाषाओ मे स्पर्श आदि ध्वनियो का।

स्थानभेद का विचार करते समय नासिका का भी उल्लेख अभीष्ट है। स्पर्श व्यजनो मे दन्त्य आदि के उच्चारण मे जब साँस नाक से निकलती है तब न् म्, ण् आदि **अनुनासिक** व्यजनो का उच्चारण होता है। इस प्रकार ब् और म् के उच्चारण मे केवल इतना भेद है कि ब् के उच्चारण मे सम्पूर्ण साँस मुख से निकलती है और म् के मे वह नाक से निकलती है। प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञानियो के अनुसार, अनुस्वार का स्थान केवल नासिका बताया गया है। यह ध्वनि आधुनिक भारतीय भाषाओ मे नही मिलती, जहाँ हम इसका सकेत लिखते है वहाँ उच्चारण मे कोई न कोई, वर्गो का पचमाक्षर (ङ, ञ्, ण्, न्, म्) उपस्थित रहता है। प्राचीन भाषा के विषय मे ऐसा अनुमान होता है कि

शब्द की ध्वनियो के मौखिक उच्चारण के उपरात नासिकाविवर से शेष श्वास स्वतत्र (और आपेक्षिक दृष्टि से पूर्वापर ध्वनियो से असबद्ध) रूप से निकलती थी और यही अनुस्वार था।

य् और व् के दो रूप भाषाओ मे मिलते है, एक तो पूर्ण व्यजनरूप जो शब्द के आदि मे या किसी अन्य व्यजन के उपरात आता है और दूसरा श्रुतिरूप जो दो स्वरो के बीच मे *(यथा लिया, हुवा)*, विशेष कर क्रमश *इकार* और *उकार* के उपरात आता है। इनका श्रुतिरूप बहुत थोडी मात्रा का होता है। यदि ये ध्वनियाँ कही दो व्यजनो या व्यजन और स्वर के बीच मे आवे तब तो बहुधा तद्रूप स्वर (इ और उ) का रूप ग्रहण कर लेती है। *साहित्यिक* का वर्तमान हिन्दी मे वास्तविक उच्चारण *साहितिक* ही है अन्य कुछ नही, और इसी प्रकार यदि कोई शब्द *धात्वुक* बनता तो उसका उच्चारण हिन्दी मे धात्तुक ही होता और कुछ नही।

प्राचीन भाषाविज्ञानियो ने स्पर्श व्यजनो के दो भेद और माने है—*अल्पप्राण* और *महाप्राण*। प्राण अन्दर से आती हुई श्वास के बल का ही दूसरा नाम है। आपेक्षिक दृष्टि से ही अल्पता और महत्ता का प्रश्न है। ऐसा जान पडता है कि उस समय क् ग् आदि का एक साधारण प्राण के साथ उच्चारण था और एक अधिक प्राणशक्ति के साथ। आज भी अँगरेजी आदि भाषाओ मे जहाँ महाप्राणत्व बलाघात के रूप मे प्रकट होता है बलाघातयुक्त क् ध्वनि *ख्* सी सुनाई देती है, जैसे *खार* (कॉर) और *खाट* (कार्ट) मे। प्राचीन सस्कृत की *ख् घ् ठ्, ढ्* आदि ध्वनियाँ इसी प्रकार की महाप्राणत्व-प्राप्त ध्वनियाँ रही होगी। उत्तर काल मे तो भारतीय भाषाओ मे ख् घ् आदि ध्वनियाँ केवल सयुक्त ध्वनियाँ *(क्+ह्, ग्+ह्)* हो गई और *म्ह्, न्ह्, ल्ह, र्ह्, ढ्* *(ड्+ह्)* आदि सयुक्त ध्वनियो की श्रेणी मे आ गई।

इस स्थान पर एक बात का और विचार कर लेना चाहिए। ध्वनियो के उच्चारण मे कभी-कभी एक मुख्य स्थान होता है और साथ ही साथ युगपत् एक गौण स्थान भी हो सकता है। स्वरो के विवरण मे

हम देख चुके हैं कि अग्र स्वरों के उच्चारण में प्राय ओठों का फैलना गौण रूप से मौजूद रहता है। इसी प्रकार व्यजनो के उच्चारण में भी सभव है कि मुख्य स्थान कोई एक हो और गौण रूप से अन्य स्थान भी सहायता करता रहे। ऐसी अवस्था में ध्वनि का व्यक्तित्व अक्षुण्ण रहेगा, वह सयुक्तत्व को प्राप्त हुई नहीं कही जा सकती। उदाहरण के लिए वैदिक-पूर्व आर्य भाषा में ओष्ठ्य-गौणत्व-प्राप्त कवर्ग और तालव्य-गौणत्व-प्राप्त कवर्ग के पृथक्-पृथक् अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। इनका विशेष विवरण आगे चल कर आर्य परिवार की आदिम भाषा के ब्योरे में मिलेगा। संस्कृत के वैयाकरण चवर्ग को स्पर्श वर्ग मानते आए हैं और पद-रचना में क् और च् का व्यत्यय (*पाक-पचति, जलमुक-जलमुचौ*) बराबर देखा जाता है। आधुनिक हिन्दी के उच्चारण में चवर्ग की ध्वनियाँ स्पर्श-सघर्षी हैं, केवल स्पर्श नहीं। इस विषमता की उपस्थिति में ऐसा अनुमान होता है कि वैदिक भाषा का चवर्ग, कवर्ग का ही तालव्य-गौणत्व-प्राप्त रूप था जिसमें च् आदि का स्पष्ट उच्चारण क् आदि के साथ य् की अल्पाति-अल्प श्रुति से मिश्रित होता होगा।

बारहवाँ अध्याय

ध्वनियों के गुण

मात्रा, सुर और **बलाघात**—ये तीन, ध्वनियो के **गुण** कहलाते है। **मात्रा** काल की उस मात्रा का नाम है जो किसी विशेष ध्वनि के उच्चारण मे लगती है। व्यवहार की दृष्टि से मात्रा **ह्रस्व** और **दीर्घ** होती है। स्वरतन्त्रियो के तनाव के कारण **सुर** उत्पन्न होता है और साधारण रीति से सुर **उच्च, नीच** और **सम** कहा जाता है। किसी विशेष ध्वनि पर, वाक्य अथवा पद की अन्य ध्वनियो की अपेक्षा, उच्चारण मे अधिक प्राण-शक्ति लगाना बलाघात कहलाता है।

भाषा की प्रत्येक ध्वनि के बोलने मे कुछ न कुछ समय लगता है। प्राचीन भारतीय भाषाविज्ञो ने केवल स्वरो की ही मात्रा का उल्लेख किया है और उनकी **ह्रस्व दीर्घ** और **प्लुत** सज्ञाऍं की है। एक-मात्रिक ह्रस्व, द्विमात्रिक दीर्घ और त्रिमात्रिक प्लुत कहलाते थे। सामान्यरूप से प्लुत स्वरो का भाषा मे प्रयोग नही होता था, पुकारने आदि मे वे काम मे आते थे। अन्य दोनो का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे प्राप्त है। आधुनिक अनुसन्धानो से इतना और मालूम हुआ है कि व्यजनो के उच्चारण मे भी काल की मात्रा से नाप हो सकती है और यहाँ भी ह्रस्व दीर्घ आदि सज्ञाओ का व्यवहार किया जा सकता है, उदाहरणार्थ *पका* मे क् ह्रस्व और *पक्का* मे क् दीर्घ, *कसक* मे स् ह्रस्व और *कस्स* मे स् दीर्घ है। व्यजन का दीर्घत्व लिखाई मे द्वित्व से व्यक्त किया जाता है। वस्तुत देखा जाय तो हिन्दी मे स्वरो की अपेक्षा व्यजनो को ह्रस्व दीर्घ कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योकि उल्लिखित ह्रस्व और दीर्घ स्वरो (अ आ अथवा इ ई आदि) मे स्थानभेद पर्याप्त है किन्तु ह्रस्व और दीर्घ (क् क्क् आदि व्यजनो मे स्थान-भेद बिल्कुल ही नही है, केवल उच्चारण मे लगने

वाले समय की मात्रा मे ही भेद है। ह्रस्व ध्वनि मे दीर्घ ध्वनि की अपेक्षा ठीक-ठीक आधा ही समय लगता है, यह समझ बैठना भूल होगी। एक ही शब्द मे एक ही ध्वनि दो विभिन्न स्थानो पर आने से ही मात्रा मे भिन्न होगी। शब्द के अन्त मे आने वाला स्वर बहुधा उसी शब्द मे प्रयुक्त अन्य-स्थानीय उसी स्वर से मात्रा मे कम होता है। *काला* शब्द का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। पटवर्धन शब्द मे प ट व तीनो के स्वर ह्रस्व कहे जाते हैं पर ट के अ की अपेक्षा प का अ और उसकी भी अपेक्षा व का अ मात्रा मे अधिक है। सयुक्त व्यजनो अथवा दीर्घ व्यजनो के पूर्व आने वाला स्वर मात्रा मे दीर्घ होता है चाहे लिखाई मे ह्रस्व ही अकित किया जाय। स्पर्श ध्वनियो की अपेक्षा सघर्षी ध्वनियाँ मात्रा मे दीर्घ होती है। बलाघात प्राप्त करके भी ध्वनि मात्रा मे दीर्घ हो जाती है।

जब ह्रस्वत्व दीर्घत्व का ठीक-ठीक आधा नही होता और ह्रस्व ध्वनि लिखाई मे ह्रस्व होती हुई भी उच्चारण मे दीर्घ हो सकती है तब ह्रस्व और दीर्घ सज्ञाओ का व्यवहार किस प्रकार साध्य है? इसका उत्तर यही है कि हर भाषा का व्यवहार करने वाला जहाँ भाषा की अन्य बाते सीखता है वहाँ अपनी भाषा के ह्रस्व-दीर्घ के भेद को भी हृदयगम करता रहता है और यदि किसी विशेष शब्द मे अकार की मात्रा ३० इकाई और आकार की ४० इकाई हुई तो भी एक ही वाक्य मे ३० इकाई के आकार के प्रयोग को ऊपर लिखे हुए ३० इकाई के अकार से भिन्न समझ लेगा। ऐसा भेद करना वह अपनी भाषा के प्रवाह से जानता है।

वर्तमान लिपियो मे मात्रा को अकित करने का कोई विशिष्ट साधन नही है, वर्णो की आकृति मे (*अ, आ, इ, ई, उ, ऊ*) ही दीर्घत्व दिखाने के लिए अतर कर दिया जाता है—दीर्घत्व का कोई विशेष सकेत या चिह्न नही। ध्वनि विज्ञानियो ने, रोमन लिपि मे वर्णो के आगे विसर्ग का सा सकेत ( ) लगा कर दीर्घत्व का और केवल एक बिंदु ( ) लगा कर अर्धदीर्घत्व का निर्देश किया है। अन्य विद्वानो ने वर्णो के ऊपर बेडी पाई (—) लगाकर दीर्घत्व को व्यक्त किया है। देव-

नागरी आदि भारतीय लिपियो मे ये दोनो उपाय उपयुक्त साबित न होंगे यह स्पष्ट है। यहाँ छन्द मे ऽ (दीर्घ) और। (ह्रस्व) चिह्न वर्ण के ऊपर लगाये जाते है।

वीणा सितार आदि सगीत के साधनो मे हम देखते है कि तारो के तानने और ढीला करने से सगीत के स्वरो मे विभिन्नता पैदा होती है। यही हाल स्वरतन्त्रियो का है। उनके तनने और ढीला होने से सुर उत्पन्न होता है। सुर केवल (स्वर आदि) ऐसी ध्वनियो मे सभव है जिनमे घोष हो क्योकि जब स्वरतन्त्रियाँ निष्क्रिय पडी होगी तब उनमे तनाव या ढीलेपन का सवाल ही नही उठता। साधारण रीति से सुर के तीन भेद किए जाते है, उच्च, नीच और सम। तनाव को अधिकता देना **उच्च,** उसे कम करना **नीच** और उसे बराबर एक ही अवस्था मे रखना **सम** सुर का लक्षण है और क्रमश इन ––तीन सकेतो से आधुनिक ध्वनिविज्ञानियो द्वारा व्यक्त किया जाता है। वैदिक ग्रन्थो के **उदात्त, अनुदात्त** और **स्वरित** भी सुर के ही भेद थे। इसी प्रकार ग्रीक भाषा के **ग्रेव, अक्यूट** आदि भेद भी सुर मे सबध रखते थे।

आर्य भाषाओ के प्राचीनकाल मे वैदिक सस्कृत और ग्रीक मे सुर के अस्तित्व के यथेष्ट प्रमाण है। परन्तु शब्दो के अर्थभेद के लिए इसका विशेष प्रयोग नही होता था। साथही उच्चारण की शुद्धता पर जोर था ही। **इन्द्रशत्रु** शब्द मे अस्थान सुर के प्रयोग से दैत्यो का नाश हो गया यद्यपि वे देवो का नाश करने चले थे, यह कथा पुराण मे प्रसिद्ध ही है। वर्तमान काल मे आर्य भाषाओ मे सुर का प्रयोग केवल मनोराग अथवा भावातिरेक, विधि, निषेध, प्रश्न, स्वीकृति, सन्तोष, विस्मय आदि को व्यक्त करने के लिए होता है, अर्थ मे विभिन्नता नही आती। हिन्दी की भोजपुरी बोली मे वाक्य के अन्तिम भाग मे सुर का प्रयोग होता है, अन्य बोलियो मे प्रयोग स्पष्ट नही दिखाई पडता। चीन और अफ्रीका की भाषाओ मे सुर का अधिक मात्रा मे प्रयोग होता है और सुरभेद से अर्थभेद हो जाता है। उदाहरण के लिए चीनी भाषा मे **'ब'** शब्द मे धीर सुर होने से उसका अर्थ होता है *महिला* उच्च होने से उसी **'ब'** का

उमेठना और तीक्ष्ण होने से अर्थ होता है **राजा का कृपापात्र**। अफ्रीका की फुल नाम की भाषा में '*मिवरत*' का अर्थ होगा **मैं मार डालूंगा,** यदि अन्तिम *अ* का वही सुर हो जो वाक्य की शेष ध्वनियों का है किन्तु यदि उसी अ का सुर अन्य ध्वनियों की अपेक्षा उच्च हो तो उसी वाक्य का निषेधात्मक (*मैं नहीं मारूँगा*) अर्थ होगा। चीनी भाषा में आठ प्रकार का सुर वर्तमान है ऐसा माना जाता है। फेरी लगा कर कपड़ा बेचने वाला चीन देश का निवासी जब हिन्दी बोलने का प्रयत्न करता है तब उसके उच्चारण में सुर के उदाहरण अनायास ही सुनाई पड़ते हैं।

बलाघात का प्रयोग आर्य भाषाओं (विशेषकर यूरोप की अँगरेजी आदि) में प्रचुर मात्रा में मिलता है। हिन्दी विद्वानों ने कभी-कभी इसको **स्वराघात** की संज्ञा दी है किन्तु सुर से इसकी विभिन्नता रखने तथा इसका स्वरूप ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिए बलाघात शब्द ही अधिक उपयुक्त है। **बलाघात** पद अथवा वाक्य में किसी विशेष ध्वनि अथवा ध्वनि-समूह पर अपेक्षाकृत अधिक प्राणशक्ति के व्यय करने से पैदा होता है। देवनागरी लिपि में इसे अंकित करने का कोई विशेष संकेत नहीं है, पर रोमन में जिस अक्षर या ध्वनि पर बलाघात हो उसके उपरान्त ऊपर की ओर चिह्न लगा कर व्यक्त किया जाता है, अन्तर-राष्ट्रीय ध्वनि-विज्ञान-परिषद् (International Phonetics Association) की प्रथा के अनुसार बलाघात-प्राप्त ध्वनि या अक्षर के पूर्व जरा ऊपर की ओर खड़ी पाई (।) लिखकर बताया जाता है।

बलाघात किस ध्वनि या अक्षर पर हो और कितना, यह अलग-अलग भाषाओं के अलग-अलग प्रवाह के अनुसार प्रचलित है। पर सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि अघोष ध्वनियों पर सघोष ध्वनियों की अपेक्षा कुछ अधिक बलाघात होता है।

ध्वनियों के गुणों का महत्त्व प्रत्येक भाषा का अलग-अलग होता है, साधारण रीति से कोई भी भाषा तीनों का बराबर मात्रा में प्रयोग नहीं करती। हिन्दी में मात्रा (काल) का, अँगरेजी में बलाघात का और चीनी में सुर का महत्त्व है और इन भाषाओं में इन गुणों का व्यतिक्रम अर्थ का

अनर्थ कर सकता है। उदाहरण के लिए *मरना, मारना, पिटना, पीटना; सुर, सूर, पता, पत्ता, रसा, रस्सा* मे अर्थभेद मात्राभेद के ही कारण है।

ये गुण भापाओ के महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। यदि कोई ध्वनियो का ठीक उच्चारण करता हुआ भी गुणो के उच्चारण मे ग़लतियाँ करे तो उस भाषा के समझने मे बडी कठिनाई हो जाती है। विदेशियो द्वारा निज भाषा के उच्चारण की असफलता का अनुभव प्राय सभी करते है।

प्रत्येक भाषा मे (काल की) मात्रा छन्द-शास्त्र के लिए, सुर सगीत-शास्त्र के लिए तथा बलाघात (विशेषकर रगमच पर की) वाग्मिता के लिए उपयोगी होता है।

तेरहवाँ अध्याय

संयुक्त ध्वनियाँ

वाक्यो मे ध्वनियो के समूह का ही प्रयोग होता है। किसी विदेशी भाषा को सुनकर हम केवल इतना बता सकते है कि वाक्य यहाँ से आरम्भ हुआ और यहाँ अन्त हुआ। यह भी इसलिए कि प्रत्येक वाक्य के उपरान्त हर आदमी थोडी देर के लिए रुकता है। पर वाक्य के भीतर शब्दो और अक्षरो को अलग-अलग जमाकर रखना, विदेशी भाषा क्या निज भाषा मे भी तब तक सभव नही जब तक मनुष्य ने उस भाषा का अध्ययन न किया हो। किसी अपढ आदमी से कहा जाय कि तुम इतने धीरे-धीरे बोलो कि सब शब्द और अक्षर अलग-अलग ही रहे तो निश्चय है कि वह इस आदेश का पालन न कर सकेगा।

ऊपर हम देख चुके है कि प्रत्येक भाषा मे इस सृष्टि के अनन्त ध्वनि-भडार मे से कुछ परिमित सख्या की ध्वनियो का प्रयोग होता है। और ये वाक्य मे भिन्न-भिन्न सयोगो मे उपस्थित होती है। व्यजन और स्वर परस्पर आते रहते है। पर कौन-कौन व्यजन एक साथ आ सकते है और कौन-कौन स्वर, यह हर एक भाषा अपने आप निश्चित करती है। उदाहरण के लिए, सस्कृत मे कई व्यजन तो पास-पास रह सकते थे (जैसे *कार्त्स्न्यं धार्ष्ट्र्यं* मे) पर दो स्वर एक साथ नही रहने पाते थे, सन्धि के नियमो के अनुसार या तो बीच मे कोई व्यजन आ जाय (जैसे (*गो + एषणा = गवेषणा, पौ + अक = पावक*) या दोनो मिलकर एक हो जायँ (*कुसुम + अवलि = कुसुमावलि , गज + इन्द्र = गजेन्द्र*)। पर प्राकृत काल मे प्राय इसकी उलटी ही स्थिति आ गई। दो से अधिक व्यजन एक साथ आने ही न पाते थे (*दष्ट्रा > दाढा*) और दो भी आते

व्यजन (ह्रस्व या दीर्घ) एक साथ रहता था। पर सस्कृत की प्रथा के विपरीत एक से अधिक स्वर एक साथ पास-पास रह सकते थे (*एेउर*, (*अन्तेउर, बप्पइराआ*)। इस प्रकार भाषा यही केवल निश्चय नही करती कि कौन-कौन सी ध्वनियो के सयोग वह ग्रहण करेगी बल्कि यह भी कि उनको कहाँ स्थान देगी।

सामान्य रूप से हम कह सकते है कि भाषा मे सघोप और अघोष स्पर्श ध्वनियाँ साथ नही आने पाती। यदि ऐसे सयोग की सभावना होती है तो वे दोनो समीकरण को प्राप्त होती है *भुज्+त=भुक्त, वाक्+जाल=वाग्जाल*)। महाप्राण ध्वनियाँ एक साथ उच्चारण मे नही आती, एक अल्पप्राण कर दी जाती है (*भूक्*)। सघोष अल्पप्राण स्पर्श सघोष ही महाप्राण के साथ आ सकता है और अघोष अघोष के साथ। पचमाक्षर सघोष अघोप दोनो के साथ आ सकते है और इसी प्रकार अत स्थ वर्ण भी। *श स्* ऊष्म वर्णो के साथ अघोष स्पर्श ध्वनि ही आ सकती है, सघोप नही। सघोप ह के साथ सघोष स्पर्श और अघोप के साथ अघोष स्पर्श आते है। सस्कृत मे म् न् हकार के उपरान्त आते थे, प्राकृत और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे पूर्व (*ब्रह्म > बम्हा, बरम्हा, चिह्न > चिन्ह चीन्ह*)

जब दो स्वर पास-पास आते है तो उनके स्पष्ट उच्चारण के लिए बीच मे जरा रुकना होता है, यथा *वप्पइराआ* के उच्चारण मे और *अ इ* तथा *आ* और *आ* के बीच मे यदि रुका न जाय तो *अ + इ* का उच्चारण *ए* हो जाय और *आ + आ* का *आ*। कभी-कभी न रुकने से बीच मे *य्* या *व्* श्रुति आ जाती है (*राआ > राया*)। किन्ही दो स्वरो का यदि अलग-अलग स्पष्ट उच्चारण न करके एक साथ उच्चारण किया जाय तो दोनो के इस सयोग को **मिश्रस्वर** कहते है। ऐसी अवस्था मे जिह्वा एक स्वर के उच्चारण-स्थान से एक साथ दूसरे स्वर के उच्चारण-स्थान को पहुँच जाती है और ऐसे समय मे सभावना यही होती है कि दोनो स्वरो के व्यक्तित्व मे कमी होकर एक **सम्मिश्रित** स्वर का उच्चारण हो। उदाहरण के लिए **पइसा** शब्द के *अ इ* स्वरो मे *अ* का उच्चारण प्रथम

आता है। इ सका स्थान मध्य (पश्च की ओर थोडा हटा हुआ) और प्रयत्न प्राय अर्धविवृत है तथा इ का स्थान अग्र और प्रयत्न सवृत और अर्धसवृत के बीच का है। अब इन दोनो को एक साथ बोलने मे जिह्वा अ के स्थान से तुरत हट कर जाना चाहती है, और इ तक पहुँचना चाहती है पर बीच मे अग्र और मध्य स्थान ग्रहण करके प्राय अर्ध-विवृत प्रयत्न से ही उच्चारण कर देती है। परिणामस्वरूप मिश्र स्वर ऐ (मूल स्वर ऐ से भिन्न) दोनो के स्थान पर सुनाई पडता है। मिश्र स्वर मे जिन दो मूल स्वरो से वह बना है उन दोनो का व्यक्तित्व कुछ न कुछ रहता है, यदि प्रथम का व्यक्तित्व प्रबल हुआ तो उसे, दूसरे स्वर के व्यक्तित्व की हीनता के कारण अवनायक मिश्र स्वर कहते है और दूसरा प्रबल व्यक्तित्व वाला है तो उसे उन्नायक मिश्र स्वर कहते है। *पैसा कैसा, पौना, ढऔचा* आदि उन्नायक मिश्र स्वर के उदाहरण है तथा *देउता, नेइया* आदि अवनायक मिश्र स्वर के।

इस जगह हमे मूल स्वर और मिश्र स्वर के परस्पर अतर का विचार कर लेना चाहिए। मूल स्वर मे जिह्वा एक स्थिति मे आरभ से अत तक रहती है और इसलिए स्वर का एकरस उच्चारण होता है, मिश्र स्वर मे जिह्वा दो स्थितियाँ ग्रहण करती है, एक स्थिति मे उच्चारण आरभ होता है और दूसरी मे उसका अत होता है, इस कारण वह एकरस नही रहता। उदाहरण के लिए वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओ मे ए और ओ सकेतो द्वारा व्यक्त की हुई ध्वनियाँ मूल स्वर है, इनका उच्चारण एकरस होता है। सस्कृत मे ये मिश्र कही जाती है, इससे प्राय निश्चय ही समझना चाहिए कि उस समय का उच्चारण वर्तमान उच्चारण से भिन्न (सभवत मिश्र ऐ और औ) रहा होगा।

सयुक्त ध्वनियो के छोटे से छोटे समूह को अक्षर कहते है और अक्षर की ध्वनियो का एक साथ (अति सन्निकटता) मे उच्चारण होता है। प्राचीन-भाषा-विज्ञो का विचार था कि स्वर ही अक्षर बनाने मे समर्थ होता है और जितने व्यजन उसके साथ लिपटे हो उनको साथ लेकर वह

अक्षर कहलाता है। पर ऊपर हम देख चुके है कि म़, ऩ भी अक्षर बनाने मे समर्थ है।

बोलते समय हमारे ध्वनियत्र से ध्वनियो का प्रवाह-सा निकलता है। उस प्रवाह को अक्षरो मे विभक्त करना भाषाविज्ञानी का कर्त्तव्य है। बहुधा लिखाई के ढग से हम लोगो को भ्रम हो जाता है, विशेष कर देवनागरी आदि अक्षरात्मक लिपियो मे *पापा, माशा, क्षिप्र, रस्सा* मे प्राय *पा। पा, मा। शा, क्षि। प्र* और *र। स्सा* इस प्रकार अक्षर-विभाग किया जायगा। पर उच्चारण पर थोडा भी ध्यान देने वाला *क्षिप्र* और *रस्सा* का अक्षर-विभाग *क्षिप्*्*र* और *रस्*। *सा* करेगा, *पा। पा* और *मा। शा* श को वह वैसा ही छोड देगा। परन्तु भाषाविज्ञानी और गहराई मे जाता है। रस्सा के उच्चारण मे स्पष्ट मालूम होता है कि दीर्घ स् का कुछ भाग प्रथम अक्षर मे और और कुछ द्वितीय अक्षर मे जाता है। इसी प्रकार *कुत्ता* के त् का कुछ भाग प्रथम अक्षर मे और कुछ द्वितीय मे। स् मे तो यह विभाजन समझ मे आ सकता है क्योकि स् सघर्षी वर्ण है और उसका उच्चारण धारारूप मे होता है, पर त् के विषय मे कठिनाई है। उसका उच्चारण तो स्फोटात्मक है। उसमे श्रोत्रेन्द्रिय को स्फोट ही सुनाई पडता है, एक अविभक्त रूप मे। धारा का आप विभाजन कर सकते है, मानसिक ही सही, पर स्फोट का विभाजन कैसे किया जाय ? त् प् आदि स्फोटात्मक (स्पर्श) ध्वनियो के उच्चारण मे तीन अवयव होते है—जिह्वा द्वारा उच्चारण स्थान की प्राप्ति (अर्थात् उस तक पहुँचने का प्रयत्न), उस स्थान पर कुछ काल तक स्थिति और फिर उस स्थान से झटके के साथ हटना। इसमे से अतिम अवस्था ही हमे सुनाई देती है। **कुत्ता, कुप्पा, छक्का, बट्टा** आदि के त्, प्, क्, ट् का अन्तिम अवयव (स्फोट) दूसरे अक्षर के साथ जाता है और प्रथम अवयव (प्राप्ति) प्रथम अक्षर के साथ, द्वितीय अवयव क्षणिक अवस्थिति (मौन) इन दोनो को अलग-अलग कर देती है। इसी प्रकार *क्षिप्र* की पूरी प् न क्षि के साथ है न र के साथ। उसका

प्रथम भाग प्रथम अक्षर के साथ और तृतीय, द्वितीय अक्षर के साथ जायगा। इन्ही उदाहरणो के अनुसार *पापा* और *माशा* मे भी अक्षर-विभाजन करना चाहिए। *माशा* की *श्* का कुछ भाग प्रथम अक्षर मे और कुछ द्वितीय मे जायगा। *पापा* की दूसरी *प्* का प्रथम अवयव प्रथम अक्षर मे शामिल होगा और तृतीय द्वितीय मे। *प्* का द्वितीय अवयव विभाजक रहेगा। यह भाषा के प्रवाह के अनुकूल ही विभाजन हुआ। वाक्यो का परस्पर पृथक्करण हम दो वाक्यो के बीच के मौन से ही तो करते है। इसी आदर्श पर वाक्याशो का भी विभाजन होना चाहिए। वाक्य के भीतर भी थोडा बहुत रुकना होता है यद्यपि वह वाक्यान्त के रुकने से, आपेक्षिक दृष्टि से, कम होता है और इसी प्रकार दो अक्षरो के बीच में भी अल्पाति-अल्प रुकना पडता है। इस रुकने का स्थान उन दो अक्षरो के बीच की मौन स्थिति (स्पर्श वर्णो का द्वितीय अवयव) या **श्रव्यता** की अल्पता होती है। स्वरत्व की अधिक मात्रा स्वरो मे, उससे कम अतस्थो मे, फिर सघर्षी वर्णो मे और कम से कम स्पर्श वर्णो मे होती है। इस प्रकार प्रवाह मे आई हुई ध्वनियो का विभाजन किया जा सकता है। भाषण मे हमे निरतर स्वरत्व का उत्थान और पतन सुनाई पडता है, इसमे स्वरत्व की अल्पता उसी प्रकार दिखाई देती है जैसे दो पहाडियो के बीच की बगड (तराई)। जैसे बगड दो पहाडियो के अलग-अलग अस्तित्व को जताती है उसी प्रकार स्वरत्व की अल्पता दो अक्षरो की सीमा निर्धारित करती है। जैसे दो बगडो के बीच के भाग को हम पहाडी कहते है, उसी प्रकार दो अल्प-स्वरत्व वाली ध्वनियो के बीच के ध्वनि-समूह को हम अक्षर कहते है।

यदि हम किसी ध्वनि-समूह की दो ध्वनियो के, बीच मे उन दोनो से कम स्वरत्व रखने वाली ध्वनि के होने के कारण, पृथक्त्व का अनुभव करते है तब हम निश्चय-पूर्वक कह सकते है कि वे दो ध्वनियाँ अलग-अलग दो अक्षरो की है।

इतना ध्यान रखना चाहिए कि स्वरत्व की मात्रा का ज्ञान अन्य ध्वनियो की तुलना की अपेक्षा पर निर्भर रहता है।

चौदहवाँ अध्याय

ध्वनिग्राम-विज्ञान—१

[PHONEMICS]

(भाषाओ को लिपिबद्ध करने की एक प्रणाली)

आधुनिक समय मे भाषाविज्ञान की प्रगति जिन दिशाओ मे हुई है, उनमे ध्वनिग्राम-विज्ञान का स्थान अत्यत महत्वपूर्ण है। किसी भाषा के ध्वनिग्रामो के आधार पर वैज्ञानिक पद्धति से उस भाषा के लिए एक सुव्यवस्थित लिपि के निर्माण मे जो सिद्धात सहायता देते है, उनका सम्यक् विवेचन ध्वनिग्राम-विज्ञान के अतर्गत होता है। भाषाविज्ञान की यह नवीन शाखा अमरीका मे प्राय अमरीकी विद्वानो की गवेषणा से विकसित हुई है। ध्वनिग्राम का विश्लेषण तो पिछली पीढी के अमरीकी भाषाविज्ञानी ब्लूमफील्ड तथा एडवर्ड सैपीर कर ही चुके थे। उनके आगे की दिशाएँ खोजने मे अमरीका के नवयुवक भाषाशास्त्रियो ने सराहनीय कार्य किया है। इन उत्साही विद्वानो मे प्रमुख है—केनेथ एल० पाइक, बर्नर्ड ब्लॉख, ट्रैगर तथा ग्लीसन। आजकल अमरीका के विश्वविद्यालयो मे जीवित भाषाओ के अध्ययन के लिए ध्वनिग्राम-विज्ञान के सिद्धातो का प्रयोग बडे मनोयोग से किया जा रहा है। वैसे तो इस क्षेत्र मे अनेक विद्वानो ने महत्वपूर्ण कार्य किया है, परतु इस विज्ञान के सबसे बडे उन्नायक रहे है केनेथ एल० पाइक। उनकी पुस्तक 'फोनीमिक्स' एक प्रकार से इस विज्ञान के लिए इजील सदृश है।

जैसा ऊपर कहा गया है, ध्वनिग्राम की खोज तथा परिचय आधुनिक नही है। इस क्षेत्र मे काफी महत्वपूर्ण विवेचन पुराने विद्वान् कर चुके है। उनके सिद्धातो के अनुसार ध्वनिग्राम ऐसी मिलती-जुलती ध्वनियो के समूह को कहते है जो एक-दूसरी से 'शब्दार्थ-भेदकारी विरोध'

प्रदर्शित न करे। यहाँ विरोध का अर्थ है कि यदि एक ध्वनि के स्थान पर दूसरी को रख दिया जाय, तो अर्थ-भेद पड जाय, जैसे हिन्दी '**कट**' और '**खट**' मे 'क्' और 'ख्' का परस्पर शब्दार्थ-भेदकारी (Distinctive) या ध्वनिग्रामीय विरोध (Phonemic contrast) है। इसके विपरीत, अग्रेजी मे 'क्' और 'ख्' परस्पर विरोध नही प्रदर्शित करती। ये दोनो मिलती-जुलती ध्वनियाँ अग्रेजी मे एक ही ध्वनिग्राम के अतर्गत है, क्योकि यदि हम उदाहरणार्थ '**खट**' (Cut) को '**कट**' कह दे, तो अर्थो मे कोई भेद नही पडता। हिन्दी भाषा मे क् एक ध्वनिग्राम है, ख् दूसरा। क् ध्वनिग्राम के अतर्गत हम इससे मिलती-जुलती अनेक ऐसी ध्वनियो को मानते है, जिन्हे व्यक्त करने के लिए हम स्वतन्त्र लिपि-चिह्नो की व्यवस्था सुविधापूर्वक नही कर सकते। यदि हम प्रत्येक उच्चरित ध्वनि के लिए एक अलग लिपि-चिह्न रखना चाहे तो यह एक प्रकार से असभव होगा क्योकि कोई भी दो व्यक्ति एक ही ध्वनि का उच्चारण एक प्रकार से नही करते और न एक ही व्यक्ति एक ध्वनि को सदैव एक ढग से उच्चारित करता है। वस्तुस्थिति तो यह है कि कोई भी ध्वनि किसी भी व्यक्ति द्वारा केवल एक बार ही उच्चारित हो सकती है, एक ही ध्वनि के एक ही व्यक्ति द्वारा किए गए दो उच्चारण एक से नही हो सकते। अत सपूर्ण मानवीय ध्वनियो को अकित करने के लिए हमे कितने लिपिचिह्न चाहिए इसकी कोई गणना ही नही हो सकती।

ध्वनिग्राम-विज्ञान के सिद्धात इस भाषावैज्ञानिक अव्यवस्था को दूर करने के लिए बनाए गए है। वैसे तो सभी लिपियो को व्यावहारिक दृष्टि से एक वर्णमाला का चुनाव करना पडता है, परतु यह चुनाव प्राय वैज्ञानिक तथा व्यवस्थित नही होता। ध्वनिग्राम-विज्ञान के सहारे हम किसी भाषा-विशेष की अनेकानेक ध्वनियो मे से कुछ निश्चित नियमो के आधार पर एक प्रतिनिधि ध्वनिसमूह को छाँट लेते है, और केवल इन्ही ध्वनियो को अकित करने के लिए लिपि-चिह्नो का निर्माण करते है। दूसरे शब्दो मे, उस वैज्ञानिक-लिपि मे हम ध्वनिग्रामो को तो चिह्नित करते है परन्तु ध्वनियो को नही। इन ध्वनिग्रामो को छाँटने की प्रक्रिया

का विवेचन ध्वनि-ग्राम विज्ञान मे होता है। इस प्रकार ध्वनिग्राम-विज्ञान किसी भाषा की ध्वनियो का स्वतन्त्र रूप से परीक्षण करने के साथ-साथ उस भाषा की प्रतिनिधि तथा आवश्यक ध्वनियो के समूचे ढॉचे का भी एक स्पष्ट रूप हमारे सम्मुख उपस्थित करता है।

जर्मन देश के नव्य-वैयाकरणो ने जिन चार सिद्धातो पर विशेष रूप से बल दिया था, उनमे से एक था जीवित बोलियो का सम्यक् तथा विस्तृत अध्ययन। ध्वनिग्राम-विज्ञान इन जीवित बोलियो को लिपिबद्ध करने की व्यवस्थित प्रणाली देने के साथ-साथ प्राचीन लिखित भाषाओ को लिपिबद्ध करने के लिए भी कुछ सुझाव हमे देता है। इस दृष्टि से भाषाविज्ञान मे ध्वनिग्राम-विज्ञान की व्यावहारिक उपयोगिता बहुत अधिक है। इतने पर भी इस विज्ञान मे अभी विद्वानो की बहुत आस्था नही है। इसके दो प्रधान कारण माने जा सकते है। एक तो यह कि यह अभी बहुत कुछ विकास की अवस्था मे है, इसके सिद्धात अभी तक अतिम रूप से निश्चित नही हो सके है। इस विज्ञान के प्रमुख व्याख्याता भी अपने सिद्धातो को कुछ शर्तो के साथ ही प्रस्तुत करते है। ध्वनिग्रामीय दृष्टिकोण से बहुत सीमित ढग से अग्रेजी की कुछ उप-भाषाओ को छोडकर अन्य किसी जीवित या प्राचीन भाषा की अभी तक परीक्षा न हो सकने के कारण इसके सिद्धातो को स्पष्ट करने के लिए एक काल्पनिक भाषा का सहारा लेना पडता है। इस भाषा को 'कल्बा' की बोली कहते है। दूसरी बात इस सबध मे यह है कि इस विज्ञान के साथ अभी तक भाषाविज्ञान के किसी महान् पडित का नाम नही जुड सका है। इन्ही कारणो से इसके सिद्धात अभी तक कुछ सन्देह की निगाह से देखे जाते है।

ध्वनिग्राम-विज्ञान बहुत कुछ अविकसित तथा अनिश्चित दशा मे होने पर भी, अपनी प्रकृति मे गणित से सादृश्य रखता है। इस विज्ञान के अध्येता को प्राय ही गणित जैसे अभ्यास करने के लिए दिए जाते है। निष्कर्ष को क्रमबद्ध किया जाता है, अपवादो को अलग कर उनके कारणो को समझा जाता है। इसके सिद्धातो को इतना स्थिर तथा

निश्चित बनाने का यत्न हो रहा है कि ध्वनिग्रामो को छाँटने की प्रक्रिया मे ध्वनि के भाषागत वितरण पर उसके उच्चारण की अपेक्षा अधिक बल दिया जाता है। किसी भाषा मे किसी ध्वनि-विशेष के वितरण को प्राय गणित जैसे नियमो की सहायता मे समझा जाता है, और इस वितरण के आधार पर ही यह निश्चित होता है कि वह ध्वनि वस्तुत ध्वनि है अथवा ध्वनिग्राम। इस सम्बन्ध मे उच्चारण के परम्परागत महत्व को भ्रामक कहकर ध्वनिग्राम-विज्ञान अस्वीकार करता है। इस विज्ञान की सपूर्ण प्रक्रिया कुछ मौलिक सिद्धातो को मान कर चलती है। इन मौलिक तथा आधारभृत सिद्धातो की सख्या वैसे तो अधिक है, परन्तु इनमे से भी चार सिद्धात बहुत प्रमुख है—

१ ध्वनियो की प्रवृत्ति है कि वे अपने समीपवर्ती वातावरण—से प्रभावित होती है। जीवित भाषा मे ध्वनियो का उच्चारण हम स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग कभी नही करते। ध्वनियाँ क्रम से उच्चारित होती है। ऐसी दशा मे ध्वनियाँ समीपवर्ती ध्वनियो से बराबर प्रभावित होती रहती है 'हनुमान' मे 'ह' का उच्चारण 'ह' के रूप मे होता है। यह अनुनासिकता 'ह' का समीपवर्ती अनुनासिक ध्वनियो के कारण हुई है। इसी प्रकार बहुत-सी ध्वनियाँ एक-दूसरे मे अन्तर्लीन हो जाया करती है। ऐसी स्थिति मे अन्तर्लीन हुई ध्वनि को लिपिबद्ध नही किया जाना चाहिए।

२ ध्वनि-समूह की प्रवृत्ति ध्वन्यात्मक साम्य की ओर होती है। किसी भाषा-विशेष की ध्वनियो की व्याख्या मे उस भाषा का सामान्य ध्वनि-समूह सहायक होता है। उदाहरणार्थ किसी भाषा-विशेष मे ध्वनिग्राम क्, ग्, च्, ज्, ट्, ड्, त, द् तथा प् पाए जाते है। इन पर दृष्टि-पात करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस भाषा-विशेष के स्पर्श-व्यजनो की माला मे प्रत्येक अघोष स्पर्श के साथ उसके साथ वाला सघोष स्पर्श भी है। यह नियम अघोष स्पर्श प् के बारे मे नही लागू होता अर्थात् इसके साथ के सघोष स्पर्श ब् का अभाव है। ऐसी स्थिति में ध्वनिग्राम-विज्ञान के द्वितीय आधारभूत सिद्धात के अनुसार यह अभाव

सुननेवाले के किसी भ्रम के कारण भी हो सकता है चूँकि भाषा के ध्वनि-समूह की प्रवृत्ति साम्य की ओर होती है, अत इस भाषा मे प् के अतिरिक्त अन्य सभी स्पर्श व्यजनो का अघोप तथा सघोष के युग्म मे होना इस बात की ओर सकेत करता है कि अघोष स्पर्श प् के साथ का सघोष स्पर्श ब् भी इस भाषा मे होना चाहिए। सभवत सुननेवाले की गलती के कारण ब् भी प् ही समझ लिया गया हो।

३ ध्वनियो की प्रवृत्ति परिवर्तन (Fluctuation) की होती है। मनुष्य का ध्वनि-यन्त्र अपरिवर्तित रूप से ध्वनियो के एक रूप उच्चारण के लिए अयोग्य है। एक ही शब्द का दो बार उच्चारण वस्तुत भिन्न-भिन्न रूपो मे होता है। इस सिद्धात के अनुसार किसी भाषा-विशेष की एक ध्वनि, बोलने वालो के बीच मे किसी मिलती-जुलती ध्वनि का रूप धारण कर लेती है। किसी भाषा-विशेष के बोलने वालो के लिए त् तथा द् ध्वनियाँ परस्पर परिवर्तनीय हो सकती है। बोलनेवाले स्वत इस अभेद के प्रति प्राय सजग नही रहते, परन्तु किसी विदेशी श्रोता के लिए ध्वनियो का अन्तर सुनते ही स्पष्ट हो जाएगा।

४ किसी भाषा-विशेप के अपने ध्वनि-क्रम उस भाषा की सदिग्ध ध्वनियो की व्याख्या मे सहायक होते है। इस नियम के अनुसार प्रत्येक भाषा के अपने विशेष ध्वनि-क्रम (Sound-sequence) होते है। दूसरे शब्दो मे भाषाओ मे ध्वनियो का क्रम, बहुत कुछ एक योजना के अन्तर्गत निश्चित होता है। उदाहरणार्थ किसी भाषा-विशेष मे स्वर और व्यजनो का वितरण साधारणत इस प्रकार है—स्वर व्यजन, व्यजन स्वर। अब यदि इस भाषा के किसी शब्द मे चार वर्ण है—स्वर व्यजन स्वर, और तीसरा वर्ण सदिग्ध है तो भाषा के सामान्य ध्वनि-क्रम के आधार पर हम यह निश्चित कर सकते है कि तीसरी ध्वनि व्यजन है।

ध्वनिग्राम-विज्ञान के इन चार प्रमुख तथा अन्य गौण आधारभूत सिद्धातो के अनुसार किसी भाषा-विशेष के ध्वनिग्राम छाँटे जाते है। ध्वनिग्रामो को छाँटने की प्रक्रिया ही इस विज्ञान की, भाषा-विज्ञान के

क्षेत्र मे मौलिक देन मानी जा सकती है। जेसा कहा जा चुका है, इस प्रक्रिया के सम्बन्ध मे सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसके अन्तर्गत ध्वनियो के उच्चारण को कोई महत्व नही दिया जाता। मतलब यह है कि उदाहरणाथ 'प्' और 'फ्' उच्चारण की दृष्टि से तो दो अलग-अलग वस्तुएँ है, पर इस बात का पता हमे इन दो ध्वनियो के अमुक भाषा मे वितरण को देख कर ही चल सकता है कि ये दो ध्वनियाँ एक ही ध्वनिग्राम के दो परिस्थितिजन्य उपरूप (allophones) है (जैसे अँग्रेजी मे) या दो अलग-अलग ध्वनिग्राम है (जैसे हिन्दी मे)।

दो या अधिक ध्वनियो को एक ध्वनिग्राम के उपरूप होने के लिए दो बाते आवश्यक है—

(१) उनमे परस्पर ध्वन्यात्मक साम्य (phonetic similarity) होना चाहिए—स्थान का, या प्रयत्न का, या दोनो का। उदाहरणार्थ 'क' और 'म्' मे परस्पर ध्वन्यात्मक साम्य नही है, इसलिए ये दो ध्वनियाँ एक ध्वनिग्राम के अतर्गत नही हो सकती। इसके विपरीत, 'क्' और 'ख्' (या 'क्' और 'ग्', या 'ड्' और 'न्' आदि) मे परस्पर उच्चारण मे सादृश्य है, इसलिए ये दोनो ध्वनियाँ एक ध्वनिग्राम की सदस्य हो सकती है।

(२) एक ध्वनिग्राम की दो सदस्य-ध्वनियाँ इस प्रकार बँटी होती है कि उनमे से एक जहाँ आती है, वहाँ दूसरी नही आती। उदाहरणार्थ अँग्रेजी मे 'फ्' बलाघातयुक्त स्वर के पूर्व आता है जब कि उसके पहले 'स्' न हो, जैसे 'फिन' (pin) मे, और 'प्' तब आता है जब उसके पहले 'स्' हो, जैसे 'स्पिन' (Spin) मे। pin को 'पिन' और Spin को 'स्फिन' कभी नही बोला जाता।

उक्त दूसरी विशेषता का एक अपवाद भी है। यदि किसी भी शब्द मे जहाँ एक ध्वनि आती है वहाँ उसके बदले दूसरी भी प्रयुक्त की जा सके और शब्दार्थ बिल्कुल न बदले, तब भी उन दो ध्वनियो को एक ही ध्वनिग्राम के अतर्गत माना जाता है, और वे ध्वनियाँ स्वच्छन्द परिवर्तन (free variation) मे कही जाती है, जैसे अँग्रेजी के एक प्रकार मे

अतिम 'प्' को चाहे 'प्' बोल दे, चाहे 'फ्' (up) 'अप' या 'अफ' कोई फर्क नही पडता। ध्वनि मे पडने वाले अनियन्त्रित अवश्यम्भावी भेद भी इसी के अन्तर्गत है।

हिन्दी मे एक दतोष्ठ्य सघर्षहीन सप्रवाह 'व्' ध्वनि है (v), और दूसरी द्वयोष्ठ्य 'व्' (w) जिसका उच्चारण 'उ अ' जैसा होना है। इन दोनो मे ध्वन्यात्मक साम्य इस प्रकार है कि दोनो ओष्ठ्य ध्वनियाँ है, दोनो सघोष है और दोनो स्पर्श या सघर्षी ध्वनियाँ नही है। इनका वितरण इस प्रकार है कि दोनो एक-सी ध्वन्यात्मक स्थितियो मे कभी नही आती—

दतोष्ठ्य 'व्'—शब्दारभ मे आती है, जैसे 'वहाँ' मे। व्यजन के पूर्व आती है, जैसे 'अवकाश' मे। दीर्घ या द्वित्व होकर आती है, जैसे 'कव्वाली' मे इत्यादि। इत्यादि।

द्वयोष्ठ्य 'व्'—आरभिक व्यजन के बाद आती है, जैसे 'स्वाद' मे। 'उ' के बाद स्वर के पहले आती है, जैसे 'कनकउवा' मे। इत्यादि।

निष्कर्षत ये दो ध्वनियाँ एक ही ध्वनिग्राम के अनर्गत है।

यदि भाषा में एक भी ऐसा उदाहरण मिल जाना है कि जहाँ दो ध्वनियाँ अलग-अलग अर्थो से युक्त शब्दो मे एक सी ध्वन्यात्मक परिस्थितियो मे आएँ, तो वे दो पृथक् ध्वनिग्राम होगी, जैसे हिंदी 'ड और 'ड्', क्योकि 'ड्' की भाँति "ड" भी दो स्वरो के बीच मे आती है, जैसे 'रेडियो' और 'सोडा' मे, और शब्दान्त मे भी, जैसे 'रोड' मे। (जो लोग ऐसे शब्दो को 'रेडियो', 'सोडा' और 'रोड' की भाँति बोलते है उनकी बोली मे 'ड्' और 'ड्' ध्वनियाँ एक ही ध्वनिग्राम के अतर्गत होगी।) अब यह प्रश्न उठता है कि उदाहरणार्थ हिंदी 'व्' और 'व्' मे ध्वनि किसे माना जाय और ध्वनिग्राम किसे माना जाय ? इस सम्बन्ध मे ध्वनिग्राम-विज्ञानियो का निर्णय है कि सम्बन्धित ध्वनियो मे जिसका वितरण अधिक तथा कई स्थानो पर हो उसी को ध्वनिग्राम माना जाना चाहिए। इस दृष्टि से व् और व् मे हम व् को ध्वनिग्राम मानेंगे और

व् को उसके अन्तर्गत ध्वनि। ध्वनिग्राम-विज्ञान द्वारा निर्णीत लिपि में केवल ध्वनिग्रामो को ही अंकित किया जाता है, ध्वनियो को नही। फलत हिंदी की ध्वनिग्रामीय लिपि में व़् को भी हम व् से ही अंकित करेगे, जैसा कि देवनागरी लिपि मे किया जाता है। इसी प्रकार से इस विज्ञान के सिद्धातो द्वारा किसी भाषा की हम एक वर्णमाला स्थिर करते है, और उसे अंकित करने के लिए वैज्ञानिक पद्धति पर लिपि की व्यवस्था करते है। ध्वनिग्राम-विज्ञान के ये प्रारंभिक सिद्धात अपनी प्रकृति मे अत्यन्त सरल तथा सामान्य जान पडते है। परन्तु जीवित भाषाओ मे इनके प्रयोग के समय बहुत सी नयी कठिनाइयो तथा जटिलताओ का सामना करना पडता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ध्वनिग्राम-विज्ञान के सिद्धान्त को परखने की कोई विशिष्ट कसौटी हमारे पास नही है। जब तक जीवित भाषाओ पर इनका सफल प्रयोग न किया जाय, हम इसकी प्रामाणिकता के बारे मे कुछ नही कह सकते। विज्ञान अपनी प्रकृति मे शुद्ध होता है, उसका कोई तात्कालिक उद्देश्य नही होता। परन्तु इसके विपरीत ध्वनिग्रामो का विज्ञान सोद्देश्य है। वह ध्वनियो तथा ध्वनिग्रामो का सूक्ष्म विश्लेषण तो करता है परन्तु इस सारे विश्लेषण मे उसका उद्देश्य रहता है भाषा के लिए एक वैज्ञानिक वर्णमाला तथा लिपि का स्थिरीकरण। यदि ध्वनिग्राम-विज्ञान अपने सिद्धातो के आधार पर जीवित या प्राचीन भाषाओ के लिए व्यवस्थित वर्णमाला तथा वैज्ञानिक लिपि निश्चित कर सका तो उसकी प्रामाणिकता स्वत सिद्ध होगी।

पन्द्रहवाँ अध्याय

ध्वनिग्राम-विज्ञान—२

ऊपर कह आए है कि ध्वनिग्राम वस्तुत किसी एक ध्वनि का वाचक न होकर एक सदृश ध्वनि-समूह का वाचक है। दूसरे शब्दो मे यह उन सदृश ध्वनियो की उस परिधि का वाचक है, जिसके बाहर जाते ही उनमे से कोई ध्वनि उस परिधि की दृष्टि से अपने समूह से पृथक प्रतिभाषित होने लगती है। इसीलिए ध्वनिग्राम की परिभाषा करना सरल कार्य नही है। इसकी परिभाषा मे तीन विशेषताओ का सन्निवेश किया गया है।

ध्वनिग्राम ध्वनि से इस अर्थ मे अलग है कि ध्वनि भाषा-निरपेक्ष होकर भौतिक घटना-मात्र को निर्दिष्ट करती है, जब कि ध्वनिग्राम एक भाषा-विशेष की सघटना की दृष्टि से सार्थक एक ध्वनिगत भेद मात्र को। ध्वनियो का वर्गीकरण स्थान, प्रयत्न प्रकार और अनुप्रदान (Secondary articulation) के द्वारा लगभग तीन लाख प्रकार से किया जा सकता है, जब कि प्रत्येक भाषा मे सार्थक ध्वनि-भेदो की सख्या किसी भी दशा मे ६० से अधिक नही होगी। वस्तुत प्रत्येक भाषा-भाषी के मन मे केवल यह सार्थक भेद ही बसते है और उसके कान इसीलिए अन्य भाषा के लिए अनभ्यस्त रहते है। यही कारण है कि अग्रेजी भाषा-भाषी हिन्दी के 'त्' और 'ट्' का भेद नही कर पाता, 'तुम' को 'टम' कहता है, और दूसरी ओर हिन्दी भाषा-भाषी अग्रेज़ी के स्पर्श और सघर्षी और द् और ट् मे अन्तर नही कर पाता। इसप्रकार ध्वनिग्राम की परिभाषा का पहला अग यह है कि वह भाषा की अभिव्यक्ति सघटना के छोटे से छोटे साभिप्राय ध्वनि-समूह के क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरण के लिए सस्कृत मे 'क्' का उच्चारण कोमल तालु के आगे

से भी हो सकता है, जब वह अग्र स्वर के साथ बोला जाय और पीछे से भी हो सकता है जब कि वह पश्चस्वर के साथ बोला जाय। पर उसके दोनो प्रकार के उच्चारण एक-दूसरे मे विविक्त नही माने जाते। इसीलिए संस्कृत भाषा की दृष्टि मे हम दो प्रकार के 'क्' केवल 'क्' ध्वनिग्राम के अन्तर्गत रखते है, और यह द्योतित करना चाहते है कि वस्तुत 'क्' का भेद 'ख्' से है या 'ग' से है, न कि 'क' मे ही दो भेद है।

ध्वनिग्राम की परिभाषा का दूसरा अग यह है कि वह जिस ध्वनि समूह का वाचकत्व या प्रतिनिधित्व करता है, उस ध्वनि-समूह मे उच्चारण की दृष्टि से परस्पर सादृश्य होता है। यह सादृश्य स्थानगत हो सकता है, यह प्रयत्नगत भी हो सकता है। जैसे 'दत्य' 'त्' और वर्त्स्य स्पर्शो मे स्थान के सामीप्य के, और दोनो के स्पर्श प्रयत्न के कारण तुल्यता है। हिन्दी मे वर्त्स्य और मूर्धन्य 'ट' के बीच भेद नही है। इसलिए हिन्दी की दृष्टि मे वर्त्स्य और मूर्धन्य 'ट' सदृश ध्वनियाँ है। किन्तु इस सादृश्य के साथ एक और विशेषता भी इस परिभाषा मे अभीष्ट है, जिसके बिना यह परिभाषा तर्कसगत नही है। परिष्कृत रूप मे हम अब ऐसी परिभाषा करते है कि ध्वनिग्राम ऐसी सदृश ध्वनियो के समूह का वाचक है 'जिनकी परिस्थितियाँ एक-दूसरे की पूरक है, अंग्रेजी मे इसको कम्प्लीमेंट्री डिस्ट्रिब्यूशन (complementary distribution) कहते है। इसका अर्थ यह है कि यदि हम मान ले कि एक ध्वनिग्राम ५ ध्वनियो का प्रतिनिधित्व करता है तो १ ध्वनि जिस परिस्थिति मे आती है उस परिस्थिति मे २, ३, ४, ५ नही आती, और क्रमश इसी तरह जिनमे २, ३ ४, ५ आती है, उनमे उनके अलावा शेष चार नही आती। वस्तुत भाषा की कोई भी ध्वनि अकेले नही आती, किसी न किसी दूसरी ध्वनि के परिवेश मे ही आती है, इसीलिए उस ध्वनि के प्रभाव से वह मुक्त नही हो सकती। जब यह प्रभाव उसमे विभेद उपस्थित करता है, तब उन विभेदो को हम उस भाषा की दृष्टि से नगण्य मानते है और यह कहते है कि वस्तुत यह विभेद उसकी परिस्थिति के कारण सलक्ष्य है। उस भाषा की दृष्टि से ये विभेद तात्विक

नही है, परन्तु जिस क्षण परिस्थिति के समान रहने पर भी दूसरी ध्वनियाँ जो जितनी भी सदृश क्यो न हो, उच्चारण होते ही अलग प्रतिमा, शब्द और अर्थ दोनो की उपस्थिति कर देती है, उसी क्षण हम उस ध्वनि को पृथक् ध्वनिग्राम के अन्तर्गत रखने के लिए विवश हो जाते हैं। उदाहरण के लिए अँग्रेजी मे अल्पप्राण और महाप्राण स्पर्श ध्वनियाँ अलग-अलग ध्वनिग्राम न बनाकर एक-एक ध्वनिग्राम के अन्तर्गत ही रखी जाती है, क्योकि, अँग्रेजी की उदाहरणार्थ, महाप्राण 'ख्' ध्वनि केवल किसी भी शब्द के प्रारम्भ मे किसी बलाघात युक्तस्वर के पूर्व आ सकती है जब कि अल्पप्राण 'क्' 'स्' के बाद आती है। इसलिए हम कह सकते है कि अँग्रेजी के 'क्' और 'ख्' का वितरण परस्पर पूरक है। यह परस्पर पूरकता वस्तुत भाषा की परिस्थितियो पर ही निर्भर है। भाषा मे ध्वनि-भेद भाषातिरिक्त कारणो से भी हो सकते है, जैसे किसी के वाग्यन्त्र मे कोई त्रुटि हो, कोई भावनातिरेक से बोल रहा हो, बोझ उठाने के बाद बोल रहा हो, मुँह मे कुछ रखकर बोल रहा हो। ऐसे जो ध्वनि-भेद होगे उनका सम्बन्ध भाषागत परिस्थिति से न होकर भाषा से बाहर की परिस्थितियो से है। और ऐसे भेदो को हम इसीलिए अनियन्त्रित भेद (free variation) कहते है। इन अनियन्त्रित भेदो का विश्लेषण भाषा-विज्ञान का विषय नही है। ध्वनि-विज्ञान का अध्येता इन भेदो का आकलन करके छोड देता है। इनके कारणो की मीमासा मे वह नही पडता। इसके विपरीत जो भेद भाषागत परिस्थितियो के कारण होते है और जिनके वितरण का क्षेत्र भाषा के अवयवो के द्वारा किया जा सकता है, उनका हम न केवल आकलन करते है बल्कि उनके कारणो का निर्देश भी। इस तरह अब हम परिभाषा मे इस प्रकार सस्कार करते है—"ध्वनिग्राम ऐसी सदृश ध्वनियो का समूह ज्ञापित करता है जो एक-दूसरे के परिवेश मे नही आती या जो नियन्त्रित प्रकार से एक-दूसरे से भिन्न हो जाती है।" ध्वनिग्राम की परिभाषा की अन्तिम विशेषता यह है कि वह एक सघटना की इकाई होता है, इसलिए उस सघटना मे जो प्रतिरूपता का

समनुहार (Pattern congruence) होता है, उसके वह विपरीत नही जाता। इसका अर्थ यह है कि मान लीजिए किसी भाषा मे 'ड्' और 'ढ्' के वितरण के क्षेत्र एक-दूसरे के पूरक है और इस प्रकार किसी न किसी अश तक उच्चारण-सादृश्य होने के कारण तथा 'ड्' और 'ढ्' मे परिस्थिति-विरोध भी नही है तो इस कारण भी हम 'ड्' और 'ढ्' को एक ध्वनिग्राम के अन्तर्गत मान लेगें। परन्तु यदि हम दूसरी स्पर्श श्रेणियो के घोष अल्पप्राण और घोष महाप्राण मे विरोध (contrast) देखते है तो हमारी इस तीसरी कसौटी के कारण 'ड्' और 'ढ्' को एक ध्वनिग्राम मे रखना उचित नही होगा। उस भाषा के प्रतिरूप का जो परस्पर समनुहार है वह 'ड्' और 'ढ्' मे भी भेद की अपेक्षा रखता है 'ड्' और 'ढ्' को एक ध्वनिग्राम बना देने से यह समनुहार बिगड जाता है।

इस प्रकार अन्तिम रूप से ध्वनिग्राम की परिभाषा सक्षिप्तरूप मे यह हुई —

(१) ध्वनिग्राम ऐसा ध्वनि-समूह है, जो किसी भाषा मे दूसरे ध्वनि-समूह से पृथक् प्रतीत होता है, और उसके पार्थक्य के अलावा दूसरे पार्थक्य का महत्व उस भाषा मे ध्वनि के स्तर पर नही होता।

(२) ध्वनिग्राम जिस सदृश ध्वनियो के समूह को ज्ञापित करता है, वे ध्वनियाँ या तो एक-दूसरे के वितरण के क्षेत्र की पूरक होती है या उनका भेद अनियन्त्रित कारणो से होता है।

(३) ध्वनिग्राम-राशि भाषा-विशेष की सघटनो के प्रतिरूप समनुहार का पालन करती है।

ध्वनिग्राम की यह परिभाषा शुद्ध धारणात्मक आकलन है और इस अश तक इसकी कोई भी परिभाषा पूर्ण नही कही जा सकती। वस्तुत हम ध्वनिग्राम का उच्चारण करते भी नही है और कानो मे भी जो लहरे आती है वे लहरे ध्वनि की होती है, ध्वनिग्राम की नही। परन्तु हम किसी भी भाषा की किसी भी ध्वनि के उच्चारण के पूर्व और उसके श्रवण के पश्चात् उस ध्वनि के दूसरी ध्वनि के साथ जिस सम्बन्ध को मन मे तात्त्विक और सार्थक समझते है, उसी के अनुसार प्रेरित होकर हम वैसा

प्रयत्न करते है और वैसे ही ग्रहण करते है। इसलिए हमारी मानसिक प्रक्रिया मे ध्वनिग्राम ही रहता है, ध्वनि नही। ध्वनि तो ध्वनिग्राम के प्रतिव्यजक मात्र है और ध्वनिग्राम शब्दार्थ की सम्पृक्त प्रतिमा के प्रतिव्यजक है। दूसरे शब्दो मे प्रयत्न के प्रारम्भ और ग्रहण दोनो ही ध्वनिग्राम प्रेरित होते ह।

ध्वनिग्राम के मुख्यत दो भेद किए जाते है—खड-रूप (Segmental) और अखड-रूप (Supra Segmental)। खड-रूप से हमारा तात्पर्य ऐसे ध्वनिग्रामो से है, जो दूसरे ध्वनिग्रामो से समय एव प्रयत्न मे खड-खड कर के विश्लेषित किए जा सकते है, और अखड-रूप से हमारा तात्पर्य उन ध्वनिग्रामो से है, जो खड-रूप ध्वनिग्रामो से पृथक् होते हुए भी उनके बिना नही आ सकते, अर्थात् जो उनके साथ समकालिक और सहप्रयत्नकृतरूप से ही उपस्थित हो सकते है। उदाहरण के लिए हिन्दी मे 'इ' और 'ई' को हम ले। इ' और 'ई' मे भेद मात्रा का है। यह मात्रा वस्तुत ध्वनिग्राम के उच्चारण-काल की ही मापदड है। अपेक्षाकृत उसी अवस्था मे उसी स्थान मे जीभ को अधिक समय तक रखने से दीर्घ उच्चारण होता है और कम समय तक रखने से ह्रस्व उच्चारण होता है। अब इस मात्रा के लिए अलग से प्रयत्न या खड-रूप ध्वनिग्राम के अलावा कोई समय नही लगता। इसलिए हम 'इ' और 'ई' को प्राचीन सस्कृत वैयाकरण पाणिनि के अनुसार एक ध्वनिग्राम रखेगे, पर उनके परस्पर भेद को ज्ञापित करने के लिए मात्रा को एक अलग विवेचक गुण मान लेगे। इस प्रकार अखड-रूप ध्वनिग्राम खड-रूप ध्वनिग्राम का गुण होता है। अधिक मोटे तौर मे समझना चाहे तो खड-रूप ध्वनिग्राम व्यक्त है और उसकी अपेक्षा अखड-रूप अव्यक्त। कुछ विद्वानो ने अखड-रूप ध्वनिग्राम को ध्वनिग्राम-गुण ही माना है, ध्वनिग्राम नही, और उसे ध्वनिग्राम का छन्द (अन्तर्निहित गुण) (Prosodic feature) माना है।

खड-रूप ध्वनिग्राम-राशि प्राय दो भागो मे विभक्त की जाती है, स्वर एव व्यजन। यह विभाजन वस्तुत ध्वनि-भेद पर न आधारित होकर

अक्षर-रचना (Syllabic Structure) पर आधारित है। अन्तस्थ (Semi Vowel) वस्तुत भिन्न-भिन्न प्रकार के आचरण के कारण कभी स्वर के अन्तर्गत कभी व्यजन के अन्तर्गत रखे जाते है, पर उस दशा मे वे दोनो प्रकार की ध्वनिग्राम-राशियो मे अलग-अलग ध्वनिग्राम के रूप मे रखे जाते है। जैसे सस्कृत मे ऋ, ऌ तथा र्, ल् क्रमश स्वर-सघटन और व्यजन-सघटन मे रखे गये है। इनका अन्तर केवल इनकी सवहन क्षमता का ही है। अपने साथ दूसरे व्यजनो का सवहन करने मे सक्षम है अन्यथा ऋ र्, ऌ और ल् ये दोनो युग्म एक ही प्रकार के एक ही स्थान से निर्गत होने वाले घोष, विवृत ध्वनि-समूह के ज्ञापक है।

स्वर-सघटना मे प्राय दो प्रकार के स्वर आते है, शुद्ध (monophthong) और मिश्र (diphthong)। मिश्र-स्वर, शुद्ध स्वर और श्रुति के योग से बना हुआ एकाक्षर स्वर होता है, जैसे सस्कृत मे ऐ, औ। अग्रेजी मे सधि-स्वरो की सख्या सस्कृत की अपेक्षा अधिक है और इसलिए लाघव की दृष्टि से अग्रेजी मे ९ मूल स्वरो के अलावा हम य्, व् और ह् श्रुतियो की कल्पना कर लेते है।

ɪ इ	iː ई	u उ
e ए	ə अ	o ओ
æ ऐ	a आ	ɔ औ

और इसप्रकार स्वर-ध्वनिग्रामो की सख्या १२ मे ही सीमित हो जाती है। सस्कृत मे चूँकि केवल ऐ और औ ये ही दो सधि अक्षर है इसलिए श्रुतियो (Glide) की कल्पना न करके इन्ही को हम दो ध्वनिग्राम मान लेते है। स्वर-सघटना तथा श्रुति के अलावा मात्रा (length), सुर (सगीतात्मकता), (pitch) और बल (Stress) जैसे अतिरिक्त

गुण जिन्हे हम अखड रूप ध्वनिग्राम कहते है, भी है। अग्रेजी मे श्रुति की सार्थकना है, मात्रा की नही। इसलिए अग्रेजी मे हम श्रुति-ध्वनिग्राम की कल्पना करते है मात्रा को विवेचक नही मानते, और मात्रा को ध्वनिग्राम नही मानते। सस्कृत मे ऐ और औ को पृथक् ध्वनिग्राम मान लेने के बाद हमे श्रुति को अलग ध्वनिग्राम मानने की आवश्यकता नही पडती।

अ – आ – अ ३
इ – ई – ई ३
उ – ऊ – ऊ ३
ऋ – ॠ

इन भेदो को मात्रा पर आवृत मानकर और अ इ उ ऋ को तीन मात्रा-भेदो मे ३ मात्रा रूप खड ध्वनिग्राम मानते है।

इसी प्रकार वैदिक सस्कृत मे स्वराघात के तीन स्तर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित जब एक-दूसरे से विविक्त दीखते है और भाषा की सघटना मे हम इस विविक्तता का प्रमाण भी पाते है तो उन्हे भी हम ३ सुर-रूप अखड ध्वनिग्राम परिकल्पित कर लेते है। लौकिक सस्कृत मे यह सुर-भेद अपनी सार्थकता खो बैठा और इसलिए वहाँ पर हम कह देते है कि लौकिक सस्कृत मे सुर ध्वनिग्राम नही है। अग्रेजी भाषा के बलाघात के ४ स्तर, प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ—चारो की कल्पना इसलिए करते है कि ये चारो स्तर एक-दूसरे से विविक्त है। इन अखड-रूप ध्वनिग्रामो को कुछ लोग विशेषाधायक गुण (attributes) भी कहते है। कुछ ऐसे भी अखड-ध्वनिग्राम होते है, जो एक स्वर या एक अक्षर तक सीमित न रहकर स्वर-समूह या अक्षर-समूह को व्याप्त करके आते है। ऐसे अखड-रूप ध्वनिग्रामो के दो प्रकार है—

(१) काकु (Intonation)
(२) विवृति (Juncture)

काकु और विवृति की मीमासा अभी हाल ही मे शुरू हुई है और इन्हे ध्वनिग्राम-राशि के अन्तर्गत ग्रहण करने मे पुराने विचारो के लोग

अभी सकोच करते है, पर इनसे ध्वनिग्राम-राशि को ग्रहण करने मे भाषा की वाक्य-सघटना को समझने मे अधिक सहायता मिलती है। हम यहाँ विस्तार मे न जाकर केवल इतना ही सकेत कर देना चाहते है कि काकु-भेद और विवृति-भेद से शब्दार्थ मे बहुत अधिक भेद आ जाता है। एक ही ध्वनिग्राम-विन्यास भिन्न-भिन्न काकु मे यदि उच्चरित हो तो वही सामान्य कथन भी हो सकता है, वही आक्षेपमय कथन भी हो सकता है और वही प्रश्न भी बन सकता है। उदाहरण के लिए—"आप बडे बहादुर है" को तीन काकुओ मे तीन अर्थ-प्रदान किये जा सकते है—

(१) आप बडे बहादुर है। सामान्य कथन

(२) क्या आप बडे बहादुर है?—प्रश्न

(३) आप बडे बहादुर अपने को झूठमूठ कहते है—आक्षेप वचन

इसलिए एक ही वाक्य मे तीन काकुओ की परिकल्पना करनी पडेगी विवृति के चार अभिधान हो सकते है, अल्प (Open transition or plus juncture), निलम्बित (Sustained), आरोही (Rising) तथा अवरोही (Falling)। दो शब्दो के बीच मे अल्प विवृति होती है। जैसे सस्कृत के ये दो वाक्य ले—

न तेन लिखितो लेख =उसने लेख नही लिखा।

नतेन लिखितो लेख =उसने झुक कर लेख लिखा।

इनमे सिवाय इसके कि पहले वाक्य मे 'न' और 'तेन' के बीच मे एक अत्यल्प विवृति अर्थात् अवकाश की कल्पना करे, दूसरा कोई भेद दूसरे वाक्य से ध्वनिग्राम के स्तर पर नही सोच सकते, क्योकि दोनो वाक्यो मे प्रयुक्त ध्वनिग्राम राशि बिल्कुल एक है। निलबित विवृति को हम लिखने मे प्राय अल्प विराम से घोषित करते है। साधारणत आरोही विवृति को प्रश्नवाचक चिह्न से और अवरोही को पूर्ण विराम से दिखाया जाता है।

व्यजन-ध्वनिग्रामो की सघटना मे हम ध्वनिग्रामो का वर्गीकरण मुख्यत स्पर्श, सघर्षी और विवृत इन तीन श्रेणियो मे करते है व्यजनो के वैरूप्य का चरम उत्कर्ष चिपेव्यन भाषा मे मिलता है, जिसमे स्पर्श एव

सघर्षी व्यजन ध्वनिग्रामो की सख्या ४० है और सबसे अधिक अपकर्ष हवाई द्वीप की भाषा मे मिलता है, जिसमे सघर्षी व्यजन नही है और केवल दो स्पर्श व्यजन ध्वनिग्राम है। इस प्रकार व्यजन ध्वनिग्रामो की सघटना के स्तरो मे अन्तर की गुजाइश बहुत ज्यादा है। अग्रेजी मे

p t k b d g č ǰ f θ v δ
प् त् क् ब् द् ग् च् ज् फ् थ् व् द्
s š z ž h y w r l m n ŋ
स् श् ज् फ् ह् य् व् र् ल् म् न् ङ्

कुल २४ व्यजन ध्वनिग्राम है और सस्कृत मे

क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ त थ द ध
प फ ब भ ङ ण न् म् श ष स ह य र ल व।

३२ व्यजन ध्वनिग्राम हैं। इन दोनो भाषाओ की व्यजनराशि की तुलना करने मे तीन चीजे स्पष्ट प्रतीत होती है—(१) सस्कृत मे अल्पप्राण और महाप्राण म विरोध या वैरूप्य है जो अग्रेजी मे नही है (२) सस्कृत मे दन्त्य और मूर्धन्य मे वैरूप्य है, जो अग्रेजी मे नही है। (३) अग्रेजी मे प् त् द् का वैरूप्य क्रमश सवर्गी फ् थ् द् से है, जो सस्कृत मे नही है। (४) सस्कृत मे ऊष्म स् श् ष् ध्वनिग्रामो मे घोष-अघोष का भेद नही है, जब कि अग्रेजी श् स् में है। इसप्रकार प्रत्येक भाषा मे, हम यह कह सकते है कि वैरूप्य और सारूप्य के स्तर भिन्न-भिन्न होते है और इसी कारण हम एक भाषा के ध्वनिग्राम को दूसरी भाषा के ध्वनिग्रामो के द्वारा ज्ञापित नही कर सकते।

ध्वनिग्राम की परिभाषा और भेदो को समझ लेने के बाद उसका विश्लेषण आसान हो जाता है। ध्वनिग्राम-विश्लेषण करते समय तीन प्रकार के खतरो से बचने की जरूरत है—(१) अतिभेद न किया जाय अर्थात जो भेद उस भाषा-विशेष मे सार्थकता नही भी रखते हो, उनको हम अपने ग्रहण के सूक्ष्म सकौन के कारण पृथक् ही ध्वनिग्राम रख दे। ऐसा प्राय तब होता है, जब हम ऐसी भाषा के अभ्यस्त रहते है, जिसमे वे भेद सार्थक हो और जिस दूसरी भाषा का विवेचन करना हो,

उसमे वे भेद सार्थकता न रखते हो। (२) अत्यधिक अभेद से बचना। हम ऐसी भाषा के अभ्यस्त होते है, जिसमे कुछ ध्वनि-समूह भिन्न नही जान पडते, तो उस भाषा का विवेचन करते समय जिसमे उन ध्वनि-समूहो मे भेद सार्थकता रखते है, प्राय अभेद भी करने लगते है। (३) हम मिश्र और सधि ध्वनिग्रामो को गलत ढग मे विकलित करे। उदाहरण के लिए जहाँ जर्मन मे ट् श् एक ध्वनिग्राम न होकर दो ध्वनिग्रामो का योग है, वहाँ अमरीकी अग्रेजी बोलने वाले इनसे केवल एक ध्वनिग्राम च् ग्रहण कर सकते है, क्योकि उनकी भाषा मे च् दो ध्वनिग्रामो का सध्यक्षर नही है। या जैसे पूर्वी हिन्दी भाषा-भाषी cat मे आने वाले स्वर को सध्यक्षर मान सकते है जब कि अग्रेजी में वह शुद्ध स्वर है।

इन खतरो से बचते हुए हम जब ध्वनिग्राम-विश्लेषण करने बैठते है तो हम पहले ध्वनियो को जैसा ग्रहण करते है, वैसा ही अकित करते चले जाते है। यह अकन सूक्ष्म होता है और इसको सूक्ष्म लेखन (Narrow transcription) कहते है और इनको बडे कोष्ठ [ ] के भीतर रखते है। बाद मे हम प्रत्येक ध्वनि के परिवेशो का आकलन करते हे और यदि हमे ऐसे प्रमाण मिलते है कि दो सदृश ध्वनियो के परिवेश एक-दूसरे के पूरक है तो हम उन दो सदृश ध्वनियो को एक ध्वनिग्राम के अन्तर्गत रखकर आगे बढते है। पूरी ध्वनिग्राम-राशि को इस तरह वर्गबद्ध करके पुन उनकी सघटना की तुलना करते है और अन्त मे ध्वनिग्राम-राशि का निश्चय करते है। अतिम रूप से निर्धारित ध्वनिग्रामो को हम दो तिर्छी / / रेखाओ के बीच मे रखते है और पूरक वितरण को इस प्रकार द्योतित करते है—

अग्रेजी मे /क/ $\begin{bmatrix} \text{ह} \\ \text{क} \end{bmatrix}$ आद्य स्थिति मे

तथा [क] स् के बाद

और क ध्वनिग्राम के अतर्गत दो परिस्थितिजन्य उपरूपो या ध्वनिग्राम-

व्यष्टियो Allophones को रखते है। हम विश्लेषण करते समय अनियत्रित भेदो की सूचना-मात्र देकर छोड देते है, क्योकि उनके कारण भाषागत नही हुआ करते। ध्वनिग्राम भेद पर विशेष बल देने के कारण ही देवनागरी लिपि सस्कृत भाषा के लिए वैज्ञानिक लिपि कही जाती है।



सोलहवाँ अध्याय

ध्वनि-विकास

गत पृष्ठों में भाषा के विकास पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि भाषा के प्रत्येक अवयव, ध्वनि, अर्थ, वाक्यविन्यास आदि का विकास परिवर्तन के रूप में बराबर होता रहता है और इसका मूल कारण प्रयत्न-लाघव या सुविधा है। ध्वनियों के परिवर्तन में यह कारण विभिन्न प्रकार से काम करता रहता है। यह प्रयत्न-लाघव तरह तरह से व्यक्त होता है। पीछे बताया गया *मंगलाचार* के *चार* के स्थान पर *चारि* और *कमांडर* की जगह *कमंडल* का उच्चारण भी मस्तिष्क की शिथिलता और इसलिए प्रयत्न-लाघव का ही उदाहरण है। सादृश्य से भी विकास होता है। जब *ग़रीब* की जगह *गरीब* और *सिग्नल* की जगह *सिगल* बोला जाता है, तब विदेशी अपरिचित ध्वनियों के स्थान पर वैसी ही निकटतम परिचित ध्वनियों या ध्वनि-समूहों के प्रयोग में भी प्रयत्न-लाघव ही छिपे रूप से काम कर रहा है। विदेशी अपरिचित ध्वनि का उच्चारण कष्ट-साध्य था, उसके सदृश चिरपरिचित स्वदेशी ध्वनि का सरल। प्रयत्न-लाघव केवल बोली हुई ध्वनियों के परिमाण को कम ही करे, ऐसी भी बात नहीं है। *छोटा लोटा* की जगह जब *छोटा वाला लोटा* कहा जाता है, तब साफ ही अधिक ध्वनियाँ बोली गई। या जब *बेटा* की जगह *बेटवा* कहा गया तब भी कुछ अधिक ध्वनि निकली। पर इन विस्तृत ध्वनि-समूहों के बोलने ही में मस्तिष्क को कुछ अधिक आराम मिला, इसलिए यहाँ भी मूल कारण प्रयत्न-लाघव ही है।

सहसा यह कह देना कि अमुक ध्वनि अथवा अमुक ध्वनि-गुण का उच्चारण सहल है और अमुक का कठिन, जरा मुश्किल बात है। ध्वनियों की सरलता और कठिनाई भाषा के प्रवाह पर निर्भर है।

हिन्दी वालो के लिए फ्, थ्, द्, ज्, आदि सघर्षी सघोष अथवा अघोष ध्वनियाँ जितनी ही कठिन है, उतनी ही अगरेजी वालो के लिए हमारी दन्त्य त्, थ्, द्, ध्, अथवा फारसी वालो को हमारी च्, घ्, थ्, ध्, आदि महाप्राण। हिन्दी मे ही बोलियो के अनुसार, किसी को चन्दन की जगह *चन्नन* और *अँधारी (अँधेरी)* की जगह *अन्हारी* सहल मालूम पडता है तो दूसरे को इसके विपरीत *जोन्हय्या* की जगह *जोंधय्या* और *कन्हय्या* की जगह *कँधय्या* अधिक सहल है। वैदिक भाषा-भाषी जिस ऋ को अनायास स्वाभाविक रूप से बोल सकते थे, उन्ही के उत्तराधिकारी वर्तमान भारतीयो म इस ध्वनि का शुद्ध उच्चारण करने वाला तलाश करने पर भी नही मिलता। हिन्दी की कुछ पच्छिमी बोलियो मे दो स्वरो के बीच मे आनेवाला हकार गायब होना दिखाई देता है (*रहता>रैता*) तो कुछ अन्य बोलियो मे हकार आता हुआ नजर आता है (*तैरता> तहेरता*)। इसप्रकार कवि के शब्दो मे शब्द-ब्रह्म हम लोगो से खिलवाड-सा करता दिखाई देता है। नीचे ध्वनि-विकास का स्वभाव दिया जाता है।

(१) ध्वनि-विकास बहुत धीरे-धीरे मन्दातिमन्द गति से चलता रहता है। सस्कृत का *अग्नि* आज *आग* के रूप मे दीखता है। इसके बीच के रूप *अग्गी, आगि, आगि,* आदि मिलते ही है। परन्तु *अग्नि* और *अग्गी* के बीच मे न जाने कितनी सदियाँ लगी होगी। और फिर अन्तिम ई का ह्रस्व इ और उससे फिर लोप हो जाना यह भी कम समय का द्योतक नही। यदि ई की कालमात्रा ४० इकाई रही होगी तो उसको शून्य तक पहुँचने मे कई सौ वर्ष लगे होगे। इसप्रकार का ध्वनि-विकास अपने आप मनुष्य-समुदाय के अनजान मे ही हुआ करता है। यदि जान-बूझ कर होता तो भाषा के समझने मे दिक्कत होती और लोग इसको रोकते। यह अनायास अपने आप होता रहता है और बहुत धीरे-धीरे होने के कारण ही मालूम नही पडता। मालूम तो तब होता है, जब भाषाविज्ञानी बैठकर उस भाषा के विकास का अध्ययन करता है, तब वह इस परिवर्तन पर दृष्टि डालता है।

(२) ध्वनि-विकास शनै-शनै और अनजान मे तो होता ही है वह एक सुसगठित मनुष्य-समुदाय मे सर्वत्र व्यापक होता है। यह नही कि वह समुदाय के दस व्यक्तियो या परिवारो मे तो हो रहा हो और शेष अछूते छूट गए हो। ध्वनि-विकास की विभिन्नता मनुष्य-समुदाय की सुश्लिष्टता की कमी की द्योतक होती है। यदि दो स्वरो के बीच मे आने वाली त् ध्वनि का महाराष्ट्री प्राकृत मे लोप और शौरसेनी मे द् आदेश मिलता है तो इतना निश्चय समझना चाहिए कि इन दोनो प्राकृतो के बोलने वाले भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे रहते थे और एक मे उपर्युक्त परिवर्तन की गति तीव्र थी और दूसरे समुदाय मे मन्द। सस्कृत *गत* का स्थानापन्न ब्रज मे *गओ* और खडी बोली (हिन्दुस्तानी) मे *गया* भी प्रदेश और मनुष्य-समुदाय की विभिन्नता ही बताता है। यह ध्वनि-विकास किसी की नकल करने का परिणाम नही होता क्योकि वैसी अवस्था मे कुछ लोग ही तो नकल करते, सभी न करते, न कर पाते और परिवर्तन मे विभिन्नता दिखाई पडती। और फिर नकल अनजान मे तो होती नही।

(३) ध्वनि की, वाक्य अथवा शब्द मे जो परिस्थिति होती है उसके अनुसार ही उसका विकास होता है। ध्वनि शब्द के आदि मे है, मध्य मे है या अन्त मे, आगे पीछे समान ध्वनियाँ है या असमान, स्वय स्वर है या व्यजन, अनुनासिक है या केवल मौखिक इत्यादि बातो पर ध्यान देना पडता है। सस्कृत के *स्नान, सप्त, वत्स,* सब मे स् है पर प्राकृत मे इन शब्दो के उत्तराधिकारी *ण्हाण, सत्त, वच्छ* मिलते है और एक ही ध्वनि स् के तीन रूप (*ह्, स्, छ्*) अलग-अलग स्पष्ट दिखाई पडते है। सस्कृत के *तत, कति, भवन्ति* के प्राकृत रूप *तओ, कइ, होन्ति* है और यहाँ भी त् के बारे मे परिणाम की विभिन्नता नजर आती है। इससे यह स्पष्ट है कि एक ही ध्वनि की विभिन्न परिस्थितियो के अनुसार विभिन्न विकास होता है। पर बिल्कुल ही एक ही परि-स्थिति मे केवल एक ही विकास होना चाहिए। यदि शब्द के आदि का अन्य व्यजनो से असयुक्त स् शौरसेनी प्राकृत मे ज्यो का त्यो वर्तमान

रहना है तो सभी शब्दों में उस परिस्थिति में वर्तमान रहना चाहिए, (*सत > सत्त, सर्प > सप्प, सूत > सूद, सेवते > सेवदि* आदि)। दो स्वरों के मध्य का त्स्-यदि *वत्स* मे -च्छ् के रूप मे परिणित होता है तो *मत्स्य > मच्छ, उत्सव > उच्छव* मे भी। *उत्सव* का रूप यदि *उस्सव* भी मिलता हो तो *उस्सव* को किसी अन्य बोली मे आया हुआ समझना चाहिए या परिस्थिति की विभिन्नता खोजनी चाहिए। इसी प्रकार अवधी मे शब्द को मध्यवर्ती क्ष *माछी (मक्षिका)* मे छ के रूप मे और *आँखी (अक्षि)* और *ममाखी (मधु-मक्षिका)* मे ख् के रूप मे मिलती है तो या तो परिस्थिति की विभिन्नता होनी चाहिए या इनमे से एक (छ् अथवा ख्) रूप किसी दूसरी बोली से आया होगा। परिस्थिति की अभिन्नता मे एक सुश्लिष्ट भाषा मे किसी ध्वनि का केवल एक ही विकास समान रूप मे जहाँ-जहाँ उस बोली का क्षेत्र है सर्वत्र होता है।

(४) यह ध्वनि-विकास पूर्व पीढियो के बोलने वालो के उच्चारण से नियत किया हुआ एक निश्चित दिशा की ओर बढता रहता है। टवर्ग का उच्चारण उत्तर भारत मे पाणिनि के समय मे मूर्धा स्थान मे होता था और आज हिन्दी टवर्ग का उच्चारण वर्त्स स्थान के ठीक ऊपर से होता है। जिह्वा जो यह सम्पूर्ण कठोर तालु का क्षेत्र पार कर लाई यह सतत उसके आगे बढने से ही हुआ है। ऐसा सभव नही कि जिह्वा ने एक-दो पीढियो तक तो आगे पग धरा हो और तब पीछे चली गई हो और फिर दो-चार पीढियो तक पीछे जाकर बाद को फिर आगे बढना शुरू किया हो। एक ओर इन स्पर्श व्यजनो को आगे बढकर उच्चारण करने का जो सिलसिला जारी हुआ वह आज तक जारी है। टवर्ग मे ही नही कवर्ग और तवर्ग मे भी जिह्वा के इस आगे बढने के झुकाव की गवाही मिलती है। अस्तु, ध्वनि-विकास पूर्व उच्चारण से निश्चित किए हुए मार्ग से मूक गति से वशवद भृत्य की तरह चलता रहता है।

ध्वनि-नियम—ध्वनि-विकास की इस निश्चित तथा नियत गति के कारण ही ध्वनि-परिवर्तन के नियम निर्धारित किए जाते है और हम यह कह सकते है कि अमुक भाषा से अमुक भाषा मे ध्वनि-विकास

निश्चित नियमो के अनुसार हुआ है। अथवा उस विकास की परिस्थितियो का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण कर उनको निश्चित शब्दो मे व्यक्त कर देना ही नियम बना देना है। शब्द के आदि का परन्तु व्यजन से असयुक्त सस्कृत का प सब प्राकृतो मे प ही रहता है, यह एक ध्वनि-नियम है। यह सब प्राकृतो मे व्यापक है। शब्द के आदि का सस्कृत 'य' प्राकृतो मे ज हो जाता है यह भी एक ध्वनि-नियम है पर यह सब प्राकृतो पर लागू नही, मागधी मे य् ही रहता है। और लट्ठी (यष्टि में ल्) हो जाना जो अपवाद दिखाई पडता है (शायद समानार्थक लगुड का प्रभाव आदि) उसकी परिस्थिति की विभिन्नता ढूँढनी चाहिए। इस प्रकार ध्वनि-विकास के नियम कोई अधिक व्यापक और कोई कम व्यापक होते हैं। संस्कृत के शब्दो के आदि का स शौरसेनी प्राकृत मे स ही रहता है पर आदि का होते हुए भी न या म के परवर्ती होने पर ह हो जाता है और स्थानविपर्यय भी कर लेता है *(स्नान ८ ण्हाण, स्म ८ म्हो)*। इसप्रकार एक नियम जो भाषा भर मे व्यापक मालूम होता था वह परिस्थितियो के अनुकूल सकुचित हो गया। सस्कृत के एक ही शब्द *मध्ये* के *माँझ, सँह माँ, में* आदि कई रूप हिन्दी बोलियो मे मिलते है और यह अनेक-रूपता काल अथवा देश की भिन्नता के कारण ही हो सकती है। फिर पग-पग पर भाषा अपनी पूर्वकालीन अथवा समकालीन भाषाओ से नए-नए शब्द ग्रहण करती रहती है और इसप्रकार एक ही पुराने शब्द के अनेक विकास एक ही बोली मे नजर आते है।

ध्वनि-विकास के ये नियम भूतकाल ही के बारे में हमे जानकारी प्राप्त कराते है, और इसप्रकार किसी भाषा का पूर्ववर्ती भाषा से विकास निर्धारित करते है पर इस वर्तमान भाषा के भविष्य के बारे में कुछ नही बताते। सस्कृत के दो स्वरो के मध्यवर्ती *क्, ग्, त्, ब्* स्पर्श वर्ण, ह्रस्व मात्रा वाले, वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओ मे लुप्त है, पर सस्कृत के कुछ सयुक्त व्यजन, प्रथम दीर्घ व्यजन, *क्क, ग्ग, त्त, ब्ब* आदि में परिवर्तित होकर आज ह्रस्व स्वरूप मे *(पका माग पाती* सूद आदि मे) वर्तमान है। क्या इनकी भी भविष्य मे सस्कृत के क्

ग्, त्, द् की-सी गति होगी? इस प्रश्न का उत्तर साहसी भाषा-विज्ञानी भी नही दे सकता। जो विकास होता आया है उसकी प्रवृत्ति उसी मार्ग पर होगी, बस इतना भर बतलाया जा सकता है। टवर्ग के उच्चारण मे अथवा कवर्ग और तवर्ग के उच्चारण मे जिह्वा जो आगे को बढती आई है वह बढती रहेगी, बस ऐसी प्रवृत्ति का निर्देशमात्र भाषाविज्ञान कर सकता है। इसके आगे क्या होगा नही कहा जा सकता। और कौन जाने यदि परिस्थिति भिन्न हो गई और उत्तर-भारत मे ऐसी जाति ने यहाँ के निवासियो को ऐसा छाप लिया जिसकी प्रवृत्ति उच्चारण मे जिह्वा को पीछे ले जाने वाली हो तो क्या जाने उस प्रभाव मे सदियो से आई हुई यह प्रवृत्ति कुठित हो जाय।

इस प्रकार ध्वनि-विकास के नियम को अटल कहना और भूतविज्ञान आदि के नियमो से उसकी तुलना करना उचित नही। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का जो सिद्धात खोज निकाला वह सब कालो और देशो मे व्यापक है। भाषा-विज्ञानी द्वारा ढूँढा हुआ ध्वनि-विकास का नियम नियत देश और नियत काल के विषय मे ही लागू होता है। भूतकाल के एक निश्चित जनसमुदाय की निश्चित भाषा की निश्चित परिस्थिति मे ही ध्वनि-विकास के नियम की अटलता है, इतना ध्यान रखना चाहिए।

ध्वनि-विकास के इन नियमो की जानकारी से हमे भाषा का विकास समझ पडता है और उस भाषा से सम्बद्ध पूर्ववर्ती अथवा वर्तमान भाषाओ के अध्ययन मे सुगमता होती है, यही इन नियमो की उपयोगिता है।

ध्वनि-विकास से कभी-कभी परिस्थिति के अनुसार बिल्कुल नई ध्वनि भाषा मे आ जाती है, जैसे मसूरी आदि स्थानो पर गोर्खा कुलियो (दाइयो) के उच्चारण मे ज *(आज>आज)*।

ध्वनि-विकास के परिणाम-स्वरूप कभी ऐसे शब्द जो विभिन्न ध्वनियो के और विभिन्न अर्थ के थे, समान-ध्वन्यात्मक हो जाते है पर अर्थ विभिन्न ही रहता है, उदाहरणार्थ—*काज, काज; काम, काम, हार, हार, पैना, पैना, गाडी, गाडी, खोया, खोया गया, गया (तीर्थ विशेष),*

जुआँ (यूका) जुआ (युग) जुआ (द्यूत) खाना, खाना (खाना) जाना, जाना (मालूम किया), स० भक्त, भक्त, सैन्धव, सैन्धव, गौ, गौ, पा० अस्स (अस्य) अस्स (स्यात्), अस्स (अश्व), प्रा० कइ (कवि), कइ (कति), कइ (कपि)।

इसप्रकार के समान ध्वनिवाले किन्तु विभिन्न अर्थ का बोध कराने वाले शब्द प्राय प्रत्येक भाषा मे होते है और जब तक प्रकरण के अनुसार उनके द्वारा भ्रम की कोई सभावना नही होती, उनको कोई छेडता नही और वे ज्यो के त्यो भाषा मे वर्तमान रहते है। पर यदि उनके प्रयोग से भ्रम होने लगता है तो फिर उस भ्रम को दूर करने के लिए उपाय किए जाते है। भ्रम की सभावना तभी होती है जब एक ही प्रकरण मे दोनो का प्रयोग हो सकता हो। उदाहरण के लिए हिन्दी का *बडा* शब्द है। इसका प्रयोग कद मे बडा या आयु मे बडा दोनो अर्थो मे होता है। यदि छोटे बच्चे देवदत्त क दो भाई उससे बडे है एक रामदत्त और दूसरा यज्ञदत्त और रामदत्त यज्ञदत्त से अवस्था मे तो बडा है पर कद मे छोटा है तब देवदत्त को रामदत्त को *बडे दादा* और यज्ञदत्त को *छोटे दादा* कहने मे उलझन होती है। वह साक्षात् देखता है कि यज्ञदत्त रामदत्त से है तो (कद म) बडा पर कहलाता है छोटा। उम्र की बात उस समय उसकी समझ मे नही आती। इसप्रकार की विषम परिस्थिति को सरल करने का उपाय यही है कि कद की या अवस्था की बडाई छोटाई के लिए अलग-अलग शब्द रक्खे जॉय। या तो *जेठा* शब्द से अवस्था की बडाई सूचित की जाय या *लम्बा* शब्द से कद की। सस्कृत का *सन्ध्या* शब्द जो सबेरे शाम (प्रात -सन्ध्या, साय-सन्ध्या) दोनो अर्थो मे प्रयुक्त होता था, भ्रम के कारण ही केवल अब शाम (*सन्ध्या, सझा, साझ*) के अर्थ मे प्रयोग मे आता है। अग्रेजी मे *सन्* शब्द दो अर्थो मे आता है बेटा और सूरज। भ्रम की सभावना है क्योकि सबेरे दोनो उठते (उगते) है। इसीलिए अब बेटा का बोध कराने वाले *सन्* शब्द के लिए *ब्वाय* या *लैड्* शब्द का बोलचाल की भाषा मे प्रयोग होने लगा है। बार-बार की व्याख्या के श्रम की अपेक्षा दो मे से एक अर्थ का बोध कराने वाले शब्द के लिए किसी भिन्न ध्वन्यात्मक शब्द का प्रयोग आ जाना अधिक

स्वाभाविक है सुरप्रधान चीनी आदि भाषाओ म सम • ९ पर भिन्नार्थ बोधक बहुत स शब्द होत ह और उनका विभद सुर की विभिन्नता मे ही किया जाता है। इसीप्रकार बलाघात-प्रधान भापाओ मे बलाघात द्वारा।

सन्धि आदि के कारण भापा मे आया हुआ ध्वनि-विकार कभी-कभी अस्थान भी आ जाता है। उदाहरणार्थ—प्राकृत भाषाओं मे सस्कृत के अतिम व्यजन का लोप पाया जाता है (*सम्यक > सम्मा, यावत > जाव*) किन्तु एव के पूर्व यदि वही शब्द आए तो उसे व्यजन का पुन-र्जीवन (आदेश के रूप मे) हो जाता है (*यावदेव > जावदेव*) पर *सम्यदेव* (*<सम्यक एव=सम्यगेव*) मे द का अस्तित्व है जो अस्थान है क्योंकि ग होना चाहिए था। प्रत्यक्ष ही यह *जावदेव* के दृष्टान्त पर हुआ है। इसी प्रकार पा० *उसभोग्वि* (*वृषभ इव=उसभो इव*) *अरिरिव* आदि के साथ अस्थान सादृश्य के कारण प्रयोग मे आया है। सस्कृत भापा मे ही *ब-व, स-श* के विकल्प की नीव भी कुछ ऐसे ही कारणो पर निर्भर रही होगी।

सादृश्य का प्रभाव जोडी के शब्दो मे बहुधा दिखाई पडता है। स० *स्वर्ग नरक* हिन्दी मे *स्वर्ग-नर्क* हो गए और बहुधा *नरक* के स्थान पर *नर्क* पढे-लिखे के मुख से निकलता है। इसीप्रकार *सुख* के सादृश्य पर हि० *दुख* (स० *दु ख*) अवधी *अँधेर* (हि० *अँधेरा*) के वजन पर अब *उजेरु* (हि० *उजाला*) आदि उदाहरण है। बच्चो की लोरी के गीत *सोने चाँदी का है पलका। बिस्तर तकिया है मखमल का* मे *सोने* के स्थान पर छोटी बच्ची *सोंदे* बोलती है जो स्पष्ट ही *चाँदी* का प्रभाव है।

सादृश्य के अस्थान मे प्रयोग करने के उदाहरण पडितमन्य व्यक्तियो के मुख से बहुधा सुनाई पडते है। सस्कृत जानने वाले 'विद्वान्' इच्छा को *इछा, शाप* को *श्राप* और *बन्धन* को *वन्धन* बोल कर अपनी पडिताई का परिचय देते है। *शाप* का *श्राप* तो कई सदियो से प्रचलित पुराना रूप है। इसी का विकसित *सराप, सरापब* रूप

अवधी मे चलता है, *शाप* तो कभी का गायब हो गया। बहुतेरे *प्रथा*, *गल्प* और सगठन को सस्कृत के शब्द समझते है। इससे यह मालूम होता है कि यह *अस्थान सादृश्य* वाले शब्द कुछ व्यक्तियो की भूल की सनक तक ही सीमित नही रहते, भाषा मे वस्तुत व्यापक रूप मे आ जाते है।

पूर्वकालवर्ती स्वदेशी भाषा के विषय मे इसप्रकार के प्रयोगो के बहुतेरे उदाहरण पालि भाषा मे मिलते है। सस्कृत के अघोष स्पर्श वर्णों का पालि के समय मे सघोष वर्ण द्वारा आदेश प्राय हो गया था पर ऐसा अनुमान है कि पालि ग्रथ-सपादको ने अपनी पुस्तको को प्राचीनता का आकार देने के लिए सस्कृत के अघोष वर्णों का ही प्रयोग किया। इस काम मे वह बहुत से अस्थान प्रयोग कर गए। धम्मपद से ही कुछ उदाहरण ये हे—*कुसीत* (<*कुसीद*) *अलापू* (<*अलाबून्*), *पाचेति* (<*प्राजयति*), *पिथियति* (<*पिधीयते*)।

विदेशी-भाषा के शब्दो के, इसप्रकार के अनर्थ प्रयोग के, भी प्रचुर उदाहरण मिलते है। नवाबी शहर *लखनऊ* को *लखनऊ* कह कर लोग समझते है कि हम ठीक नाम ले रहे है। *जबाब* को *जबाब*, *रवाज* को *रवाज*, *जिगर* को *जिगर* आदि कहने वालो की भी कमी नही है।

जिसप्रकार पूर्ववर्ती भाषाओ अथवा विदेशी भाषाओ के अज्ञानवश अस्थान गलत प्रयोग होते है उसीप्रकार वर्तमान भाषाओ और बोलियो के भी। अक्सर देखा गया है कि किसी चुनाव के लिए खडा हुआ नगरवासी जब देहात मे सभाओ मे बोलता है तब निजत्व स्थापित करने के लिए वह ग्रामवासियो की बोली बोलने का उद्योग करता है। उसके इस प्रकार के उद्योग से उसे वोट भले ही मिल जायँ पर वह गाँव मे हँसी-दिल्लगी के लिए अपनी भाषा के रूप मे काफी सामग्री छोड जाता है।

ऊपर लिखे सारे प्रयोग वक्ता के अज्ञान से होते है। पर कभी-कभी मनुष्य अपनी भाषा से खिलवाड करता है और शब्दो को बिगाड कर बोलता है। यह प्रयोग जानकर, विनोद आदि के लिए होते है और कोई-कोई कभी-कभी भाषा मे टिक जाते है।

कवि भी भाषा को अपनी कल्पना का अपर्याप्त माध्यम पाकर शब्दों के नए रूपों का प्रयोग करता है। इनमें से भी कुछ भाषा में स्थिर स्थान पा जाते हैं।

सत्तरहवाँ अध्याय

पद-रचना

पीछे हम देख चुके है कि भाषा का अवयव वाक्य है, अथवा भाषा वाक्यो का समूह है। वाक्य मे ध्वनियो का समूह रहता है। इस ध्वनि-समूह के भी छोटे-छोटे समूह बनते है, एक तो उच्चारण की सुविधा के अनुसार और दूसरे अर्थ-व्यजकता की सुविधा के अनुसार। पहली श्रेणी के समूहो की जानकारी ध्वनिविज्ञान मे प्राप्त होती है और दूसरी की पद-रचना-विज्ञान के द्वारा। दूसरी श्रेणी के समूहो को शब्द या पद कहते है। दूसरे वाक्य की **प्रतिमा** मस्तिष्क मे रहती है और यही ध्वनि-समूह द्वारा मुख मे निकलती है और इन ध्वनियो के द्वारा ही अन्य मनुष्य हमारे मस्तिष्क मे स्थित विचारो को समझ सकते है। ध्वनियो का प्रतिबिम्ब भी मस्तिष्क मे रहता है। पर शब्दो का अस्तित्व इतने निश्चित रूप से वहाँ नही रहता, तब भी अन्त करण मे कही न कही इनका रूप भी रहता है जहाँ से ये बनते-बिगडते रहते है।

कभी-कभी वाक्यात्मक प्रतिमा मस्तिष्क मे कुछ रहती है और उच्चारण कुछ हो जाता है। *पम्प मे हवा भर दो* आदि वाक्य इसी के उदाहरण है। अथवा सामने खडी हुई *सावित्री* को पुकारना चाहे और उसे पुकारे *सरोजनी* (इसी को साहित्यशास्त्री गोत्रस्खलन कहते है)। लिखी हुई चीज पढने मे इसप्रकार की भूल अनायास ही हो जाती है। उसका कारण यह होता है कि प्रयत्न-लाघव के लिए बहुधा हम पूरे शब्द न पढकर उसके अशमात्र से शब्द का अस्तित्व प्राप्त कर आगे बढ जाते है। इस जल्दी मे भूल हो जाना कोई अचरज की बात नही। यही जल्दी अथवा मस्तिष्क की शिथिलता कभी-कभी उच्चारण की भूलो के मूल मे रहती है।

वाक्य मे कभी-कभी एक ही पद रहता है और बहुधा कई। पर वाक्य मे चाहे जितने पद रहे, उसका ग्रहण समष्टि-रूप से होता है। वाक्यार्थ ग्रहण करते समय हमारा मन प्रत्येक ध्वनि या प्रत्येक शब्द (पद) पर नही रुकता। परन्तु वाक्य का विश्लेषण करने पर हमे पता चलता है कि उसमे दो तत्व मिले रहते है—कुछ ध्वनियाँ अर्थ-तत्व का बोध कराती है और अन्य उन अर्थ तत्वो के परस्पर सम्बन्ध का। यह *सुन्दर रचना तुलसीदास* की है इस वाक्य मे *सुन्दर रचना तुलसीदास* ये विशिष्ट अर्थोद्बोधक ध्वनि-समूह है। इनसे हमारे दिमाग मे उपस्थित निश्चित विचारो का बोध होता है। बाकी के *यह, की* और *है* शब्द कोई विशिष्ट अर्थ नही बताते केवल *रचना* और *तुलसीदास* का परस्पर सम्बन्ध जतलाते है। *यह* शब्द किसी विशेष रचना का निर्देश करके उससे वक्ता के निकटस्थ होने की सूचना देता है, *की* तुलसीदास और रचना का परस्पर कर्तृत्व-कृति सम्बन्ध स्थापित करता है और *है* उस रचना के वर्तमान अस्तित्व और उस सम्बन्ध के वर्तमानत्व की सूचना देता है।

अर्थ-तत्व से अभिप्राय भाषा के उन अगो से है जो अर्थ अथवा विचार का उद्बोध कराते है। **सम्बन्ध-तत्व** से तात्पर्य उन अगो से है जो अर्थ-तत्व द्वारा व्यक्त किए हुए विचारो के परस्पर सम्बन्ध की सूचना देते है।

किसी भी भाषा का अध्ययन करने से पता चलता है कि मनुष्य-समुदाय मे विचारो को व्यक्त करने की कुछ धाराए बन जाती है, जो प्रवाह रूप से चलती रहती है, और जिनमे सामाजिक परिस्थितियो के अनुसार हेर-फेर होता रहता है। सस्कृत बोलने वालो की विचारधारा एक प्रवाह मे चल रही थी जिसका ज्ञान हमे सस्कृत के वाक्यो के विश्लेषण से होता है, पालि आदि उत्तरकालीन भाषाओ की धीरे-धीरे बदलती गई पर प्रवाह अक्षुण्णरूप से आधुनिक आर्य-भाषाओ तक मिलता है। यह प्रवाह चीनी-भाषा द्वारा व्यक्त हुए प्रवाह से अथवा अरबी-भाषा द्वारा व्यक्त किए गए प्रवाह से बहुत भिन्न है। अगरेजी

के प्रवाह से भी काफी भिन्न है, पर भेद की वह मात्रा नहीं जो चीनी या अरबी से है।

विचारधारा का यह प्रवाह सम्बन्धतत्त्वों को प्रकट करने के ढंगों से मालूम होता है। हर भाषा का यह ढंग जुदा-जुदा होता है। विविध भाषाओं का अध्ययन करके भाषा-विज्ञानियों ने सम्बन्धतत्त्व को व्यक्त करने के नीचे लिखे प्रकार बताए हैं।

(१) सम्बन्धतत्त्व अलग शब्द ही हो सकता है। उदाहरणार्थ— संस्कृत के *इति, एव, अपि, च, पर* आदि, हिन्दी के *से, का, के, में, पर* और *तब, जब, जहाँ, तहाँ* आदि। सभी सर्वनाम-शब्द सम्बन्धतत्त्व ही प्रदर्शित करते है। कभी-कभी दो शब्द वाक्य में सम्बन्धतत्त्व जतलाते है और इनका स्थान भिन्न रहता है, जैसे हि० *यदि तो, न न, यद्यपि तथापि*।

(२) सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व में ही जोड दिया जाता है, इसप्रकार वह उसी शब्द का अंग बन जाता है। यह शब्द के आदि, मध्य, अन्त में कहीं भी हो सकता है, उदाहरणार्थ सं० में लङ् में और लुङ् में आदि में **अ** *(अगच्छत्, अगमत्, अचोरयत्, अचूचुरत्)* जो भूतकाल की क्रिया का द्योतक हो गया अथवा अ *(अकुर्वन्, अगच्छन्, अपाणिपाद)* जो क्रियाओं और संज्ञाओं में निषेध का सूचक हो गया, मध्य में **य**—*(गम्यते, हस्यते, चोर्यते)* भाववाच्य अथवा कर्मवाच्य का द्योतक, अथवा **अय** *पय (करोति-कारयति, स्नाति-स्नापयति)* जो प्रेरणा की सूचना देने लगा, अन्त में *स्य,-स्मिन् (रामस्य, सर्वस्मिन्)* आदि विभक्त्यर्थक, **शतृ क्त** *(गच्छत्, गत)* आदि क्रिया के *काल* भाव आदि के द्योतक। इसीप्रकार हिन्दी का निषेधात्मक *अ*, प्रेरणार्थक वा *(करना करवाना)* स्त्रीप्रत्यय-*आनी,-आइन (पंडितानी, पंडिताइन)* आदि, विभक्त्यर्थक-*हि-ए (घरहि, दुआरे)* आदि इसी के उदाहरण है। सामी भाषाओं में इस उपाय का अवलम्बन प्रचुर मात्रा में किया जाता है। वहाँ अर्थतत्त्व तीन व्यंजनों द्वारा उद्बोधित होता है और प्रायः सभी शब्द आगे, पीछे, बीच में कुछ ध्वनियों (विशेष कर स्वरों)

को जोड़ कर बनते है, जैसे *व् ल् द्* इन तीन की इसी क्रम की समष्टि का अर्थ पैदा करना होना है, इसी से *वालिद वल्द, तवल्लुद* आदि शब्द बनते है, इसीप्रकार *क़् त् ल्* की समष्टि से *क़ातिल, क़त्ल, मक़तूल, क़तल, क़तिल, यक़तुलु, क़िल्ल, क़िताल, क़ातल, क, त् ब्* से *किताब, कुतुब, कातिब, मकतूब, तकतुब, कतबत* आदि।

(३) अर्थतत्त्व की ध्वनियो मे कुछ परिवर्तन कर देने (एकाध का लोप करके उसके स्थान पर दूसरी बिठा देने) मे भी सम्बन्धतत्त्व का बोध कराया जाता है, उदाहरणार्थ सस्कृत मे *शृङ्ग (सींग), शार्ङ्ग* (सीग का बना हुआ), *पुत्र पौत्र*, हिन्दी मे *पिटना-पीटना, कटना-काटना, मरना-मारना, बकरा-बकरी, पोथा-पोथी, फूला-फूली* आदि।

(४) अर्थतत्त्व की ध्वनियो मे ध्वनिगुण (मात्रा, सुर या बलाघात) का भेद उपस्थित कर देने मे भी सम्बन्धतत्त्व का बोध हो जाता है, जैसे अगरेजी मे बलाघात के ही द्वारा, शब्द क्रिया है या सज्ञा इसका बोध होता है, यथा, 'कन्डक्ट (सज्ञा) कन्'डक्ट (क्रिया) ('Conduct-Con'duct), 'रेकर्ड (सज्ञा) रे'कर्ड क्रिया ('Record-Re'cord)। चीनी और अफरीकी भाषाओ मे सुर के द्वारा निषेध आदि का बोध होता है। अफरीकी भाषा फुल के एक वाक्य का उदाहरण ध्वनिगुण के अध्याय मे ऊपर पृ० ६७ पर दिया गया है।

(५) जैसे गाने मे क्षणिक विराम, अथवा वाक्यो के बीच का विराम पर्याप्त भाव का बोधक होता है, वैसे ही किसी अर्थतत्त्व मे ध्वनियो को जोडकर या उनमे परिवर्तन करके जब रूपो की श्रेणी बनती है तब अर्थत्त्व मे कोई विकार न उत्पन्न करना और उसको ज्यो का त्यो छोड देना भी सम्बन्धतत्त्व का द्योतक हो सकता है। वैदिक-पूर्व और उत्तरकालीन सस्कृत भाषा मे किसी-किसी सज्ञा का अविकृत रूप ही (*पात्, सरित्, जलमुक्, वणिक्, यश*) प्रथमा एकवचन का द्योतक होता था। हिन्दी मे धातु का अविकृत रूप (*कर, चल, जा, सा*) क्रिया के आज्ञार्थ का बोधक होता है।

(६) अर्थतत्त्व का वाक्य मे अथवा वाक्याश मे स्थानमात्र ही

कभी-कभी सम्बन्धतत्त्व का बोधक होता है। उदाहरणार्थ हिन्दी में *राम गीत गाता है* *गीत अच्छा लगता है*, इन दो वाक्यों में *गीत* शब्द का वाक्य में स्थान ही उसके कारक का बोधक है। समास में तो शब्द के स्थान पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। *मल्लग्राम* (पहलवानों का गाँव) और *ग्राममल्ल* (गाँव का पहलवान), *राजपुत्र* (राजा का लड़का) और *पुत्रराज* (लड़कों में राजा, श्रेष्ठ) आदि प्रयोगों में अपेक्षाकृत प्रथम या द्वितीय स्थान ही सम्बन्धतत्त्व को जतलाता है।

इस तरह सम्बन्धतत्त्व को प्रकट करने के विभिन्न उपायों के होने के कारण भाषाओं की रचना की भिन्न-भिन्न शैलियाँ मालूम पड़ती हैं। किसी-किसी भाषा में अर्थतत्व और सम्बन्धतत्त्व इस ढंग से मिला हुआ रहता है कि एक ही शब्द दोनों तत्त्वों का पूर्णरूप से बोधक होता है। प्राचीन आर्य और सामी भाषाएं अधिकांश में इसी ढंग की हैं। इनमें सम्बन्धतत्त्व को बताने के लिए स्वरक्रम (*गुण, वृद्धि आदि अवश्रुति*) आदि, मध्य या अन्त में प्रत्यय लगाना, ध्वनियों में कुछ लोप, आदेश आदि कर देना—इत्यादि उपाय काम में लाए गए हैं। कुछ अन्य भाषाओं में सम्बन्धतत्त्व के अंश अलग ही शब्द रहते हैं, जैसे चीनी भाषा में सम्बन्धतत्त्व वाले शब्दों को रिक्त और अर्थतत्त्व वालों को पूर्ण कहते हैं। दोनों का अस्तित्व अलग-अलग रहता है। अफ्रीका की कुछ (बाटू आदि) भाषाओं में एक ही सम्बन्धतत्त्व को व्यक्त करने के लिए एक से अधिक शब्द रहते हैं। कुछ भाषा-परिवारों (फीनो-उग्री या तुर्की-तातारी) में सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व के साथ जुड़ा रहता है परन्तु उसका अस्तित्व इतना प्रत्यक्ष होता है कि बिना अर्थतत्त्व को ज़रा भी छेड़े हुए उसको अलग कर सकते हैं। कोई भी भाषा ऊपर लिखे उपायों में से केवल एक ही का अवलम्बन नहीं करती। इनमें से एक उपाय की प्रचुरता देखकर ही हम कह देते हैं कि अमुक भाषा अमुक उपाय का अवलम्बन करती है। हिन्दी ही को ले लीजिए। आर्य भाषा होने के कारण बहुत से शब्दों में सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व से जुड़ा हुआ अभिन्न रूप से दिखाई देता है, किन्तु इस अभिन्नता की मात्रा

संस्कृत से कम है। चीनी भाषा की तरह इसमे सम्बन्धतत्त्व को बतलाने के लिए विभक्त्यर्थक आदि अलग ही अस्तित्व रखने वाले शब्दो की संख्या है और सो भी कम नही। बाटू भाषा की तरह कुछ प्रयोगो (*यदि तो आदि*) मे एक से अधिक शब्द सम्बन्धतत्त्व का बोध कराते है। बहुत से ऐसे शब्द है जिनमे चीनी या तुर्की भाषा की तरह सम्बन्धतत्त्व का अंश बिना अर्थतत्त्व को छेडे अलग ही झलकता है।

अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का परस्पर भेद समझ लेने पर भी, शब्द क्या है यह सवाल हल नही होता। संस्कृत के वैयाकरणो ने शब्द के प्रयोग को पद की संज्ञा दी है। ध्वनियो का समूह ही शब्द माना गया है। यदि उसमे प्रत्यय जोडकर उसे वाक्य मे व्यवहार के योग्य कर लिया जाय (जिस प्रक्रिया से उसमे अर्थ को उद्बोधित करने की सामर्थ्य आ जाय) तो उसे पद कहते है। यही पाणिनि द्वारा दिए गए पद के लक्षण (सुप्तिङन्त पदम्) का अभिप्राय है। वैयाकरण की दृष्टि मे जब तक प्रकृति मे प्रत्यय नही जुडता तब तक उसके अर्थ का कोई बोध नही होता है और इसीलिए ऐसे पदो मे (यहाँ तक कि नीचै आदि अव्ययो मे) भी जिनमे कुछ भी विकृति नही आती, उसे प्रत्ययो की कल्पना करनी पडी है और उन प्रत्ययो के तात्कालिक लोप की। तथापि सिद्ध शब्द के लिए **पद** शब्द का प्रयोग और असिद्ध के लिए केवल **शब्द** का प्रयोग करके दोनो का भेद रखना उचित है। किसी-किसी भाषा मे पद ही पूरा वाक्य होता है अथवा वाक्य ही पूरा पद होता है। एस्किमो ऐसी ही एक भाषा है। बाटू मे हम देख ही चुके है कि दो शब्दो को मिलाकर ही सम्बन्धतत्त्व-बोधक पद का बोध होता है। चीनी भाषा मे कभी-कभी एक से अधिक शब्द मिला कर ही अर्थतत्त्व का बोध होता है। उदाहरणार्थ इ+फु (वस्त्र) फु+च्श (पिता)। इन दो-दो शब्दो के समूह को ही पद कह सकते है। कही-कही ये दो शब्द वाक्य मे अलग अलग एक दूसरे से दूरस्थित रह सकते है। फ्रेंच भाषा का न पा (नही) उदाहरण है (*ज न ले पा वू*—मैने नही देखा)। इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए पद का नीचे लिखा लक्षण ठीक मालूम होता है—

'पद उस ध्वनि या ध्वनिसमूह को कहते हैं जिसका वाक्य में भाषा की परम्परा के अनुसार सम्बन्धतत्त्व का, अर्थतत्त्व का अथवा उन दोनों के अर्थ का बोध कराने के लिए प्रयोग होता है। यदि ध्वनि समूह है तो एकत्र और कभी-कभी अनेकत्र भी उसके अंशों की स्थिति रहती है।"

हर भाषा में उसकी परम्परा के अनुसार ही पद का विशिष्ट लक्षण करना पड़ेगा। पर साधारण रीति से उपर्युक्त लक्षण सभी भाषाओं के पदों के लिए उपयुक्त होगा।

पद का लक्षण कर देने पर, शब्द के विषय में भी कुछ कहना जरूरी है। ऊपर ही कह चुके हैं कि शब्द पद की उस अवस्था का नाम है जब उसमें अर्थ का उद्बोध नहीं हुआ। परन्तु सामान्य रूप से उसमें अर्थ निहित रहता है। ध्वन्यात्मक शब्द और व्याकरणात्मक शब्द में यह अन्तर है कि ध्वन्यात्मक शब्द एक साथ उच्चारण में आता है। सुविधा के अनुसार उसमें एक ही व्याकरणात्मक शब्द (जैसे *नीच*, *प्रविशति* में) एकाधिक व्याकरण-शब्द (*अग्निश्च*) अथवा एक व्याकरण-शब्द और द्वितीय का कुछ अंश (पुत्र अस्माक —*पुत्रोऽस्माक*) हो सकता है। व्याकरणात्मक शब्द में अर्थ का बोध कराने की, विशिष्ट भाषा की परम्परा से, शक्ति रहती है। जब ध्वनियों के किसी समूह में व्याकरण के प्रयोग के अनुसार अर्थ के बोध कराने की शक्ति होती है तब उसे शब्द की संज्ञा देते हैं।

अठारहवाँ अध्याय

रूप-विज्ञान

यह हम पहले इंगित कर चुके हैं कि ध्वनिग्राम स्वयं अर्थहीन होता है और अर्थ का भान केवल रूप के स्तर में ही प्रारम्भ होता है। ध्वनिग्राम का महत्व रूप की पहचान मे मदद देना है, क्योंकि रूप की आकृति ध्वनिग्राममय ही होती है। इसप्रकार ध्वनिग्राम-समुदाय का अर्थ से सम्बन्ध, रूप के माध्यम से ही होता है। रूप, दूसरे शब्दो मे, ध्वनिग्राम और अर्थ को जोडने वाली कडी है। रूप का दुहरा उद्देश्य होता है, एक अर्थवान् ध्वनिग्राम-समुदाय और दूसरे अर्थवान् ध्वनिग्राम समुदाय के बीच सम्बन्ध की स्थापना करना, तथा इन ध्वनिग्राम-समुदायो के योग से पद की रचना करना।

रूप की परिभाषा यदि इसप्रकार की जाय कि "वह किसी भाषा की वह छोटी से छोटी इकाई है जो व्याकरण की दृष्टि से सगत हो" तो हमे फिर व्याकरण की परिभाषा करनी पड जायेगी और व्याकरण की परिभाषा भी हम रूप की प्रक्रिया के अलावा कोई अन्य नही मिलेगी। उस दशा मे हम अन्योन्याश्रय दोष मे पड जायेगे। हाँ, यदि हम रूप की परिभाषा इसप्रकार करे कि "रूप भाषा की वह छोटी से छोटी अर्थवती इकाई है जो अपने आकार, रूप, ध्वनिग्राम-समुदाय को अभिव्यक्ति की सघटना से जोडती है" तो इस दोष से मुक्त हो सकते है। फिर प्रश्न यह उठता है कि रूप के लिए ध्वनिग्राममय होना क्या आवश्यक है? क्या रूप शून्य ध्वनिग्राम नही हो सकता, 'जैसे राम घर गया" मे 'राम' और 'घर' के बाद कर्तृ सम्बन्ध और कर्म सम्बन्ध को ज्ञापित करने के लिए कोई प्रत्यय नही लगे है और यहाँ इस सम्बन्ध मे भाषाविदो मे गहरा मतभेद है। कुछ लोग शून्य रूप (Zero morph) को रूप की

एक व्यष्टि मात्र मानते है और उसकी एक कल्पित आकार-समष्टि सिद्धान्तत रख लेना आवश्यक समझते है। पाणिनि ने संस्कृत भाषा के व्याकरण मे इसी पद्धति को अपनाया है, और उन्होने शून्य रूप प्रत्ययो को भी कोइ न कोई काल्पनिक नाम देकर उनके द्वारा रूप-प्रक्रिया समझाने की कोशिश की है। दूसरे लोग इस शून्य रूप को भाषा के वर्णन मे कही-न-कही नितान्त आवश्यक मानते है और उसकी स्वतन्त्र सत्ता कायम रखना चाहते है। विशेष रूप से विश्लिष्ट भाषाओ के वर्णन मे शून्य रूप की आवश्यकता अधिक पडती है, क्योकि उनमे केवल शब्दो के क्रम से ही सम्बन्ध का भेद बोधित हो जाता है। अंग्रेजी मे जान किल्ड जेम्स, (John killed James) और जेम्स किल्ड जान (James killed John) इन दो वाक्यो मे केवल क्रम बदल देने मे ही जेम्स और जान के सम्बन्ध (कर्तृत्व कर्मत्व) बदल जाते है। चीनी भाषा मे तो इसके अनन्त उदाहरण मिलेगे। मार्फ (morph) और रूप दोनो के व्युत्पत्तिजन्य अर्थ उसके साकार ही रूप की ओर इशारा करते है और यद्यपि शून्य को भी एक आकार मान लेने से गणित की दृष्टि मे कोई बाधा नही आती, पर उससे सब से बडी गडबडी यह पडती है कि शून्य से अनेक स्थलो पर काम लेने मे सम्भ्रम हो जाता है। उदाहरण के लिए हिन्दी मे यदि हम 'जा' को एक रूप मानते है और 'राम' को भी एक रूप मानते है तो 'राम जा' वाक्य मे दोनो के आगे क्रमश सम्बोधन एव आज्ञा का बोध कराने के लिए शून्य रूप जोडने की आवश्यकता पडेगी। उस दशा मे शून्य के दो भेद करने होगे। पर हम यदि यह कहते है कि "राम के आगे लगने वाला रूप शून्य न होकर "ने" है जिसका शून्य एक व्यष्टि रूप है (Allomorph) तथा "जा" के आगे लगने वाला रूप "जो" है जिसका भी एक व्यष्टि रूप शून्य है, तो हम इस गडबडी से बच सकते है। साराश यह है कि रूप को ध्वनिग्राममय मानना ही अधिक सुविधाजनक है। अब, ध्वनिग्राम का द्योतन जैसा कि पहले लिखा जा चुका है स्वर, व्यजन, मात्रा, सुर, विवृत्ति आदि कई प्रकार से किया जा सकता है, हमे किसी भी प्रकार के ध्वनिग्राम-समुदाय

क रूप को बनान म कठिनाइ नही हो सकती। पाणिनि न अपन रूप की इकाइयाँ इसप्रकार अनुबंधित की है कि उनसे रूप के योग के कारण होने वाली समस्त संधि-प्रतिक्रिया का विधान सम्भव है। उदाहरण के लिए ञ् अनुबंध वाले प्रत्यय जोडने पर प्रकृति के स्वर में वृद्धि होती है, यह कल्पना कर लेने से ही हम एक ही भौतिक आकार वाले दो प्रत्ययो का पृथक्करण आसानी से कर सकते है।

रूप की परिभाषा अभी अधूरी रह गयी है। जैसे ध्वनिग्राम एक ध्वनि को उपस्थित न कर के एक सदृश ध्वनिसमूह को उपस्थित करता हे उसीप्रकार रूप भी केवल एक आकार को उपस्थित न कर के एक सम्बन्धार्थ रखने वाले अनेक आकारो का प्रतिनिधित्व करता है जो एक संधि-प्रक्रिया और परिवेश समान रखते हुए भी वितरण की दृष्टि से एक-दूसरे के पूरक होते है। उदाहरण के लिए सस्कृत मे निष्ठा प्रत्यय का भाव वर्ग के अन्तर्गत आने वाला भाव कर्मवाची भूतकालिक कृत प्रत्यय {–क्त} के व्यष्टि रूप /–त/,/–इत/,/–ट/,/–न/,/–ण/,/–व/,/–क/ इतने मिलेगे

नी + क्त = नीत, चल् + क्त = चलित, कृष् + क्त = कृष्ट, छिद्र + क्त = छिन्न, पृ + क्त = पूर्ण, पच् + क्त = पक्व, शुष् + क्त = शुष्क।

अब हम इनको अलग अलग रूप नही कह सकते, क्योंकि ये सभी एक ही प्रकार का सम्बन्धार्थ—भूतकालिक कृत्-द्योतित करते है, ये सभी प्रकृति के बाद आते है, इन सब के पूर्व प्रकृति का ह्रसित रूप ही आ सकता है और ये एक-दूसरे के वितरण-क्षेत्र का अतिक्रमण नही करते। सस्कृत से ही हम सुबन्त प्रत्यय-वर्ग का भी एक उदाहरण ले। कर्त्ता-कारक एकवचन के अर्थ को ज्ञापित करने के लिए हमें इतने प्रकार के रूप मिलते है—

लता + सु = *लता*, (शून्य)
राम + सु = *रामस्*, •
विद्वस् + सु = विद्वान् (प्रातिपदिक मे वृद्धि + शून्य)

ये तीन रूप शून्य, स् और प्रातिपदिक के वृद्धिपूर्वक शून्य वस्तुत एक-

दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण नही करते। जिन प्रातिपदिका के बाद केवल शून्य आता है, उनके बाद न तो स् आता है और न प्रातिपदिक मे वृद्धि ही होती है, जिसके आगे स् आता है उसके आगे किसी भी प्रकार का शून्य नही आता, और जिसके शून्य आने के साथ-साथ उसमे वृद्धि भी होती है उसके आगे न तो स् आता ह न केवल शून्य आता है। इसप्रकार रूप की इकाई जहाँ सम्बन्ध की एकता की अपेक्षा रखती है, वहाँ वह ध्वनिग्रामीय आकार की एकता या सादृश्य की अपेक्षा नही रखती। एक इकाई वस्तुत एक सम्बन्धार्थ का अन्त्य गुणनखड है, उसके आगे सम्बन्धार्थ का विखडन नही किया जा सकता।

इस प्रकार हमे रूप के भी अन्तर्गत अनेक व्यष्टि-रूप (allomorph) मिलते है, जिनकी सार्थकता ध्वनिग्राम-सघटना की दृष्टि से तो होती है, पर रूप-रचना की दृष्टि से नही होती। व्यष्टि-रूपो का वितरण दो कारणो से नियत्रित होता है—ध्वनिग्रामीय एव रूपात्मक। ध्वनिग्रामीय परिवेश-भेद से जो रूप-भेद उपस्थित होते है, उनकी प्रक्रिया को हम सधि (morphophonemics) कहते है। वस्तुत एक रूप का दूसरे रूप से ध्वनिग्रामीय सश्लेष ही सधि है। एक रूप के भीतर सधि होने का प्रश्न नही उठता। यह प्रश्न तभी उठता है जब वह रूप दूसरे रूप के सन्निकर्ष मे आये। उदाहरण के लिए ष् मे अन्त होने वाली धातु के बाद जब त् प्रत्यय आयेगा तो उसका रूप ट् हो जायगा। अब यह ट्-रूपता ध्वनिग्रामीय परिवेश के कारण है—ष् के मूर्धन्य होने के कारण त् को मर्धन्य रूप धारण करना पडता है। परन्तु जब रूप का व्यष्टि-भेद ध्वनिग्राम के परिसर पर आधृत न होकर किसी अन्य कारण से रूप के परिसर पर आधृत होता है, तो हम उसे रूपात्मक कारण पर आधृत एक व्यष्टि-भेद कहते है। इसप्रकार ये दो कारण रूप के व्यष्टि-भेदो का नियत्रण करते है। शुष् धातु के बाद आने वाले त् का क् रूप शुष् के किसी ध्वनिग्राम के कारण न होकर पूरे शुष् रूप के कारण है और इसलिए इसे रूपात्मक कारणजन्य व्यष्टि-भेद कहते है।

रूप का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। वर्गीकरण का

पहला आधार-क्रम (order) है। जिस क्रम मे कोई रूप आता है, जिसके अनुसार उसका जो वर्गीकरण किया जायगा, वह क्रमात्मक वर्गीकरण कहा जायगा। उदाहरण के लिए संस्कृत मे तिङन्त रूप मे उपसर्ग को प्रथम स्थान प्राप्त है। अभ्यास द्वारा अटागम को द्वितीय स्थान, धातु को तृतीय स्थान, विकरण को चतुर्थ स्थान, लकार ज्ञापक प्रत्यय को पंचम स्थान और तिङ् को षष्ठ स्थान प्राप्त होता है। ये क्रमश प्रथम क्रम, द्वितीय क्रम तृतीय क्रम, चतुर्थ क्रम, पंचम क्रम षष्ठ क्रम मे प्रयोग मे आयेगे। दूसरा वर्गीकरण का आधार विन्यास (sequence) है। कोई रूप किस प्रकार के रूप के बाद विन्यस्त किया जाता है, इसके आधार पर वर्गीकरण करना विन्यासात्मक वर्गीकरण कहलाता है। उदाहरण के लिए सुप वर्ग एक ऐसा वर्ग है जो प्रातिपदिक वर्ग के बाद आता है और तिङ् वर्ग एक ऐसा वर्ग है, जो धातु के बाद आता है। अधिकतर दूसरे प्रकार का वर्गीकरण ही विशेष महत्व रखता है।

रूपो के वर्गीकरण का एक अन्य आधार भी है। वह है, उसके बद्ध और मुक्त स्वभाव पर आधृत। कोई-कोई रूप स्वतन्त्र रूप से दूसरे से मुक्त होकर भी पद बना लेते है, और कोई-कोई बिना किसी दूसरे से बँधे हुए पद या शब्द बनाने की क्षमता नही रखते। हिन्दी मे 'राम' मुक्त रूप की कोटि मे आता है, और 'ने' या 'ओ' जैसे रूप बद्ध रूप की कोटि मे आते है। अयोगात्मक (analytic) भाषाओ मे सभी रूप मुक्त होते है और प्रश्लेषात्मक भाषाओ मे सभी रूप बद्ध होते है। श्लिष्टात्मक भाषा मे दोनो प्रकार के रूप पाये जाते है। पर वर्गीकरण के ये भेद विश्लेषण मे उतने उपयोगी नही होते, जितने कि ऊपर दिये गये दोनो वर्गीकरण।

अन्त मे रूप और पद का भाषा मे क्या स्थान है, इस पर कुछ विचार करना चाहिए। भाषा के रूप का महत्व पद के भीतरी उपादान-तत्वो के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञापन कराना है। पर प्रयोग की दृष्टि से पद ही अधिक सलक्ष्य होने वाली इकाई है। कुछ विचारको ने पद की दो धारणाये मानी है (१) ध्वनिग्रामीय (Phonological) और

(२) विशुद्ध रूपमय। उनके अनुसार अल्प विवृति (Open transition ही ध्वनिग्रामीय शब्द की विभाजक-रेखा है। उदाहरण के लिए सोयम्, रामश्च, त्वमपि, ये ध्वनिग्रामीय दृष्टि से सोचने पर एक-एक शब्द है, किन्तु रूप की रचना की दृष्टि से देखने पर ये दो-दो पदो के युग्म बनते हैं। भाषा की सघटना की दृष्टि से पद का इन दो रूपो मे निर्धारित किया जाना इतना ही महत्व रखता है कि अल्प विवृति आने ही सधि-प्रक्रिया बाह्य और वैकल्पित हो जाती है और दो अल्प विवृतियो के बीच आने वाले पद के भीतर सधि की प्रक्रिया आभ्यन्तर और नित्य रहती है, पर वाक्य-विचार की दृष्टि मे रूपमय पद ही का महत्व होता है, क्योकि वाक्य मे जिस पद का सम्बन्ध दूसरे पद से होता है, वह ध्वनिग्रामीय कल्पना न होकर रूपात्मक कल्पना पर ही आधृत रह सकता है।

हम सक्षेप मे कहना चाहे तो कह सकते है कि रूपराशि और रूप-व्यवस्था ही का योग किसी भाषा का आन्तरिक व्याकरण होता है और पद तथा पद-व्यवस्था उसका बाह्य व्याकरण होता है।

उन्नीसवाँ अध्याय

सन्धि

सन्धि की परिभाषा पिछले अध्याय मे इसप्रकार दी जा चुकी है कि एक रूप और दूसरे रूप के परसन्निकर्ष के कारण उपस्थित व्यष्टि-रूपो मे भेद की प्रक्रिया को ही सधि कहते है। इसप्रकार सधि-प्रक्रिया के अन्तर्गत दो रूपो के सश्लेष के कारण होने वाले जितने भी ध्वनिग्राम-विकार हो सकते है—वे सभी आ जाते है। यह सधि दो प्रकार की होती है—(१) पद के बाहर और (२) उसी पद के भीतर, पद के भीतर सधि नित्य होती है। पद के बाहर सधि वैकल्पिक होती है अर्थात् पद को दूसरे पद मे जोडते समय वक्ता की विवक्षा जिसके सश्लेष पर बल देने की होगी, उसी के अनुसार सधि होगी। उदाहरण के लिए जब कोई शिक्षक भाषा का प्रयोग सिखलाता है तो वह एक एक पद को अलग अलग करके प्रत्येक के बीच मे विराम देकर बहुत धीमी गति से ध्वनिग्रामो का उच्चारण करता है। उस दशा मे एक पद और दूसरे पद के बीच सधि का प्रश्न कभी नही उठता। पर आदमी साधारण व्यवहार मे जब भाषा का प्रयोग करता है तो उस समय प्राय दो या दो से अधिक भी पदो को एक साथ सहित करके बोलता है, जैसे—"क्या कर रहे हो" वाक्य जब सामान्य बोल-चाल मे बोला जायगा, तो "कर" और "रहे" की सधि होकर 'कर" का "र" "रहे" के "र" मे मिल जायगा। या सस्कृत मे जब एक एक पद को अलग करके हम पढे तो 'अयम् एव स' इन तीन पदो को असहित ही पढेगे, परन्तु सामान्यत. 'अयमेव' को साथ सहित ही पढेगे। प्राय अव्यय-रूप नाम या आख्यात पद के साथ सहित ही पढने पर, अपना बल अभिव्यक्त कर पाते है। "जीवत्यहो" मे जो 'अहो' की सार्थकता है वह "जीवति अहो' मे नही आ

सकती। यदि हम ध्वनिग्राम-सघटना की दृष्टि से कहना चाहे तो कह सकते हैं कि जहाँ दो पदो के बीच अल्प विवृति होती है, वहाँ सधि नही होती। सस्कृत भाषा मे लिपिबद्ध रूप मे जो जटिल बाह्य सधि-प्रक्रिया दिखलायी पडती है वह स्वाभाविक न होकर कृत्रिम है। उसका महत्त्व केवल काव्य-रचना मे हो सकता है, काव्य-रचना के बाहर साधारण सलाप की भाषा मे या विचार की भाषा मे नित्य बाह्य सधि एक असभव कल्पना है।

सधि के विचार से ध्वनिग्राम के निम्नलिखित प्रकार के विकार सभव है--

(१) एक विशिष्ट प्रकार के रूप के जुडने के कारण उसके परवर्ती रूप की स्वर-श्रेणी मे परिवर्तन हो सकता है। भारोपीय भाषाओ म इस स्वर-परिवर्तन की प्रक्रिया का विशेष महत्त्व है। इसे स्वर-शृङ्खला या अपश्रुति (ablaut) कहते है। यह अपश्रुति दो प्रकार की हो सकती है--गुणात्मक और मात्रात्मक। गुणात्मक अपश्रुति के मुख्य तीन स्तर हो सकते है--वृद्धि, गुण और सम्प्रसारण (ह्रसित)। मात्रा के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। भारोपीय भाषाओ क ऐतिहासिक अध्ययन से यह सूचित होता है कि इस स्वर-शृङ्खला की प्रक्रिया पर सगीतात्मक सुर का प्रभाव रहा है। कालान्तर मे स्वर और स्वराघात दोनो ही प्रक्रियाएँ स्वतन्त्र हो गयी।

उदाहरण के लिए सस्कृत मे--

वृद्धि--*ऐ, औ, आर, आन्, आम्, आ*

गुण--*ए ओ अर् अन्, अम् अ अय् अव्*

ह्रसित--*इ, य् उ, व् ऋ, र, अ, न् अ, म् इ, शून्य*

गुण रूप--*जुहोति*, वृद्धिरूप--*अहौषीत्*, ह्रसित रूप--*हुत*

गुण रूप--*कर+ओति* वृद्धि रूप--*अकारषीत्* ह्रसित रूप--*कृत और चक्रे*

" "--*अजेष्ट* " --*अजैषीत्* " *जित*

अजयत

ध्वनिग्राम-विकार का दूसरा प्रकार उसके स्वराघात में परिवर्तन हो सकता है। प्राचीन-ग्रीक और वैदिक-संस्कृत में स्वराघात के तीन सार्थक स्वर पाये जाते है। वैदिक संस्कृत में स्वरित के दो भेद है—(१) स्वतन्त्र और (२) परतन्त्र। स्वतन्त्र स्वरित के तीन भेद—क्षैप्र, अभिनिहित और प्रश्लिष्ट होते है जो केवल स्वर-संधि के तीन भेदो पर आश्रित है। परतन्त्र स्वरित स्वर उस अनुदात्त का स्वरित में रूपान्तर होता है जो उदात्त के बाद आये पर जिसके बाद उदात्त और स्वतन्त्र स्वरित न आये। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, ये स्वराघात स्वर या अक्षर में संबद्ध होते है।

वैदिक संस्कृत से उदाहरण —

(१) *आहिता में आ उदात्त ता का आ अनुदात्त और हि का इ* परतन्त्र स्वरित है।

(२) *इन्द्वेऽव में न्वे के ए* पर क्षैप्र स्वतन्त्र स्वरित है।

ध्वनिग्राम-विकार का तीसरा प्रकार बलाघात के स्तर का परिवर्तन होता है। अंग्रेजी भाषा में इस प्रक्रिया का विशेष महत्व है। उदाहरण के लिए कंडक्ट ('Conduct) (संज्ञा) तथा (Con'duct) (क्रिया) इन दो शब्दो में संज्ञावाची और क्रियावाची ये दो अर्थ केवल बलाघात स्तर के इधर से उधर करने से ही विदित होते है। अंग्रेजी में प्रत्येक वाक्य में निलंबित विवृति ही उक्ति-खंड की वह सीमा-रेखा होती है, जिसमें केवल एक ही प्राथमिक स्तर का बलाघात आ सकता है। यह वैदिक भाषा के "अनुदात्त पदमेकवर्जम्" वाली व्यवस्था के समानान्तर व्यवस्था है।

ध्वनिग्राम-विकार का चौथा प्रकार आगम है। जब कभी दो ऐसे ध्वनिग्राम पास-पास आ जाते है जिनके आने में सुविधा नही होती है तो उन दोनो के बीच में एक तीसरा ध्वनिग्राम आगम के रूप में आता है। उदाहरण के लिए।

ई + उस्	=	*ई + य् + उस्*	*= ईयु*
बभू + उस्	=	*बभ + व् + उस्*	*= बभूवु*
सुनर	=	*सु + न् + द् + अर*	*= सुन्दर*
भृ + य [यत्]	=	*भृ + त् + य*	*= भृत्य*

पाँचवाँ विकार लोप है। प्रत्येक भाषा की ध्वनिग्राम-सघटना मे आद्य और अन्त्य स्थिति मे आने वाले ध्वनिग्रामो और उनके सयोगो की सख्या सीमित होती है। जो ध्वनिग्राम या उनके सयोग अन्त्य स्थिति मे नही आ सकते उनका या तो लोप हो सकता है या उनके स्थान पर वह ध्वनिग्राम आ सकता है जो उस सघटना मे अन्त्य स्थिति मे आता है। लोप की प्रक्रिया प्राय उन्ही ध्वनिग्रामो की होती है जिनकी अन्त्य स्थिति ध्वनिग्राम-सघटना मे बाधित होती है। उदाहरण के लिए सस्कृत मे अभ्यास मे *क्रन्त्+क्रन्त्=क्र+क्रन्त्=च+क्रन्त्* इस प्रकार न्त् का लोप हो गया है, या *सम्राज्+स्=सम्राश+स्=सम्राट्+स्=सम्राट्, स् का लोप हो गया है* क्योकि अन्त मे केवल एक ही व्यजन रह सकता है।

सधि मे ध्वनिग्राम का छठवाँ विकार आदेश है। जब दूसरे ध्वनिग्राम के सन्निकर्ष मे पूर्व ध्वनिग्राम या उत्तर ध्वनिग्राम दोनो मे से कोई भी दूसरा ध्वनिग्रामत्व धारण कर लेता है तो हम उसे आदेश की प्रक्रिया कहते है। यह आदेश की प्रक्रिया समीकरण और विषमीकरण दोनो के कारण होती है।

उदाहरण के लिए सस्कृत मे —

(१) अभ्यास मे महाप्राण धातु का पहला अश अल्पप्राण हो जाता है, *ह्व+ह्व=ज+ह्व=जहार।*

(२) अन्त्य स्थिति मे चवर्गीय स्पर्श के लिए क्, ञ् के लिए ङ् आदिष्ट हो जाता है। *सर्वस्पृच्=सर्वस्पृक्, प्रत्यच्=प्रत्यज्=प्रत्यङ्।*

(३) घोष महाप्राण स्पर्श के पूर्व अघोष अल्पप्राण स्पर्श के स्थान पर स्वर्गीय अल्पप्राण स्पर्श का आदेश होता है, *सरित्+भ्याम्=सरिद्भ्याम्।*

इस प्रकार सन्धि-प्रक्रिया अनेक प्रकार की होती है। यह प्रक्रिया ध्वनिग्राम एव रूप की कडी है। एक तरह से दो रूपो के विभाजन का ज्ञापन भी सन्धि-प्रक्रिया द्वारा ही होता है। यह प्रक्रिया भाषा की ध्वनिग्राम-सघटना के अनुकूल होती है।

बीसवाँ अध्याय

पद-विकास

व्याकरणात्मक धाराएँ—ऊपर कह चुके है कि भाषा का अवयव वाक्य है। हमे सम्पूर्ण वाक्य से अर्थ का बोध होता है। हमारा अनुभव प्रथम वस्तुओ और जीवो पर केन्द्रित होता है, फिर गुणो पर। वस्तुओ से भिन्न, अलग से गुण का बोध धीरे-धीरे जैसे जैसे अनुभव बढता जाता है, होता जाता है। वाक्य द्वारा उद्बोधित अर्थ का विश्लेषण प्रत्येक भाषा मे किन्ही धाराओ मे होता है जो स्वाभाविक और सर्व-साधारण हो जाती है। आज हम हिन्दी-भाषी लोग क्रिया मे भी लिंग रखते है, यह हमारे लिए सर्वसाधारण और स्वाभाविक-सी बात है। हमारी भाषा इसी धारा में चली आई है, जिस धारा का विकास सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश के क्रम मे स्पष्ट दिखाई पडता है। पर क्रिया मे लिंग का भेद करना अँग्रेजी या बगाली मे नही होता—इन भाषाओ की स्वाभाविक धारा इस बारे मे हमारी से बिल्कुल विपरीत है। इसी प्रकार की भाषाओ का हमारी भाषा से जितनी दूर का सम्बन्ध है उनकी धाराएँ उतनी ही भिन्न होगी। इन धाराओ का विश्लेषण व्याकरण द्वारा होता है। विशिष्ट सम्बन्ध तत्त्वो द्वारा ही इन धाराओ का निर्धारण होता है। इस प्रकार शब्द का रूप ही इन धाराओ का निरूपण करता है, यदि शब्द के रूप की विभिन्नता नही है तो समझना चाहिए कि वह धारा नही है। सस्कृत मे विशेष्य के लिंग के अनुसार विशेषण का लिंग होता था—(*सुन्दर पुरुष, सुन्दरी स्त्री, सुन्दर कमलम्*) परन्तु आज हिन्दी मे अधिकाश विशेषणो मे लिंग का भेद नहीं होता (*सुन्दर पुरुष, सुन्दर स्त्री, सुन्दर कमल*) जैसा कि रूप की अभिन्नता से स्पष्ट है और जिनमे है भी (*मोटा आदमी, मोटी*

औरत) वहाँ भी मिट जाने के लक्षण दूर से दिखाई पड रहे हैं। यदि किसी भी सम्बन्धतत्त्व द्वारा लक्षित रूप विभिन्न न हो तो समझ लेना चाहिए कि वह धारा उस भाषा के इतिहास मे या तो थी ही नहीं, या थी तो विलुप्त हो गई। संस्कृत मे आशीर्लिङ् और विधिलिङ् के लिए जुदा-जुदा रूप थे, प्राकृत-काल मे इनकी एकरूपता हो गई। और आज हिन्दी मे इनकी तथा प्राचीन आज्ञा (लोट्) के रूपो की एकरूपता पाई जाती है। *बच्चा सुखी रहे* (आशीर्वाद,) *वह बिछौने से उठकर मुह धोए* (विधि,) *वह खाना खाए* (आज्ञा), *और यदि वह बीमार पडे* (सकेत) इन सब प्रयोगो मे क्रिया के रूप के लिए एक ही सम्बन्ध-तत्त्व है। ऐसी दशा मे हम कह सकते है कि हिन्दी मे आशीर्वाद आदि के लिए विभिन्न धाराएँ नही है। इस प्रकार इन व्याकरण-सम्बन्धी धाराओ का अध्ययन विशिष्ट भाषा के सम्बन्ध मे ही और सो भी उसके इतिहास के किसी विशिष्ट समय के बारे मे ही हो सकता है।

लिंग, वचन कारक (कर्तृत्व, कर्मत्व, करणत्व आदि), पुरुष (उत्तम, मध्यम, अन्य), काल (भूत, वर्तमान, भविष्य), प्रश्न, निषेध आदि के भाव सम्बन्धतत्त्वो द्वारा बतलाए जाते हैं। जिन भाषाओ मे इनमे से कुछ के लिए अलग सम्बन्धतत्त्व नही है उनके विषय मे निश्चयात्मक रूप से हम कह सकते है कि उन भाषाओ मे सोचने-विचारने की वे धाराएँ नही है। इस जगह पर इन सम्बन्धतत्त्वो द्वारा निर्दिष्ट धाराओ के इतिहास पर विचार कर लिया जाय।

लिंग

व्याकरण के अनुसार शब्दो मे तीन लिंग मिलते है—पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग। परन्तु इस लिंग का नैसर्गिक पुरुषत्व और स्त्रीत्व मे कोई सम्बन्ध नही। संस्कृत मे स्त्रीवाचक शब्द सभी लिंगो (*दारा* पु०, *स्त्री महिला* स्त्री०, *कलत्र* नपु०) मे मिलते है। संस्कृत, हिन्दी, अरबी, फ्रेंच आदि भाषाओ मे अचेतन पदार्थो को बतलाने वाले शब्द कोई पुल्लिंग होते है तो कोई स्त्रीलिंग, जैसे—पानी के लिए

संस्कृत में *वारि जल* आदि नपु० पर *आप* स्त्री० हिन्दी में *बाट* (स्त्री०) *रस्ता* (पु०), *डगर* (स्त्री०), *मार्ग* (पु०) अरबी में *किताब* (स्त्री०), *मौत* (स्त्री०)।

मुंडा भाषाओं में पुंल्लिंग और स्त्रीलिंग का भेद नहीं है। जहाँ भेद जतलाने की जरूरत होती है वहाँ फारसी की तरह *नर* और *मादह* के लिए शब्द जोडकर लिंग-भेद किया जाता है, जैसे *आडिया कूल* (बाघ), *एंगा कूल* (बाघिन)। संज्ञाओं के चेतन और अचेतन ये विभाग मिलते हैं। द्राविड भाषाओं में संज्ञाओं के दो भेद पाए जाते हैं—उच्चजातीय और जातिहीन, तथा फारसी की तरह पुरुष और स्त्री सूचक शब्द जोडकर पुंल्लिंग और स्त्रीलिंग का भी भेद कराया जाता है। अंग्रेजी में अचेतन पदार्थों पर भी कभी-कभी पुरुषत्व और स्त्रीत्व का आरोप जानबूझ कर किया जाता है, उस भाषा में सूर्यवाचक शब्द *सन्* पु० और चन्द्र-वाचक शब्द *मून्* स्त्री० होता है, *शिप्* (जहाज) और *ट्रेन* स्त्री० होते हैं। इस प्रकार भाषाओं में लिंग के बारे में बडी विभिन्नता है।

यदि अचेतन पदार्थों के लिए सदा नपुंसकलिंग और चेतन जीवों में पुरुषों के लिए पुल्लिंग और स्त्रियों के लिए स्त्रीलिंग होता तो बात युक्तिसंगत होती। पर अधिकतर बात इसके विपरीत है। इसका क्या कोई कारण है? प्रश्न के तीन भाग हैं—(क) पुरुष के लिए स्त्रीलिंग शब्द क्यों, अथवा स्त्री के लिए पुल्लिंग शब्द क्यों? (ख) चेतन के लिए नपु० शब्द क्यों और (ग) अचेतन के लिए पु० और स्त्री० शब्द क्यों? वर्तमान भाषाओं के लिंग को हम खोजते-खोजते पुरानी भाषाओं तक पहुँचते हैं। हिन्दी का पुल्लिंग और स्त्रीलिंग का प्रयोग अपना इतिहास वैदिक संस्कृत तक पाता है। गुजराती और मराठी में का स्वल्पावशिष्ट नपुंसकलिंग भी संस्कृत तक पहुँचता है। इसी प्रकार अन्य भाषाओं के बारे में भी कह सकते हैं। आदिम भाषाओं के विषय में विचार करना है।

(क) पुरुष के लिए स्त्री० और स्त्री० के लिए पु० शब्द का प्रयोग

तब सभव है, जब पुरुष म स्त्री के कोई विशिष्ट गुण, विशेष परिस्थिति मे, देखे गए होंगे और स्त्री० मे पुरुष के गुण, तभी विपरीत लिंग का प्रयोग हुआ होगा। सस्कृत का स्त्रीवाचक पु० *दारा* शब्द शायद स्त्री के गृहप्रबध के कौशल को देखकर ही पु० हुआ होगा।

(ख) चेतन के लिए नपु० शब्द का प्रयोग, सभव है कि, कुछ अचेतनत्व देखकर ही प्रयोग मे आया होगा। सस्कृत का स्त्रीवाचक नपु० *कलत्र* शब्द शायद इस बात का द्योतक है कि स्त्री और सामग्री की तरह पिता के घर से पति के घर पहुँचा दी जाती थी।

(ग) अचेतन के लिए पु० या स्त्री० का प्रयोग अचेतन पदार्थो मे जीवन की कल्पना करने से ही सभव हुआ होगा। अग्निवाचक सस्कृत के *पावक, अग्नि, दहन* आदि शब्द शक्ति और प्रकाश आदि गुणो को जतलाते है। *शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतय* आदि मन्त्र मे जलवाचक *आप* का स्त्री० मे प्रयोग उसके सुख, शान्ति देने के गुण का द्योतक है।

जहाँ कोमलत्व, शान्ति आदि की कल्पना की जाय वहाँ स्त्रीलिंग का प्रयोग और जहाँ वीरत्व, ओज आदि की कल्पना हो वहाँ पुल्लिग का प्रयोग युक्तिसगत जान पडता है। और किसी भाषा मे यदि एक बार इस तरह का प्रयोग कुछ शब्दो मे चल पडा तो दूसरो मे भी होकर भाषा का स्वाभाविक अग बन जाता है। वर्तमान भाषाओ मे जहाँ लिंग-भेद है वहाँ से उसे हटाने की या उसे छोडने की यदि जरा भी बात की जाती है तो उस भाषा के बोलने वालो को बुरा लगता है। अपने आप दूर हो जाय तो कोई बात नही।

वचन

ससार की वर्तमान अधिकाश भाषाओ मे एकवचन और बहुवचन को व्यक्त करने का प्रबध है। लिथुऐनी मे अब भी द्विवचन अवशिष्ट मिलता है। अफ्रीका की कुछ भाषाओ मे त्रिवचन के भी रूप मिलते है। द्विवचन और त्रिवचन के अस्तित्व से यह न समझना चाहिए कि

जिन भाषाओं में ये हैं उनके बोलने वाले दो या तीन से आगे की गिनती नहीं जानते थे। संसार में जीव और वस्तुएं एक और अनेक दिखाई देती हैं। इसलिए एकवचन और बहुवचन को व्यक्त करने के लिए भाषाओं में साधन होना स्वाभाविक ही है। द्विवचन का आविर्भाव किन्हीं वस्तुओं को समान और साथ-साथ देखने से हुआ होगा, जैसे *दो पैर, दो हाथ, दो आँखें, दो कान, अश्विनौ* आदि। धीरे-धीरे निरन्तर साथ रहने वाली पर भिन्न वस्तुओं अथवा जीवों के लिए भी इस वचन का प्रयोग होने लगा। *इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ, द्यावापृथिवी, पितरौ* आदि प्रयोग इसी के उदाहरण हैं। और फिर द्विवचन सर्वसाधारण प्रयोग में आ गया। संस्कृत में द्विवचन था, पर पालि और बाद वाली आर्य भाषाओं में वह गायब हो गया। उसके लोप का कारण यही हो सकता है कि द्विवचन की स्वतन्त्र सत्ता का उसके विस्तृत व्यवहार के कारण कोई उपयोग नहीं दिखाई पड़ा। किन्हीं दो वस्तुओं का बोध कराने के लिए संख्यावाचक दो का प्रयोग करके अनेकवाचक बहुवचन को लाकर काम चल गया। इसी प्रकार जिन भाषाओं में त्रिवचन का व्यवहार है वहाँ किन्हीं वस्तुओं को तीन के समूह में देखना और उसे विशेष रूप से व्यक्त करना आवश्यक समझा गया होगा।

इन वचनों के अतिरिक्त भाषाओं में व्यक्ति और समूह को अलग-अलग व्यक्त करने के भी साधन मौजूद रहते हैं। वैदिक संस्कृत में कई प्रयोग ऐसे मिलते हैं जिनमें संज्ञा बहुवचन में है और क्रिया एकवचन में। ऐसे स्थलों में बहुवचन से केवल समूह का बोध होता है। बाद को समूहवाचक बहुत से शब्द बन गए। *गण* पुराना शब्द है। *द्वितय, त्रितय, चतुष्टय* आदि भी समूहवाचक हैं। हिन्दी के *जोड़ा जोड़ी, गंडा* (४), *पंजा* (५), *दर्जन, कोड़ी* आदि शब्द इसी श्रेणी के हैं। और साहित्य-शास्त्री तो, विशेष समूहों की संख्या को व्यक्त करने के लिए—*वेद, रस, ऋषि, वसु, रुद्र, आदित्य* आदि कितने ही शब्दों का प्रयोग करते हैं। किसी समूह की कल्पना करके अनेक समूहों की भी कल्पना हो सकती है, इसी कारण समूहवाचक शब्द एकवचन या बहुवचन में हो सकते हैं।

काल

काल का विचार आज जितना स्पष्ट जान पड़ता है उतने स्पष्ट रूप से पूर्व समय की भाषाओं में नहीं व्यक्त पाया जाता। संस्कृत के भूतकाल के लिए तीन रूप (अनद्यतन, परोक्ष और सामान्य) मिलते हैं। उनमें क्रिया के समाप्त होने की भावना अधिक निहित है, भूतकाल की कम, और वह काम आज से पहले खत्म हुआ, या दूर के पूर्ववर्ती समय में जिसको वक्ता ने अपनी आँखों नहीं देखा, इत्यादि भावों की विवेचना पर जोर रहता था। वर्तमान भाषाओं की काल-प्रक्रिया को यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो पता चलता है कि वर्तमानकाल के रूप तो असन्दिग्ध और सुस्पष्ट है, अन्यों के नहीं। उदाहरण के लिए भविष्य को ही ले लीजिए। अंगरेजी में इसको व्यक्त करने के लिए अलग रूप नहीं—धातु में वर्तमान-कालिक इच्छावाचक कोई विल (will) शैल् (shall) अन्य धातु जोडकर ही उसका बोध कराया जाता है। फ्रेंच में भी भविष्य और भूत के रूपों में विलक्षण घोलमेल है। हिन्दी में तो खडीबोली का भविष्यकाल वर्तमान और भूतकाल के रूपों को जोड कर ही बनाया जाता है। *जायगा* में दो अंश है *जाए* *याति* (जाता है) और *-गा-गत* (गया)। यह (*-गा गी-गे*) अंश वर्तमान-कालिक अन्य धातुरूपों के बाद जुडा मिलता है। अवधी आदि बोलियों में *जाब, जाइब, जइबे* आदि रूप प्राचीन कृत्य रूपों पर निर्भर है जिनका तात्पर्य था चाहिये होगा। ब्रज आदि में *जइहैं, जाई* आदि रूप प्राचीन (संस्कृत) भविष्य से धीरे-धीरे विकसित हुए है पर संस्कृत में ही धातु और वर्तमान काल के प्रत्ययों के बीच में *-स्य* जोडकर ही तो भविष्य का बोध कराया जाता था।

इसी प्रकार भूतकाल का बोध पक्की नींव पर नहीं है। हिन्दी में (तथा अन्य भारतीय आर्य भाषाओं में भी) इस काल का बोध निष्ठा पर अवलम्बित है जो केवल किसी काम के पूरे होने का बोध कराती थी—काल का नहीं। *यदि वर्धा गया तो महात्मा जी की कुटिया के अवश्य दर्शन करूँगा* आदि प्रयोगों में भूतकाल का बोधक *गया*, भविष्य की बात कहता है।

मनुष्य के जीवन मे वर्तमान ही निश्चित है 'कल की राम जाने' भूत की भी वही बात निश्चित है जो अपने अनुभव मे आई हो। इसी प्रकार भाषा मे भी अधिक स्थिर रूप वर्तमान काल के ही होना स्वाभाविक है अन्यो के अपेक्षाकृत अस्थिर।

प्रेरणार्थक आदि

सस्कृत मे क्रिया मे काल के ऊपर अधिक जोर न था, किन्तु क्रिया क प्रकार पर स्पष्ट जोर दिया जाता था। कर्ता स्वय क्रिया करता है या उसे कोई करने को प्रेरित करता है—इन दोनो के लिए अलग अलग (*गच्छति, गमयति*) रूप थे। किसी काम को करने की इच्छा करने के लिए जुदा रूप (*जिगमिषति*), बार बार या खूब करता है तो भिन्न ही रूप (*देदीयते*—बार बार देता है या खूब देता है) इत्यादि। आज हिन्दी आदि आधुनिक आर्य भाषाओ मे विचार की ये धाराए समाप्त सी हो गई है। यदि इन विचारो को प्रकट करने की जरूरत होती है तो अलग अलग शब्दो से इनका बोध होता है न कि उसी धातु के विभिन्न रूपो से। इनमे से केवल प्रेरणार्थक के रूप मिलते है, *करना करवाना, पटना पटाना* आदि। अग्रेजी मे प्रेरणार्थक का भी भाव क्रिया के भिन्न रूपो से न जतला कर प्रेरणा का अर्थ बतलाने वाली किसी धातु (कॉज Cause मेक make) के प्रयोग द्वारा सिद्ध करते है। सस्कृत के बहुत से, इस प्रकार के भिन्न रूपो द्वारा जतलाए हुए प्रयोग आज हिन्दी मे दो या अधिक शब्दो के जोड से जतलाए जाते है, *मै जाना चाहता हूँ, मैं खूब खाता हूँ, मै चलता रहा, मै चल पडा, मैने खाया, मैं खा गया, मैंने खा डाला, मै खा चुका* आदि प्रयोगो मे विचार की जो बारीकी सुस्पष्ट है वह शब्दो द्वारा प्रकट नही की जा सकती। सस्कृत इन्ही मे से बहुतो को क्रिया के ही भिन्न-भिन्न रूपो से प्रकट करती थी।

सस्कृत की धातुएँ वैयाकरणो द्वारा दस गणो म बाटी गई है, एक गण की धातुओ के रूप दूसरी से आशिक रूप से भिन्न है—किन्ही धातुओ के बाद ही तुरन्त तिङ प्रत्यय लग जाते है (*अद्+सि*), कुछ

के उपरान्त तिङ् के पूर्व कुछ जुटता है (*वद् + अ + ति, विद + य + ते, कृ + णो + ति, पूज् + अय + त आदि*), कुछ धातुओ की ध्वनियो में ही कुछ परिवर्तन हो जाता है (*रुध् + ति = रु + णध + ति = रुणद्धि*)। किसी धातु का रूप अभ्यास प्राप्त करता है (हु + ति = जुहु + *ति = जुहोति*)। रूप की इस विभिन्नता की तह मे विचारधारा की कोई विभिन्नता रही होगी, ऐसा अनुमान करना युक्ति-सगत है। सभव है कि जिन धातुओ को अभ्यास प्राप्त होता है उनसे, पहले बार बार किए जाने वाली क्रिया का ही बोध होता रहा हो, जुहोति (आहुति देता है) मे बलि (आहुति) बार बार ही देवता को समर्पित की जाती थी। यद्यपि आज इस विभिन्नता के इतिहास की खोज करना असभव सा है तथापि भाषाविज्ञानी का विचार इस बात पर स्थिर है कि रूप-विभिन्नता के साथ विचार-धारा की विभिन्नता अवश्य रही होगी।

वाच्य

सस्कृत मे तीन प्रयोग या वाच्य होते हैं—कर्तृ, कर्म और भाव। यदि किसी वाक्य मे कर्तृत्व पर जोर होता है तो कर्तृवाच्य, कर्म पर तो कर्मवाच्य और क्रिया क भाव पर हो तो भाववाच्य। कर्तृवाच्य मे कर्ता स्वय काम करता दिखाई देता है। *कृष्ण भक्तो का उद्धार करते हैं* इस वाक्य मे *कृष्ण* का कर्तृत्व स्पष्ट है, किन्तु *भक्तों का उद्धार किया जाता है* इस वाक्य मे उद्धार पर जोर है, चाहे *कृष्ण* करे या *राधा* या *राधेश्याम*। इसी प्रकार *खाया नही जाता, चला नहीं जाता*, आदि प्रयोगो मे क्रिया द्वारा बतलाए हुए भाव पर जोर है, *किससे नही खाया जाता* या *क्या नहीं खाया जाता* अथवा *किससे नही चला जाता* इस पर नही। इन तीनो प्रयोगो के लिए सस्कृत मे धातुओ के अलग अलग रूप पाए जाते थे। पर आगे चल कर कर्मवाच्य और भाववाच्य का प्रयोग भिन्न रूपो से न बतलाकर सयुक्त क्रिया द्वारा सिद्ध किया गया। *उद्धार किया नही जाता, खाया नहीं जाता, चला नहीं जाता* आदि वाक्यो मे प्रधान क्रिया को जा का सहयोग प्राप्त है और इसी सयोग से

कर्मवाच्य और   का बोध कराया गया है। कर्तृवाच्य सकर्मक अकर्मक दोनों तरह की धातुओं के रूपों में सम्भव है कर्मवाच्य केवल सकर्मक धातुओं में और भाववाच्य अकर्मक में ही। *गुरु शिष्य को पढाता* है इस प्रयोग में ऐसा नहीं कि केवल गुरु ही काम कर रहा हो *शिष्य* नहीं, क्योंकि यदि शिष्य सावधान न हो तो गुरु क्या खाक पढा पाएगा। पर इस प्रयोग में कर्तृत्व का प्रयोग इसलिए है कि कर्ता का भाग प्रधान है शिष्य का गौण। *चौकीदार चोर को पीटता* है इस वाक्य में सम्पूर्ण कर्तृत्व कर्ता का ही है, कर्म की न सहायता है न सहयोग, विरोध भले ही हो। इस प्रकार सकर्मक धातुओं का प्रभाव कर्म पर अवश्य पडता है, अकर्मक धातुओं में वह कर्ता तक ही सीमित रहता है। कुछ भाषा-विज्ञानियों ने कुछ सकर्मक धातुओं के कर्तृत्व के विषय में सन्देह किया है, जैसे दे*खना*। उनका कहना है कि देखने की क्रिया में कर्ता कुछ नहीं करता, उसके दीदे पर सामने की चीज़ की छाया पडती है और उसे बेबस देखना पडता है, इसी प्रकार *सुनना* है। पर यदि गहराई से विवेचन किया जाय तो बात ऐसी नहीं है। यदि हमारा अन्त करण क्रियाहीन हो तो सामने की ही वस्तु न दिखाई पडे और निकटतम शब्द भी न सुनाई पडे। इसलिए इन धातुओं के बारे में कर्तृत्व उतना ही निश्चित है जितना अन्यों में।

पद

सस्कृत में धातुएँ दो भागों में बटी थी—परस्मैपद और आत्मनेपद। इस विभाग की तह में क्रिया के फल का विभाग था, यदि क्रिया का फल कर्ता को स्वय मिले तो आत्मनेपद और यदि दूसरे को तो परस्मैपद। उदाहरण के लिए *यजमान यजते* और *ऋत्विक् यजति*। पहले में आत्मनेपदी क्रिया है दूसरे में परस्मैपदी। क्रियाओं का ठीक ठीक इस अर्थ में प्रयोग उत्तरोत्तर घटता गया और पालि, प्राकृत आदि भाषाओं में पदों के अनुसार क्रिया की रूप-विभिन्नता लुप्त हो गई।

वृत्ति

संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं में आशीर्लिङ्ग विधिलिङ्ग आज्ञा आदि विभिन्न वृत्तियों के लिए भिन्न भिन्न रूप थे किन्तु हिन्दी आदि वर्तमान भाषाओं में यह विभिन्नता नहीं पाई जाती। अंगरेजी के व्याकरणों में यद्यपि कई वृत्तियों का उल्लेख मिलता है, तब भी भाषा में अब बहुधा वर्तमान काल के रूपों से ही सभी का बोध कराया जाने लगा है।

विभक्ति

संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण के विभिन्न रूपों को विभक्ति कहते है। संस्कृत में सात विभक्तियाँ प्रथमा से सप्तमी तक है और सम्बोधन के लिए प्रथमा का ही अधिकांश में प्रयोग होता था, केवल एकवचन में अन्तर था। यदि उसको भी अलग विभक्ति माने तो आठ होगी। इन विभक्तियों का अलग अलग उपयोग होता था जिसका बडा यथार्थ और सुन्दर विवेचन पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है। इन सात विभक्तियों के स्थान पर पालि, प्राकृत और अपभ्रंश को पार करके हिन्दी में आज दो ही मिलती है—एक **विकारी** और दूसरी **अविकारी** अर्थात् एक ऐसी जिसका मूल रूप ज्यों का त्यों रहता है और दूसरी जिसमें कुछ विकार होता है, उदाहरणार्थ—

अविकारी	विकारी
पूत, गाय	*पूता गाएँ: गायों*
घोडा	*घोड़े घोडों*
कोई, कौन	*किस*
मैं	*मुझ मेरा*
तुम	*तुम्हें, तुम्हारा*

खडी बोली में व्यंजनान्त संज्ञा (लिखाई में अकारान्त संज्ञा) का एकवचन में कोई विकारी रूप नहीं होता पर ब्रज, अवधी आदि में इनमें से कुछ संज्ञाओं का एकवचन में भी होता है (जैसे *घर—घरहि,*

घरइ दुआर-दुआरे)। सर्वनामों के प्राय सभी बोलियो में दो विकारी रूप मिलते है, एक पुरानी षष्ठी विभक्ति का स्थानापन्न और दूसरा अन्य विभक्तियो के लिए। अँगरेजी की ऐसी ही स्थिति है। जर्मन के सर्वनामो मे पुरानी सम्प्रदान विभक्ति का भी अवशेष मिलता है। पालि भाषा में सस्कृत की सभी विभक्तियाँ पाई जाती है, केवल षष्ठी और चतुर्थी के प्रयोग मे अस्थिरता दिखाई पडती है, कभी षष्ठी की जगह चतुर्थी और चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी। महाराष्ट्री आदि के समय तक चतुर्थी विलुप्त हो गई और अन्य विभक्तियो के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग कुछ बढ गया। अपभ्रंशो के समय तक ध्वनि-विकास के सहयोग मे रूप-विभिन्नता और कम हो गई और थोडा-थोडा परसर्गो का प्रयोग दिखाई देने लगा। और आज हिन्दी की अधिकाँश सज्ञाओ मे केवल दो ही रूप दिखाई देते है—एक अविकारी, दूसरा विकारी। विभक्तियो के अर्थ का बोध परसर्गों द्वारा होता है। विकारी रूप बहुधा बहुवचन का होता है और लक्षण ऐसे दिखाई पडते है कि बहुवचन का विकारी रूप वहाँ भी प्रयोग मे आने लगेगा जहा अब अविकारी आता है। खडी बोली में हम कहते है—*पूत आया, पूत को प्यार करो, पूत आए, पूतों को पियार करो।* पर अवधी की कुछ बोलियो मे पूतन *आए, पूतन को पिआर करउ* आदि प्रयोग खूब प्रचलित है।

जब विभक्तियो के लिए अलग अलग रूप मिलते हो तब निश्चय समझना चाहिए कि विचारधारा मे इनके द्वारा व्यक्त किए गए भावो की विभिन्नता है। इन विभक्तियो के ह्रास के अनुपात से इस विचार-धारा का भी ह्रास समझना चाहिए। आज इन विभक्तियो के स्थान पर परसर्गों का प्रयोग प्रचलित है और इनमे भी अपादानत्व और करणत्व (*से*) तथा सबधत्व और सम्प्रदानत्व और कर्मत्व (*को, का, की*) मे भी विशेष भेद नही। इन सबसे यही नतीजा निकलता है कि सज्ञाओ के विषय की वह बारीकी जिसे सस्कृत बोलने वाला बर्तता था हम नही बर्तते।

कारक

क्रिया के साथ विभक्तियो के सम्बन्ध को कारक कहते है, यदि किसी क्रिया के साथ किसी विभक्ति का सबध न हो तो उस विभक्ति को कारक न कहेगे—जैसे षष्ठी विभक्ति का प्रयोग एक सज्ञा या सर्वनाम का दूसरी सज्ञा या सर्वनाम के साथ सबध जोडने के लिए ही होता था, इसी से सबध कारक नही माना जाता।

सबध-तत्त्वो द्वारा व्यक्त की गई और व्याकरण द्वारा लक्षित इन धाराओ का जितनी ही सूक्ष्मता से हम विचार करते है उतना ही यह स्पष्ट होता जाता है कि ये धाराएँ न तो नैसर्गिक अर्थात् स्वभाव-सिद्ध ही है और न किन्ही तार्किक सिद्धान्तो पर निर्भर। मनुष्य-समाज कहाँ, कब, किन परिस्थितियो मे इन धाराओ को बनाता बिगाडता रहता है यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। सस्कृति की दृष्टि से किसी सुसस्कृत जन-समुदाय मे ऐसी धाराएँ वर्तमान रह सकती है जो साधारण रीति से अनावश्यक प्रतीत हो। उदाहरण के लिए आर्य भाषाओ मे अचेतन पदार्थो का लिगभेद है। ससार की भाषाओ के विकास का अध्ययन करके भाषा-विज्ञानी इस नतीजे पर पहुँचे है कि मनुष्य की विचारधारा क्रमश स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ रही है। सभव है कि यह बात इस समय ठीक हो। हम देख ही चुके है कि विशेष को देखकर सामान्य और गुणी को देखकर गुण का अनुभव होता है। काली, लाल, सफेद, छोटी, बडी तरह-तरह की गायो को देखकर ही हमारे दिमाग मे *गाय* का सामान्य रूप बनता है। तरह-तरह की चीजो मे सफेद रग को देखकर ही हमे *सफेद* का निश्चित रूप मालूम होता है। पहले हम घी, आटा, भाजी आदि का तौलना देखकर ही *बात तौलना* सीखते है, *घर जलना* देखकर ही *जी जलता है* मिर्च आदि की कडुआहट पाकर ही कडुई बात को त्याग देते है। शक्कर आदि की मिठास का मजा चखकर ही *मीठी बात* करते है। इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा रहे है। पर इतना निश्चय समझना चाहिए कि जब सूक्ष्मता की सीमा पहुँच जायगी तब फिर

स्थूलता की ओर बढ़ना यही सृष्टि का क्रम है और यही विकास का मूलमंत्र

सूक्ष्म की ओर जाने से यह न समझना चाहिए कि यदि किन्ही भाषाओ के किन्ही अशो मे धाराओ की स्थूलता पाइ जाती है तो वे भाषाएँ असभ्य जन-समुदायो की है। वचन का विवेचन करते हुए हम ऊपर कह चुके है कि द्विवचन या त्रिवचन के अस्तित्व से यह न समझना चाहिए कि लिथुऐनी या अफ्रीकी बोलने वाले दो या तीन ही तक गिन सकते है। यदि सस्कृत मे काल की निश्चित अभिव्यक्ति पर जोर न था तो यह न सोचना चाहिए कि प्राचीन आर्य दार्शनिक को काल का ज्ञान ही न था। कुछ असभ्य जातियो मे भिन्न भिन्न वृक्षो के लिए तो शब्द है पर सामान्य वृक्ष के लिए कोई शब्द नही, अथवा भिन्न भिन्न कीडे के लिए शब्द है पर सामान्य कीडे के लिए नही। सभव है कि ये वृक्ष और कीडे की सूक्ष्मता तक न पहुँच पाए हो, पर और चीजो मे सभ्य कहलाई जाने वाली जातियो की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मता को पहुँच चुके हो।

ध्वनियो के विकास का विचार करते समय ऊपर हम देख चुके है कि भाषा मे कुछ ध्वनियाँ लुप्त होकर अपना स्थान दूसरी ध्वनियो को देती रहती है। यही बात इन धाराओ पर लागू है। पुरानी धाराएँ विगडती है और नई आती रहती है। जैसे सृष्टि के अनन्त ध्वनि-भडार मे से कोई भाषा ध्वनियो की परिमित सख्या को ही व्यवहार मे लाती है, इसी प्रकार धाराओ मे से भी भाषा परिमित ही सख्या ग्रहण करती है।

भिन्न भिन्न भाषाओ मे भिन्न भिन्न धाराएँ होती है। चीनी भाषा मे षष्ठी विभक्ति के वजन की कोई चीज नही। उसमे सम्बन्धतत्त्व का बोध वाक्य मे पदो के क्रमिक स्थान मे होता है और यह क्रम भी सस्कृत का ठीक उलटा। जितनी ही एक भाषा से दूसरी की दूरी है उतनी ही इन धाराओ की दूरी। और इस दूरी के अनुपात से ही एक भाषा के भावो विचारो को दूसरी मे प्रकट करने की मुश्किल बढती

घटती रहती है। किसी को सस्कृत और बगाली का ज्ञान हो तो उनके ग्रथो का हिन्दी मे आसानी से अनुवाद कर सकता है। अगरेजी से हिन्दी मे अनुवाद करना अपेक्षा-दृष्टि से ज्यादा कठिन है, भिन्न परिवार वाली अरबी या चीनी आदि मे और भी कठिन। *इस मिर्च में बिल्कुल मिर्च नहीं है, चीनी मैंने खा डाली, मैं गिर गया, मैं आ गया* और *मैं आ पहुँचा* आदि हिन्दी के वाक्यो का अगरेजी मे क्या कोई सन्तोपजनक अनुवाद कर सकेगा ? *मुझ से दवात गिर पडी* का मुहावरेदार अगरेजी मे अनुवाद होता है—*आइ ड्राप्ड द इकपॉट* (I dropped the inkpot) पर क्या अगरेजी के इस वाक्य से दवात के गिरने मे मेरी असमर्थता और इस घटना के अकस्मात् ही पडने का आभास मिला ? मेरा सिर चकरा रहा है को अगरेजी मे कैसे व्यक्त किया जाय ?

हर भाषा मे अलग अलग कुछ ऐसी अपनी धाराएँ होती है जिनको उस भाषा का बोलने वाला ही समझता है। दण्डी ने काव्यादर्श मे अलकारो का विवेचन करते हुए एक स्थान पर उदाहरण रूप कहा है—

इक्षुक्षीरगुडादीना माधुर्यस्यान्तर महत्।
तथापि न पदाख्यातु सरस्वत्याऽपि शक्यते ॥

अर्थात् गन्ना, दूध, गुड आदि की मिठास मे परस्पर बडा फर्क है पर उसको सरस्वती भी शब्दो द्वारा नही व्यक्त कर सकती। ठीक ऐसी ही बात इन विभिन्न विचार-धाराओ की है, कौन चित्रकार उसे तूलिका पर उतारे, कौन कवि उसे शब्दो मे लावे और कौन तानसेन उसे सरगम पर चढावे ?

भाषा की ये धाराए सगठित समाज मे ही उठती है और जब किसी विशेष धारा से समाज कुछ कठिनाई का अनुभव करता है तब उसमे अनायास और अनजान मे परिवर्तन हो जाता है। प्रयास की बचत के लिए जहाँ एक ओर रूप-विभिन्नता के विरुद्ध और एक रूपता की ओर मनुष्य निरन्तर बहता रहता है वहाँ साथ ही साथ विभ्रम को

दूर रखने और स्पष्टता को कायम रखने के लिए रूपो की अनेकता भी चली चलती है। सृष्टि की प्रत्यक्ष एकता और अनेकता के समान इन धाराओ की भी एकता और अनेकता साथ साथ रहती है। इस सबध मे जो बात ध्वनि-विकास मे देखी गई वही पद-विकास मे भी झलकती है।

इक्कीसवाँ अध्याय

पद-व्याख्या

वैयाकरणो ने पदो के भेद बताए है। ग्रीक व्याकरणो मे इस प्रकार के दस पद बताए गए है किन्तु अधिकाश मे यह विभाजन केवल व्याकरणो की ही चीज है। इसी प्रकार अन्य प्राचीन भाषाओ के वैयाकरणो ने पदो का विभाग किया है। इन सब मे सस्कृत वैयाकरणो द्वारा की गई पद-व्याख्या सब मे अधिक युक्तिसगत मालूम पडती है।

पदो म कुछ अव्यय होते है और बाकी अन्य। अव्यय भी कई प्रकार के होते है—विस्मयादिबोधक, समुच्चयादिबोधक, उपसर्ग, परसर्ग आदि।

विस्मयादिबोधक अव्यय अन्य पदो से भिन्न होते है उनका वाक्य मे कोई सबध नही होता, और ये अलग ही मनोराग का बोध कराते है। *धिक्, हा, आ, छि', वत्*—आदि विशेष विशेष मनोरागो की ही अभिव्यक्ति करते है। कभी कभी इन अव्ययो मे ऐसी ध्वनियाँ होती है जो उस भाषा के अन्य पदो मे नही मिलती, जैसे किसी करुण दृश्य को देखकर सहसा हम लोगो के मुँह से च च च् की ध्वनि निकलती है। किसी को डाटते समय भी हम विशेष ध्वनि करते है। इन सब का वाक्य की अन्य ध्वनियो मे कोई सबध नही होता, यह स्पष्ट है।

समुच्चयादिबोधक (*और, पर, बल्कि आदि*) **परसर्ग** (*को मे, का, से पर आदि*), **उपसर्ग** (*प्र, परा* आदि) विशेषकर अर्थतत्वो का सबध ही बताते है, किसी अलग अर्थ का बोध नही कराते। केवल उपसर्ग ही धातु के अर्थ मे कुछ विकृति उत्पन्न कर देता है और उस दशा मे वह धातु क अनुसार ही विकार प्राप्त करता है। अँगरेजी का पद आर्टिकल् भी अब अव्यय है यद्यपि वह विशेषण से निकला है। **क्रिया विशेषण**

अव्यय है पर व विशेषण से ही निकले है, विशेषण की बात इन पर लागू होती है सर्वनाम शब्द यद्यपि विकारी है तथापि ये केवल संबंधतत्त्व का बोध कराते है, किसी अर्थतत्त्व का नहीं—यह, वह, मैं, तू, कौन कोई, जो आदि ऐसे ही शब्द है। अत मे विचारार्थ बचते है—सज्ञा, विशेषण और क्रिया।

विशेषण और **सज्ञा** मे विभेद की जड बहुत नाजुक है। प्राचीन आर्यभाषा मे दोनो का विकास साथ साथ पाया जाता है और अधिकाश मे उनका समान रूप मिलता है। वैदिकभाषा मे सुर-विभिन्नता से ही मालूम होता है कि अमुक शब्द सज्ञा है या विशेषण। आधुनिक भाषाओ मे भी सज्ञा के स्थान पर केवल विशेषण ही आ जाता है, जैसे *आम मीठे भी होते है और खट्टे भी, मीठे मीठे ही है और खट्टे खट्टे* अथवा *अच्छे लडके आए और बुरे भी, अच्छों को मिठाई मिली और बुरों को डाँट फटकार।* इस प्रकार विवेचना करने पर अत मे सज्ञा और क्रिया दो ही मुख्य भेद स्थिर से दिखाई देते है। क्या इनमे कोई मौलिक भेद है?

कुछ भाषाओ मे **सज्ञा** और **क्रिया** मे मौलिक भेद रहा है, आर्य-भाषाएँ इनमे प्रमुख है। आर्य-भाषाओ की पदरचना मे सज्ञा के लिए प्रत्यय एक प्रकार के (सस्कृत के सुप्) और क्रिया के लिए दूसरे (सस्कृत के तिङ्)होते है। पर सामी भाषाओ मे प्रत्ययो के विषय मे इस प्रकार का कोई निश्चयात्मक भेद होने का कोई प्रमाण नही है। उदाहरणार्थ अरबी मे ऊन प्रत्यय पुल्लिग बहुवचन बनाता है और क्रिया के पुल्लिग मध्यमपुरुष और अन्यपुरुष का अपूर्णकाल भी। फीनी-उग्री भाषाओ की सज्ञा और क्रिया की रचना मे इतनी समानता है कि हम यह कह सकते है कि इन दोनो को अलग अलग परख लेना असभव है। उदाहरण के लिए बोगुली मे *मिनी* (वह जाता है), *अलि* (वह मारता है) शब्द क्रिया है और पुरि (लेना) उरि (पकडना) सज्ञाए—इन सब मे एक ही प्रत्यय इ जुडा है। सुदूर-पूर्व की भाषाओ मे सज्ञा और क्रिया की भेदहीनता ही मौलिक अश है। चीनी भाषाओ मे एक ही शब्द वाक्य मे

अपने स्थान के अनुसार सज्ञा या क्रिया समझा जाता है। उदाहरण के लिए *लश्रो लश्रो, येश्रो येश्रो* (वृद्धो की और वृद्धोचित व्यवहार करना और बच्चो की ओर बालोचित) इस वाक्य में दोनो पदो मे एक सज्ञा है और एक क्रिया। चीनी वैयाकरण अपने अर्थतत्त्व वाले शब्दो मे भी क्रिया-पदो को जीवित और सज्ञा तथा विशेषण को मृत मानते है और एक ही जीवित पद केवल सुरभेद से मृत हो जाता है। अगरेजी मे भी बलाघात के भेद से शब्द सज्ञा या क्रिया समझा जाता है। पर उसमे सज्ञा और क्रिया का भेद विशिष्ट रहता है। इस प्रकार चीनी मे सर्वत्र और अगरेजी मे कुछ शब्दो के वाक्य मे व्यवहार से ही यह पता चल सकता है कि अमुक शब्द सज्ञा है या क्रिया।

भाषाओ मे क्रिया और सज्ञा का स्पष्ट भेद न भी हो तो भी क्रियात्मक (व्यापारात्मक) वाक्य और सज्ञात्मक वाक्य का भेद स्पष्ट रहता है। व्यापारात्मक वाक्य मे व्यापार पर ही जोर रहता है। ऐसा वाक्य काल, अवधि, कर्तृसबद्ध अथवा कर्म-सबद्ध व्यापार का ही निर्देश करता है, उदाहरणार्थ *खाइए, गाना सुनो, चल गए, बस हो गया* आदि। सज्ञात्मक वाक्य मे सज्ञा को ही मुख्य मान कर क्रिया उसके साथ विशेषण के रूप मे रहती है, जैसे *यह मकान नया है, दौडता हुआ घोडा,* पुस्तक *पाठक हो जाइए* आदि।

सस्कृत मे महाभारत के प्रणयन के समय से ही तिङन्त पदो के प्रयोग के स्थान पर शतृ, शानच्, क्त, क्तवतु आदि प्रत्ययो मे अन होने वाले पदो को अधिक काम मे लाने की प्रथा चल पडी थी। इसी से समझना चाहिए कि व्यापारात्मक वाक्य का स्थान सज्ञात्मक वाक्य लेने लगा था। क्रिया-पदो के ऋग्वेद मे के प्रयोग की यदि भगवद्गीता आदि उत्तरकालीन ग्रन्थो से तुलना की जाय तो पता चलता है कि उत्तरोत्तर ह्रास होता गया है और आज आधुनिक आर्य-भाषाओ की क्रियाएँ तो अधिकाश मे पुराने शतृ और क्त प्रत्ययो मे अत होने वाले पदो के विकसित रूप है। *तुम कहाँ रहे [क यूयमुषिता*], *तू कहाँ रहा* (क्व त्वमुषित), *तू कहाँ रही (क त्वमुषिता)* आदि उदाहरणो मे

क्रिया सज्ञा (या सर्वनाम) के अनुसार विशेषण सी बनकर अपना रूप बदलती है पर तिङन्त रूपो मे ऐसा नही होता था। इन उदाहरणो से व्यापारात्मक वाक्य का स्थान सज्ञात्मक वाक्य ग्रहण कर रहा था—इतना स्पष्ट है।

इसी प्रकार से केरटी भाषा मे तुमत रूपो ने तिङन्त रूपो को दूर भगा दिया। वैदिक सस्कृत मे तुमन्त शब्द मे उसी प्रकार विभक्तियाँ लगती थी, जिस प्रकार सज्ञाओ मे।

तुमत और क्तादि प्रत्ययो मे अन्त होने वाले पदो को अगत सज्ञा और अगत क्रिया समझना चाहिए। इनमे प्रत्यय तो सज्ञा की तरह लगते है और भाव क्रिया का व्यक्त होता है, जैसे—

खाना 'खाने मे' सकोच न करना चाहिए।

खाना 'खाते समय' कोई कोई मौन रहते है।

खाना 'खाए हुआ' आदमी सतोष का अनुभव करता है।

इन वाक्यो मे खाने, खाते, खाए पदो के सज्ञा के समान रूप है पर इनके द्वारा जतलाया हुआ भाव क्रिया का है।

यदि अर्थ की दृष्टि से सज्ञाओ का विश्लेषण किया जाय तो पता चलता है कि मूल रूप मे उनमे क्रिया छिपी हुई है। *भोजन, रोदन, हास, भजन, भक्ति पूजा, वध, मोक्ष* आदि शब्दो मे नही, बल्कि अन्यो मे भी, जैसे—

साधन—ऐसी वस्तु जिससे कुछ सिद्ध किया जाय (करण)।

नदन—खुश करने वाला (पुत्र)।

घाव—(घात) चोट लगा हुआ स्थान।

सर्प—रेंगने वाला कीडा।

दत रदन—फाडने वाली चीज (दाँत)।

गुणवाचक (*उजलापन, रग आदि*) सज्ञाए क्रियापदो से बनी हुई नही मालूम होती, परन्तु यदि इनकी भी चीरफाड की जाय तो पता लगेगा कि ये भी अपने भाई बिरादरा (अन्य सज्ञाओ) से भिन्न नही। *उजलापन* बना है *उजला* (*उज्ज्वल*) विशेषण से जिसके सस्कृत के रूप



उज्ज्वल क्रिया है जिसका अर्थ है 'खूब चमकना' और इसी प्रकार रग मे रञ् धातु है। सस्कृत के वैयाकरणो ने इस प्रकार का विश्लेषण करके धातुकोष तय्यार किया है और उसी पर सस्कृत के शब्द-समूह की इमारत खडी की है। और इसी के आधार पर मैक्समलर ने भाषा के उद्गम का विचार करते हुए यह सकेत किया था कि आदिम मनुष्य धातुएँ बोलता था। धातुओ तक सब सज्ञाओ को पहुचाने का प्रयत्न तब उपहासास्पद हो जाता है जब व्यक्तियो के यदृच्छा नामो को अथवा विदेशी सज्ञाओ को भी अपनी धातुओ पर अवलबित करने की कोशिश की जाती है—उणादिसूत्रो मे कई जगह ऐसी ही भल दिखाई पडती है। पर सभवत यह बात सिद्धातरूप से ठीक है कि हमारे अधिकाश शब्द किन्ही धातुओ पर आश्रित है और ये धातुएँ ही हमारे अर्थतत्त्वो की मूलरूप है। हमारी शब्दावली दिमाग मे बिखरी-बिखरी ऊट-पटाग नही पडी रहती—वह सजाई हुई, विभागो मे कायदे से रक्खी हुई है जब जरूरत पडी तब उस स्थान से निकल कर प्रयोग मे आ गई और काम निबट जाने पर फिर अपने स्थान पर जाकर जम गई।

इस प्रकार हमने देखा कि हम आर्यभाषा-भाषियो को जो सज्ञा और क्रिया मे मौलिक भेद मौजूद मालूम होता है, वह वस्तुत मौलिक नही। क्रिया सज्ञा से मिली हुई है और सज्ञा विशेषण से। यदि कोई मौलिक भेद तो नही, पर अपेक्षाकृत अधिक स्थिर भेद किसी भाषा मे हो सकता है तो वह है सबधतत्त्व और अर्थतत्त्व का भेद। नही तो शब्द एक है।

बाईसवाँ अध्याय

पद-विकास का कारण

पद-विकास पर विचार करते हुए ऊपर हम देख चुके है कि पदो के व्यवहार मे निरतर दो प्रवृत्तियाँ साथ साथ काम करती रहती है—एक तो पदो की एकरूपता लाने की और दूसरी अनेकरूपता कायम रखने की।

पुरानी से पुरानी भाषाओ के रूपो का विश्लेषण करने से मालूम होता है कि ऐसी कोई भाषा नही जिसमे व्याकरण के नियमो के अपवाद न मिले। इससे यही नतीजा निकलता है कि पदो की एकरूपता और अनेकरूपता की ये प्रवृत्तियाँ भाषा के पुरातन अग है। जैसे ध्वनि-विकास के कारण भाषा मे अन्तर्हित है वैसे ही पदविकास के भी। अतर केवल इतना है कि ध्वनि-विकास सर्वसाधारण और सपूर्ण जनसमुदाय पर होता है, पदविकास मे अपवाद रह जाते है। पद-विकास को पदो की पूरी अपेक्षा रहती है, ध्वनि-विकास को उतनी नही। ध्वनि-विकास शब्दो की परतत्रता मे बहुधा नही रहती।

प्रयास की बचत के लिए पदो के रूपो मे एकता लाने की प्रवृत्ति बराबर काम करती रहती है। सस्कृत मे अकारान्त सज्ञाओ की सख्या बहुत बडी है, इस कारण स्वाभाविक ही था कि सस्कृत बोलने वाले के मस्तिष्क मे अकारान्त सज्ञा के रूप अधिक स्थिरता जमा ले और दूसरे (इकारान्त, उकारान्त, व्यजनात) अपेक्षाकृत कम स्थिर रहे। इसी कारण प्राकृतो मे जहाँ पुत्तस्स (<पुत्रस्य), सव्वस्स (<सर्वस्य) आदि रूप पाए जाते है वहाँ उन्ही के वजन पर *अग्गिस्स* (सस्कृत *अग्ने* के स्थान पर), *वाउस्स* (*वायो* के स्थान पर) और *हिमवन्तस्स* (*हिमवत* के स्थान पर) भी मिलते है। प्रत्यक्ष ही इन रूपो के विकास मे एकरूपता लाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। सस्कृत मे कुछ धातुओ का

ही एक स्थान पर एक रूप (जैसे *गच्छ्*) और दूसरी जगह दूसरा रूप (*गच्छ्* के स्थान पर *गम्*) मिलता है, पर प्राकृतो मे बहुधा इन दोनो की जगह एक ही (सस्कृत *गमिष्यति* के स्थान पर पालि *गच्छिस्सति*) पाया जाता है। इसी प्रकार सस्कृत मे क्र्यादिगण की धातुओ का बाहुल्य ढले मिलते है, जैसे *गृह्णाति-गृह्णन्ति* के लिए *गण्हति गण्हन्ति*। हिन्दी मे भी बोलियो मे इस एकरूपता की प्रवृत्ति के बहुत से उदाहरण दिखाई देते है, जैसे *पडना* मे प्रेरणार्थक *पडवाना*, *डालना* का अकर्मक *डलना*, *करना* का भूतकाल मे *करा* (*किए* के स्थान पर) इत्यादि, अथवा *राजा* का विकारी रूप *राजे*।

एकरूपता लाने की यह प्रवृत्ति *सादृश्य-मूलक* है, दिमाग मे बहुत से सदृश रूप जमे हुए है, दो चार असदृश रूप कायम रखने से दिमाग पर बोझ पडता है, स्वाभाविक ही है कि यह बोझ हल्का किया जाय। इसप्रकार पदविकास की भी तह मे प्रयत्नलाघव ही कारण है। नपुंसकलिग की सज्ञाओ का रूप अपभ्रश काल मे पुंलिग के अनुरूप मिलता है—पुत्तु, नरु, देउ आदि के वजन पर फलु भी। हिन्दी मे सबो-धन बहुवचन के लिए अत मे होने वाला रूप (*पूतो*, *लडकियो*, *बहुओ*, *राजाओ* आदि (और विकारी विभक्ति के लिए—ों वाला (*पूतों* *लडकियों*, *बहुओं* *राजाओं* आदि) स्टैंडर्ड है। पर इधर सबोधन-रूप के स्थान पर विकारी विभक्ति का रूप बहुधा (प० जवाहरलाल नेहरू की स्पीचो मे विशेष रूप से) सुनाई पडता है और सभावना यही जान पडती है कि सबोधनवाला रूप गायब हो जायगा। अपेक्षा की दृष्टि से भाषा मे उसका प्रयोग कम था ही।

यह सादृश्य जसे गणित मे काम करता है प्राय उसी प्रकार पद-विकास मे। गणित मे हम देखते है कि—

	४ का जो	भाग १ है	वही
	८ का	भाग २ है।	
उसी प्रकार जैसे	पुत्त	पुत्तेण	
	अन्त	अन्तेण	

वैसे ही

गच्छन्त — *गच्छन्तेए*

हिमवन्त — *हिमवन्तेए*

यहाँ *गच्छन्तेए* की (*गच्छता* के स्थान पर) और *हिमवन्तए* की (*हिमवता* के स्थान पर) सिद्धि हुई है। विभिन्नता का लोप और एकरूपता का आगम इसी आदर्श पर भाषा में होता रहता है, गणित और भाषा-विकास मे अन्तर इतना ही है कि गणित का नियम सर्वत्र व्यापक है। पद-विकास का नही। पद-विकास मे भाषा की स्पष्टता कायम रखने के लिए सर्वत्र एकरूपता लाई जा सकती। किस रूप मे अपेक्षाकृत दिमाग मे अधिक स्थिरता है और किस मे कम, यह बात हम परिणाम देखकर ही जान पाते है, गणित मे वह वस्तु पूर्वसिद्ध है। भाषा मे जहाँ एकरूपता की प्रवृत्ति काम करती है वहाँ साथ ही साथ विभ्रम दूर रखने के लिए भिन्नरूपता भी चलती रहती है। इसलिए कैसे निश्चयपूर्वक कहा जा सके कि अमुक रूप रहेगा या बदल जायगा? जहाँ दिमाग का बोझा हल्का करने के लिए एकरूपता लाना जरूरी समझा जाता है वहाँ साथ ही साथ बहुत से विभिन्न (पद-सबधी) अर्थो के लिए यदि एक ही रूप हुआ तो भ्रान्ति उत्पन्न होगी और दिमाग को थकान लगेगी। यही कारण है कि समान एकरूपता नही आने पाती।

सादृश्य द्वारा एकरूपता पहले पहल बच्चो की भाषा मे सुनाई पडती है। सुबोध बालक *कर नही पाता, खा नही पाता, चल नही पाता,* आदि के वजन पर आरम्भ मे *पा नही पाता* बोलता है, और उसका बाप चचा मुस्कुराकर इस प्रयोग को *पा नही सकते* कह कर सुधार देता है। इसी प्रकार *करा* का *किया, पडवाना* का *डालना, डलना* का *पडना* आदि रूप भी बच्चो से आरभ होकर शुद्ध किये गये होगे। पर इन पिछले प्रयोगो मे स्थिरता की मात्रा इतनी कम थी कि वे न बच सके, और उधर *पा सकना* प्रयोग मे स्थिरता अधिक थी कि शुद्धीकरण काम कर गया और *पा नही पाता* न टिक सका।

सादृश्य जिन रूपो को नही मिटा पाता उन्ही को वैयाकरण अपवाद,

अनियमित या सबल का नाम देते है और जो इस सादृश्य का शिकार बन जाते है उन्हे वे निर्बल या नियमित कहते है। कारण यही है कि सबलता ही अस्तित्व कायम रखने मे सहायक होती है। यह सबलता प्राय प्रयोग की बहुलता से आती है, यदि कोई बार बार प्रयोग मे आता है तो सभावना है कि वह टिक जाय, चाहे अपने साथ के रूपो से वह भिन्न ही क्यो न हो। आर्य भाषाओ की सहायक क्रिया √*अस*, √*भ्रा-च्छि* (होना) के रूप इसके उदाहरण है। अन्य क्रियाओ की अपेक्षा यह इतनी ज्यादा काम मे आती है कि जहाँ और क्रियाएँ रूप बदल कर नियम के अन्दर आ गई यह (ध्वनि-विकास का पालन करती हुई भी) अपना रूप पदविकास के प्रतिकूल वातावरण मे भी कायम रख सकी (*है—था*) इसी प्रकार जाने का अर्थ बताने वाली √*जा* का भूतकाल का रूप *गया* स्थिर है, यद्यपि अन्य क्रियाओ मे वर्तमान और भूत के रूपो मे समानता है (*खाना-खाया, पीना-पिया* आदि)।

सादृश्य के खिलवाड मे कौन रूप रहा और कौन गायब हुआ इस बात का विचार हर एक रूप के बारे मे अलग अलग करना होगा और कुछ ही रूपो का विचार करके इतना स्पष्ट हो जायगा कि इस खिलवाड की माया विचित्र है। सादृश्य के प्रत्येक उदाहरण को युक्तिपूर्वक सिद्ध करने के लिए बडा परिश्रम आवश्यक है और ज़रा सी असावधानी से भाषाविज्ञान के भ्रमजाल मे पड जाने की सभावना है। कभी अपवाद-स्वरूप सबल रूप नियम मे आए हुए निर्बल रूपो पर ऐसा प्रभाव डाल देते है कि निर्बल रूप ही सबलो का अनुकरण कर अपवाद से हो जाते है।

सादृश्य से एकरूपता आ जाने पर स्पष्टता के लिए नए रूपो की सृष्टि होती है, अथवा पद-भडार मे मौजूद अन्य रूपो का प्रयोग विस्तार पा जाता है। सस्कृत मे अकारान्त सज्ञाओ के प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन के रूप (*पुत्रा*) और (-*न्* *पुत्रान्*) थे। प्राकृतो मे ध्वनि विकास के कारण पदो के अतिम व्यजन का लोप हुआ तो प्रथमा और द्वितीया के रूपो (प्र० *पुत्ता* द्वि०**पुत्ता*) मे एकरूपता आई होगी जिसको

मेटने के लिए ही *द्वितीया* के *पुत्ता* रूप को हटाकर पुत्तें लाया गया होगा। अवधी में कर्ता कारक में एकवचन और बहुवचन में एकरूपता आ गई थी (*चोर-चोर, लरिका-लरिका, गइया-गइया*) जो शायद दुखदाई मालूम हुई। इसी को मिटाने के लिए अन्य कारकों में प्रयोग में आने वाला -न रूप (*लरिकन, गइयन*) कर्ता में भी काम में आने लगा (*लरिकन पढन जैहैं, गइयन चरै गई।*) इस-न रूप ने जहाँ एक ओर भिन्न-रूपता स्थापित की वहाँ साथ ही साथ कर्ता और अन्य कारकों के प्रयोग में समानता उपस्थित कर दी। इसी तरह अन्य उदाहरणों से जान पड़ता है कि समानता और विभिन्नता भाषा के साथ आँख-मिचौनी का खेल खेला करती हैं।

विभक्ति आदि के रूपों में एकरूपता आ जाने से जिन नए रूपों की सृष्टि होती है उनमें सवधतत्त्वों का बोध कराने वाले परसर्ग आदि विशेष रूप से उल्लेख के योग्य हैं। में *(मध्य)* का *(कृत)* *स्म* आदि अथवा अँगरेजी के *ए,ऐन*, (लि a, an, ly<like) आदि ,पहले स्वतन्त्र शब्द थे जो सहायक शब्दों के रूप में पहले-पहल व्यवहार में आए और बाद में सहायकत्व का गौण अस्तित्व स्वीकार करने के कारण अपनी स्वतन्त्रता खो बैठे और विकलांग भी हो गए। राजनीतिक परतन्त्रता की तरह भाषा के शब्दों की परतन्त्रता भी स्वतन्त्रता खो बैठने वालों के लिए घातक है।

तेईसवाँ अध्याय

अर्थ-विचार

बोलना सीखने पर बच्चा सर्वप्रथम कुछ निरर्थक *गू गू*, *बा बा* आदि ध्वनियाँ करता है, इसके बाद धीरे-धीरे वह, ध्वनियो और उनके अर्थ का सबध जोडने की शक्ति प्राप्त करता है। सार्थक शब्दो के उच्चारण करने के पूर्व वह उन परिचित शब्दो का अर्थ समझने लगता है। बच्चे से पूछो कि *माँ* कौन है, *गाय* कौन, *बाबू जी* कौन, तो इनके उपस्थित रहने पर वह इनकी ओर उँगली उठा देता है। इसके थोडे ही दिनो बाद वह शब्दो का उच्चारण भी करने लगता है। इस प्रकार बच्चे के दिमाग मे अर्थ का प्रवेश शीघ्र ही हो जाता है। कहते है कि बच्चा माँ को कुछ ही हफ्तो मे पहचानने लगता है। यह ससर्ग से ही होता है।

बच्चे के दिमाग मे ध्वनियो के ससर्ग से अर्थ आता है और काफी जल्दी। उसके अन्त करण मे ध्वनियाँ शीघ्र जम जाती है, और उसके थोडे ही दिन बाद पदरचना के लिए सबधतत्त्व भी। पर अर्थ शीघ्र आने पर भी जमता नही है क्योकि अनुभव के अनुसार शब्द-विशेष के अर्थ मे परिवर्तन होता रहता है। *गाय* का अर्थ बच्चे के दिमाग मे पहले पहल घर या पडोस की गायो को देखकर आता है और जैसे जैसे वह विभिन्न रगो और कदो की गाएँ देखता है उसके गाय के सामान्य अर्थ मे इस प्रकार परिवर्तन होता जाता है कि वह अपने अनुभव की सभी गायो को उसमे समाविष्ट कर सके। इसी तरह देहात का बच्चा पहले सेठे की कलम को ही कलम समझता है, बाद को लोहे की निब वाले होल्डर और फाउटेन-पेन को भी कलम के अन्तर्गत कर लेता है। इसी तरह प्रत्येक शब्द का अर्थ हमारे अनुभव के अनुरूप विस्तृत होता रहता

है। इसीलिए कहा गया है कि अर्थ हमारे दिमाग मे पूरे तौर से कभी सीमित नही हो पाता—ध्वनियाँ और पदो के सबधतत्व बचपन मे ही जम जाते है। किसी विशिष्ट भाषा के बोलने वाले की ध्वनियो और सबधतत्वो को अपने स्थान से हटाने मे बडी कठिनाई होती है। उत्तर प्रदेश के पूरबी जिले मे रहने वाले छात्रो को सस्कृत पढाते समय *ब* और *व* का अथवा *ज य* और *श स* का भेद सिखाने मे कठिनाई का मूल कारण यह है कि उनकी बोली मे *व, य, श* है ही नही। इसलिए उनको इनके उच्चारण मे विशेष कठिनाई होती है। हम हिन्दुस्तानी लोग *थ* और द जानते है, अगरेजी की *थ* और द (θ और δ) नही और इसीलिए इनके उच्चारण के अभ्यास के अभाव मे अथवा अँगरेजो के सपर्क मे आए बिना हम इन ध्वनियो को नही सीख पाते। सबधतत्व भी जड पकड जाते है और इनको भी विचलित करना कठिन होता है। स्टैंडर्ड हिंदी के *ने* का प्रयोग अवधी और भोजपुरी वालो के लिए टेढी खीर है। परन्तु अर्थ के बारे मे ऐसी कोई कठिनाई नही होती, वह अनायास ही अपना स्थान करता रहता है।

इस प्रकार अर्थ के अनुभव-जन्य होने के कारण यह सभव है कि एक ही भाषा बोलने वाले किन्ही दो व्यक्तियो के दिमाग मे एक ही शब्द का अर्थ (वैज्ञानिक दृष्टि से) बिलकुल एक न हो, कुछ अतर हो। किसी शब्द के अर्थ की कोई सीमा निर्धारित कर पाना इसी कारण असभव होता है।

एक ही शब्द के विभिन्न अर्थ होते है और उनका निर्धारण *प्रकरण* करता है। जब कोई व्यक्ति किसी वाक्य मे विशेष शब्द का व्यवहार करता है तब वह उसे, अनेक अर्थो के होते हुए भी, केवल एक अर्थ मे लाता है और प्राय श्रोता भी उसे उसी अर्थ मे ग्रहण करता है। रसोई मे बैठा हुआ रसोइया जब कहार से *सैन्धवमानय* कहता था तो कहार नमक ही लाकर देता था *घोडा* नही। और यदि राज-दरबार मे जाने के लिए तय्यार सरदार साईस से *सैन्धवमानय* कहता तो साईस घोडा ही लाता नमक नही। प्रकरण ही इस प्रकार शब्द के अर्थ का निर्णायक है।

एक समय मे एक ही अर्थ उपस्थित रहता है, उस समय अन्य अर्थ गायब रहते है यद्यपि वे अन्त करण मे सुप्तावस्था मे पडे रहते है। हाँ साहित्यिक जहाँ अपनी कला के प्रदर्शन के लिए वक्रोक्ति आदि मे श्लेष का प्रयोग करते है वहाँ दूसरी बात है, पर वह सब कृत्रिम है, भाषा का स्वाभाविक अग नही।

ऊपर कह चुके है कि प्रत्येक व्यक्ति एक ही शब्द को ठीक ठीक उसी अर्थ मे नही लेता जिसमे दूसरा। और जितनी ही एक जनसमुदाय की घनिष्ठता दूसरे से कम होती है उतनी ही अर्थ के अतर के बढने की सभावना रहती है। सस्कृत मे *विहार* शब्द का अर्थ विचरण करना, टहलना, आदि था, पालि मे वही शब्द निवास-स्थान के अर्थ मे बराबर प्रयोग मे आया है, और आज किसी प्रात मे बौद्ध विहारो के कारण ही शायद उसका नाम ही बिहार हो गया है। हिन्दी मे *बाडी, बारी* शब्द प्राय सस्कृत के *वाटिका* शब्द के अर्थ मे आज भी काम मे आता है, पर बगाली मे उसका अर्थ घर हो गया और घर का अर्थ *कमरा*। एक जनसमुदाय का दूसरे जनसमुदाय के प्रति जो सामान्य मनोभाव होता है उसके कारण भी अर्थ मे भेद पड जाता है। सस्कृत मे देव शब्द का जो उत्कर्ष है उसका ठीक उलटा (अपकर्ष) ईरानी के दैव *(दैव)* शब्द मे मिलता है। ऋग्वेद के कुछ पुराने भागो मे *असुर* शब्द देवता-वाचक है और इसी अर्थ मे ईरानी मे भी (अहुर) है, किन्तु बाद की सस्कृत मे यही शब्द राक्षस, दैत्य आदि का द्योतक हो गया और अ को निषेधात्मक मान कर सुर शब्द देवता-वाचक समझा गया। फारसी मे (*सिधु* का रूप) *हिंद* पहले सिन्ध नदी के आस-पास और उसके पूर्व के प्रदेश मे रहने वालो के लिए व्यवहार मे आया और बाद को हम हिन्दुस्तानियो के प्रति उन लोगो की कुत्सित भावनाओ के कारण *चोर, डाकू, गुलाम* आदि के अर्थ मे फारसी के कोषो मे मिलता है। वर्तमान भारत मे *मुसलमान* शब्द का अर्थ हिन्दू दिमाग मे "शात धर्म का अनुयायी" नही है—है "झगडालू, हिंसक और अपवित्र मनुष्य" का, और इसी प्रकार मुसलमान के दिमाग मे *हिन्दू* शब्द का मानी "नापाक, बुतपरस्त,

छुआछूत आदि का शिकार मनुष्य" है। स्वराज-प्राप्ति के बाद इस मनोवृत्ति मे परिवर्तन हो रहा है। अफ्रीका मे अन्य जनसमुदायो की भाँति *काफिर* जाति है पर मुसल्मान की भाषा मे इसी शब्द का अर्थ 'विधर्मी' हो गया और आज वे लोग हिन्दुओ को भी *काफ़िर* कहते है यद्यपि हमारा उन अफ्रीका वालो से स्वप्न मे भी कोई सम्बन्ध नही रहा।

एक भाषा के शब्द जब दूसरी भाषा मे ले लिए जाते है तब उनके अर्थ मे भी सामाजिक वातावरण के अनुसार परिवर्तन दिखाई पडता है। हिन्दी के *गिलास* शब्द का प्रयोग शीशे के अर्थ मे नही होता बल्कि शीशा, पीतल, फूल आदि से बने हुए पात्र-विशेष के अर्थ मे। डा० तारापुरवाला ने गुजराती के व्यवहार मे फारसी शब्द *दरिया* का अर्थ समुद्र और अँगरेज़ी के *वेस्टकोट* का जनाना कपडा (अँगिया) दिया है।

एक ही जनसमुदाय मे दैनिक व्यवहार मे एक शब्द का अर्थ एक आदमी के व्यवहार मे एक और दूसरे के प्रयोग मे दूसरा हो सकता है। माली *कलम* शब्द को एक अर्थ मे और अर्जीनवीस दूसरे अर्थ मे काम मे लाता है, यह दूसरी बात है कि जब वे दोनो संपर्क मे आवे तब जरूरत के हिसाब से उस शब्द का दूसरा अर्थ भी व्यवहार मे लावे। इसी प्रकार माली का *फूल* कसेरा (बर्तन वाले) के *फूल* (धातु) से भिन्न है, डाकखाने का टिकट रेल के *टिकट* से, और कचहरी के *स्टाम्प* से डाकखाने का *स्टाम्प*, अथवा रजिस्टरी के दफ्तर की *रजिस्टरी* डाकखाने की *रजिस्टरी* से। पाठशाला के अध्यापक का *बेंत*, और कुर्सी बुनने वाले का *बेंत*, अथवा शाम को टहलने जाने वाले सज्जन का *बेंत*, एक दूसरे से कितना भिन्न है!

अर्थविज्ञान के प्रमुख मनीषी ब्रील के मत के अनुसार अर्थ का विकास तीन दिशाओ मे होता है—**अर्थविस्तार, अर्थसंकोच** और **अर्थादेश**। अर्थ-विकार या अर्थपरिवर्तन सब का सब इन तीन के अंतर्गत ही मिलता है।

तैल शब्द का अर्थ 'तिल का सार' था किंतु अब यह (*तेल*) शब्द

सरसो, गोला, अलसी, मूँगफली आदि ही के सार के अर्थ का बोध नही कराता, मिट्टी का भी *तेल* होता है और यदि किसी आदमी से बडी मेहनत कराई जाय तब भी हम कहते है कि 'उसका *तेल* निकाल लिया'। *कुशल* उसको कहते थे जो बिना अपने हाथो का चोट पहुचाए *कुश* तोड लावे इसमे चतुराई की जरूरत होती थी और अब *कुशल* का शब्द चतुर-मात्र के लिए हो गया है। यज्ञ कराने वाला पुरोहित जब *काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्* का आदेश देता था तब उसका मतलब था कि केवल कौओ से ही नही, अन्य चिडियो, अथवा कुत्तो आदि से भी उसकी रक्षा करो। *गगा* शब्द बोल-चाल की हिन्दी मे नदी-विशेष का द्योतक न रह कर सब नदियो के अर्थ मे प्रयोग मे आता है। *गोसाई* शब्द अब केवल गौओ के मालिक के अर्थ मे न आकर सभी प्रभुओ का द्योतक है। *पत्र* शब्द पेड के पत्ते का ही सूचक नही, उसका अर्थ चिट्ठी और समाचारपत्र भी है। सस्कृत मे *परश्व* शब्द आने वाले कल के बाद वाले दिन के अर्थ म प्रयोग मे लाया जाता था किन्तु उसका हिन्दी रूप परसो बीते हुए दिन के पूर्व वाले दिन के अर्थ मे भी बराबर आता है और पहाडी बोली मे तथा दक्खिन हैदराबाद मे निकट भूत-काल या भविष्य के किसी भी दिन के अर्थ मे आता है। इसी प्रकार *कल* शब्द आने वाले दिन के अर्थ (*कल्ल* <*कल्य*=*प्रात*) मे आता था पर हिन्दी मे बीते हुए दिन के अर्थ मे भी आता है। *गोष्ठम्* शब्द का अर्थ गाय की रहने की जगह था, पर बाद को किसी भी जानवर के रहने की जगह के लिए यह शब्द काम मे आने लगा और *गोगोष्ठम्* (गाय का निवासस्थान) *अविगोष्ठम्* (भेड का निवासस्थान) शब्द बने। इसी तरह गोयुगम् गाय का बैल की जोडी के अर्थ मे था, फिर जोडी मात्र के अर्थ मे चल पडा और उष्ट्रगोयुगम् (ऊँट की जोडी), *खरगोयुगम्* (गदहे की जोडी) आदि शब्द बन गए। इन उदाहरणो से अर्थ-विस्तार किस प्रकार चलता है यह स्पष्ट हो जाता है।

अर्थसकोच के भी बहुत से उदाहरण है। नेत्र शब्द का अर्थ था चमकने वाला, प्रकाश करने वाला, आगे चलने वाला, ले जाने वाला,

बाद को 'आँख' के अर्थ में वह सीमित हो गया। *रदन* का अर्थ फाड़ने वाला था किन्तु बाद को केवल 'दाँत', *सर्प* का रेंगने वाला प्राणी लेकिन बाद को रेंगनेवाला विशेष प्राणी, *वर* का चुना हुआ या माँगा हुआ कोई भी, बाद को दूल्हा और देवता का दान। *घृत* भी अर्थसंकोच का उदाहरण है। अवधी *चटनी* (चाटने के योग्य कोई खट्टी चीज) खड़ी बोली की *चटनी* की अपेक्षा अर्थसंकोच का उदाहरण है। *मिठाई* शब्द अवधी में गुड़ और हलवाई द्वारा बनाई हुई मिठाई दोनों अर्थों में, पर खड़ी बोली में केवल हलवाई की मिठाई के लिए आता है।

अर्थादेश से मतलब अर्थ में इतना अधिक अंतर होने से है कि मौलिक अर्थ खत्म ही हो जाय और दूसरा अर्थ उसकी जगह आ जाय। *देव* और *असुर* का उदाहरण दिया जा चुका है। *दुहिता* शब्द का अर्थ 'दुहने वाली' बिल्कुल मिट गया और कन्या हो गया। *गुल्म* शब्द का अर्थ संस्कृत में झाड़ी था किन्तु उसी के हिन्दी रूप *गुलुम* को चोट के गोलाकार निशान को कहते हैं। *मौन* अब चुप्पी साधने को बताता है न कि मुनियों के विशुद्ध आचरण को। *माहुर मावुर* अवधी में विष का अर्थ रखता है, शायद इसलिए कि संखिया आदि विष मिठाई में मिलाकर दिए जाते रहे हैं।

अर्थविकास की ये तीन दिशाएँ विभिन्न रूपों में काम करती हैं। अलंकारों का प्रयोग इस प्रकरण में मुख्य है। *मीठी बात, कड़ुई बात* के प्रयोग में *मीठे* और *कड़ुए* का अर्थ अपने स्वाद का नहीं बल्कि उस स्वाद से उत्पन्न हुई प्रसन्नता अप्रसन्नता का हो सकता है। *टेढ़ा आदमी, सीधा आदमी* में शरीर की गठन का कोई उल्लेख नहीं। *ठोस कार्य* में चिर-स्थायित्व का संकेत है न कि खोखलापन के उलटे ठोसपने का। यदि हम अपने शब्दों को विश्लेषण की दृष्टि से देखें तो हमें मालूम होगा कि भाषा में स्वाभाविक रूप से अलंकार बड़ी मात्रा में मौजूद हैं।

हम अपने अनुभूत पदार्थों के नाम बहुधा ऐसे पदार्थों को दे देते हैं जिनमें उन पूर्व परिचित पदार्थों का केवल कोई प्रमुख गुण हो। *बिच्छू*

विशेष जन्तु है जो डंस लेता है तो बड़ा दर्द होता है, पर पहाड़ों पर एक पौधा होता है जिसके स्पर्शमात्र से थोड़ी देर के लिए दर्द पैदा हो जाता है, वह उसको भी *बिच्छू* कहते हैं। बच्चे खेलते समय दोनों टाँगों के बीच कोई लकड़ी लेकर घसीटते चलते हैं और उसे *घोड़ा* कहते हैं। दीवाली के दिनों में *साँप* बिकते हैं जो केवल बारूद की छोटी सी बत्तियाँ ही होने पर भी दियासलाई के लगते ही साँप का आकार धारण कर लेते हैं।

तारापुरवाला के मत के अनुसार वेद की प्राचीन ऋचाओं में उष्ट्र का अर्थ 'भैंसा' और बाद वाली ऋचाओं में 'ऊँट' है। हिन्दी में *भाई* और *भय्या* शब्द अब केवल संस्कृत के भ्रातृ शब्द के अर्थ में सीमित नहीं है, बहुत जगह भय्या लड़के को भी कहते हैं और कभी कभी बोलचाल की हिन्दी में पत्नी पति से कह बैठती है *भाई जरा बच्चे को संभाल लो।* इस प्रकरण में भाई का अर्थ केवल सम्बोधन करना है और वह हे, अरे आदि का समानार्थक है। *चतुर्वेदी, द्विवेदी, अग्निहोत्री, वाजपेयी, श्रीवास्तव, सक्सेना, माथुर, अग्रवाल* आदि नामों की सार्थकता अब केवल इतनी ही है कि नामों से अपने को अलंकृत करने वाले भारतीय उन महानुभावों की संतान हैं जो *चतुर्वेदी* आदि थे। *महाराज* का अर्थ होस्टलों में केवल रसोइया है, न कि *महाराज*। *सूरदास, रयदास* आदि में केवल शरीर की अंगहीनता या जाति की नीचता को सुन्दर ढंग से जतलाया जाता है। शरीफे की आँख, मूँग की नाक, नारियल की जटाएँ और आँखें आदि प्रयोग भी रोचक हैं। सारांश यह कि शब्दों का व्यवहार मनुष्य की विचारधारा के अनुसार विस्तृत, संकुचित या परिवर्तित होता रहता है।

अर्थ-परिवर्तन की तीनों दिशाओं का मूल कारण विचार-विभिन्नता है जो व्यक्ति या समुदाय के संसर्ग की मात्रा से उत्पन्न होती है। इसी कारण अर्थ-परिवर्तन तर्कशास्त्र का विषय न होकर मनोविज्ञान के अन्तर्गत है, और मनोविज्ञान समाज-विज्ञान की एक शाखा है।

हिन्दी में चिट्ठी और किताब के पन्ने को पत्र कहते हैं। इसका कारण शायद यही है कि पूर्वकाल में कागज के अभाव में चिट्ठियाँ और

पुस्तक पत्रों (पत्त भूज-पत्र आदि) पर ही लिखी जाती थी। उस ससर्ग से उन पर लिखी हुई चीज ही पत्र कहलाने लगी यद्यपि अब जिस सामग्री पर वह लिखी जाती है उसका पत्ते से कोई सम्बन्ध नही। पालि में *पण्णाकार* शब्द उपहार के अर्थ मे आता है। कारण शायद यही है कि उपहार हरे हरे पत्तो मे ढक कर भेजा जाता होगा जिस प्रकार कभी बडे दिन पर जीहुजूर, साहब लोगो को इस देश मे डाली लगाया करते थे।

अशुभ-सूचक बाते बचा बचा कर गोलमोल शब्दो मे प्रकट की जाती है। वैधव्य को *चूडी फूटना* कहते है मर जाने को *स्वर्गवास होना* या *पञ्चत्व को प्राप्त होना* कहा जाता है। गमी मे जो बाल मुँडाने होते है उन्हे *बाल बनवाना* कहते है और साधारण को *हजामत*। उर्दू बोलने वाले सभ्य समाज मे **वह बीमार है** यह न कहकर *उनके दुश्मनों की तबियत नासाज है* कहा जाता है क्योकि यह कहा भी नही जा सकता कि बीमारी ऐसी अशुभ चीज उनके पास फटकी। *लाश* को *मिट्टी*, दैनिक क्रिया-विशेष को *पाखाना*, *दिशा*, *जगल* अथवा *इगलैंड* आदि *साँप* को *कीडा*, *रस्सी* इत्यादि उक्तियो मे भी अशुभ, लज्जा-जनक या घृणास्पद बातो को गोल-मोल शब्दो द्वारा प्रकट करने की मनोवृत्ति है। इस विषय मे भाषा पर स्त्रियो का विशेष प्रभाव पडता है, उनके मुँह से अशुभ और असभ्य बात बहुधा नही निकलती। लज्जाहीन भारतीय ललना ही नही, विदेशी ललना भी अपने पति का नाम नही लेती, *लल्ला के लाला*, *बच्चो के बाबू* *पडित जी* आदि शब्दो से अथवा यह आदि सर्वनामो से ही उनका उल्लेख करती है। *गर्भिणी* को प्रत्यक्ष ऐसा न कहकर *इसका पाँव भारी* ऐसा कहा जाता है।

शिष्टाचार मे भी सीधे शब्द नही बोले जाते। अन्धे को अन्धा न कह कर *सूरदास* कहो तभी ठीक होगा और चमार को *रयदास*, तथा दर्जी को *खलीफा*। मेहतर-शब्द ही शिष्टाचार का है पर *जमादार* कहना ज्यादा ठीक समझा जाता है। मुसिफ को जब *जज साहब* कहा जाता है तब वह गद्‌गद्‌ हो जाता है।

बहुधा देखा गया है कि प्राचीन भाषाओं के तत्सम शब्दों में अधिक आदर और गौरव समझा जाता है और अपेक्षा की दृष्टि से तद्भव शब्दों में कम। गर्भिणी (मानुषी) *गाभिन* (गाय आदि), *ब्राह्मण* (शिक्षित) *बाह्मन* (बे पढ़ा-लिखा), *स्तन* (स्त्री के) *थन* (गाय के), *राजा राव*, *राजपुत्र राउत*, *कुक्षि कोख* आदि द्वन्द्वों में भेद स्पष्ट है।

रुपये का लेन-देन करने वाले अर्थात् अमीर लोग अच्छे और सज्जन समझे जाते हैं। हिन्दी के *महाजन सेठ* (श्रेष्ठ, श्रेष्ठी), *साह* (साधु) आदि शब्द इसी परिणाम पर पहुंचाते हैं।

देशवाचक और कालवाचक शब्द बहुधा समानार्थक होते हैं। संस्कृत का *अ वन्* शब्द 'समय' और 'फासला' दोनों का बोध कराता है। अरबी का *अर्सा* शब्द फासले का द्योतक था पर अब उर्दू में समय के फासले को बताता है, देश के फासले को नहीं। हिन्दी बोलियों के *वार*, *बेर* (<*बेला*), *दाँई* (<*दामन्*) शब्द भी देश और काल की अभिन्नता बताते हैं।

शक्ति और दूसरों को हैरान परेशान करना इन दोनों बातों का साहचर्य-सा है। *ओजस्वी* और *प्रतापी* शब्द उदाहरण हैं। दूसरी ओर स्वभाव की सिधाई, मूर्खता और कमजोरी साथ साथ चलती दिखाई देती है। *ऋजुक अस्या पति* इस वाक्य में उस स्त्री के पति की सिधाई का ही अभिप्राय नहीं है वह इतना मूर्ख है कि अपनी पत्नी की धूर्तता नहीं समझ पाता, इस बात का भी संकेत है। हिन्दी के *सूधा*, *सीधा* शब्दों में भी यही संकेत है। अँग्रेजी का *सिम्पल* (simple) शब्द भी इसी प्रकार सिधाई और मूर्खता का द्योतक है। कोमलता और सज्जनता भी साथ-साथ चलती है और स्वभाव की दुष्टता और टेढ़ापन। *बन्ना टेढ़ा आदमी* है और *तिर्यग्योनि* उदाहरण स्पष्ट है।

मनुष्य को कभी-कभी सीधी बात कहने में यहाँ तक असंतोष होता है कि वह ठीक उल्टी बात कहकर अपना अभिप्राय प्रकट करता है। *आप बडे अक्लमन्द हैं आप बड़े विद्वान् हैं* आदि प्रयोगों में अक्ल और विद्वत्ता के अभाव की ही सूचना मिलती है। बच्चे को प्यार में जब हम

शैतान, बदमाश, दुष्ट आदि शब्दों से संबोधित करते हैं तब उसके नटखटपने से खुश होकर ही। मित्रों ने आपस में एक दूसरे को *गदहा, सुअर, बदमाश* आदि शब्दों से संबोधन करने की प्रथा दिखाई पडती है जिसके मूल में है स्नेहातिशय न कि गाली-गलौज।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि किसी शब्द का अर्थ पूरी तौर से निश्चित नही है, उसका वास्तविक अर्थ प्रकरण से और वक्ता की मुखाकृति आदि के देखने से ही जान पडता है। संस्कृत में विष भुङ्क्ष्व का उदाहरण बहुधा दिया जाता है। यदि प्रकरण से इसको अलग करें तो अर्थ का अनर्थ हो जाय। यदि कोई शब्द किसी एक ही प्रकरण में सीमित हो जाय तो अर्थसंकोच हो जाता है। सर्प, रुदन आदि शब्दों का इसी प्रकार अर्थसंकोच हुआ होगा। फारसी का *व* शब्द और संस्कृत का *गन्ध* दोनों अब दुर्गन्ध के अर्थ में आते हैं यद्यपि इनका वास्तविक अर्थ गंध-मात्र था और उन भाषाओं में समान रूप से दुर्गन्ध और सुगंध के लिए आता है। इसी प्रकार यदि एक ही शब्द किसी एक प्रकरण में सीमित न रहकर अन्य प्रकरणों में आने लगा तो अर्थविस्तार हो जाता है। गंगा शब्द का व्यवहार केवल भागीरथी के लिए न करके अन्य नदियों के लिए करने से ही उसका अर्थ विस्तृत हुआ है। *देवदत्त बड़ा रुपये वाला है* इस वाक्य में *रुपये* का अर्थ केवल चांदी के टुकड़ों का नहीं बल्कि कागज के नोटों, घर, जायदाद, गल्ला, पशु आदि का भी है। इसी तरह यदि कोई शब्द एक प्रकरण से बिल्कुल खतम होकर दूसरे प्रकरण में आने लगे तो अर्थादेश होता है। अवधी का डाड दंड शब्द जुर्माना, सजा, हर्जाना आदि के अर्थ में आता है, डंडे के अर्थ में नहीं, यद्यपि है वह डंडे का ही रूपान्तर। सारांश यह है कि अर्थ-संकोच, अर्थ-विस्तार और अर्थादेश की दिशाओं में ही चलकर अर्थ का विकास होता है। दो शब्दों में से एक का एक अर्थ में और दूसरे का दूसरे अर्थ में [*डांट डंडा-डॉडा, कर्म श्रौत स्मार्त्त* आदि और *कार्य साधारण पत्ता और पान* (सं० पर्ण), *पत्ती पाती* (सं० पत्री-), *पत्ता* (पत्र)] होना,

अथवा किसी शब्द के अर्थ का अनर्थ हो जाना आदि इन्ही दिशाओ म से एक न एक के उदाहरण है।

ऊपर कह चुके है कि शब्द का अर्थ प्रकरण के अनुसार ही होना है, यदि उसके और कोई अर्थ होते है तो वे उस समय गायब रहते है, अन्यथा मनुष्य का दिमाग शब्दो का व्यवहार कर ही न सके। तब भी सबध-तत्वो की भाँति अर्थ भी अपने सबधियो के साथ मनुष्य के अन्त करण मे जुडा रहता है (जैसे *दान*, *दाता*, *देय*, *दाय*, *देना* आदि) और जब किसी शब्द का भिन्न अर्थ होने लगता है तब उसके सबधी बाधा पहुँचाते है पर यदि परिवर्तन होने की मात्रा उत्कट हुई तो अर्थ बदल ही जाता है और यदि वह शब्द अपने वर्ग का प्रबल सदस्य हुआ तो वह अपने सबधियो को भी साथ घसीट ले जाता है अन्यथा अकेला ही चला जाता है। *असुर* शब्द के अर्थ के साथ *आसुरी*, *आसुर* आदि शब्दो का भी अर्थ बदला। *नमक* के साथ *नमकीन* का भी अर्थ विस्तृत हुआ। *सर्प* के साथ *सर्पिणी* का भी अर्थ सकुचित हुआ तथा *दूल्हा* (<*दुर्लभ*) के साथ *दुलहिन* का भी। दशा ठीक वैसी ही है जैसी धर्म बदलते समय होती है। यदि किसी पौराणिक परिवार का प्रमुख व्यक्ति आर्यसमाजी होता है तो सारा परिवार आर्यसमाजी या ब्रह्मसमाजी हो जाता है, और यदि जन जमीन, जर के लालच से कोई उच्छृखल नवयुवक ईसाई होता है तो अकेला।

अर्थविकास के अध्ययन से कभी कभी समाज की दशाओ के इतिहास का भी ज्ञान आसानी से मिल जाता है। *देव*, *असुर* आदि शब्दो के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके है। अंगरेजी का *पिक्यूनियरी* (Pecuniary) शब्द जिसका सबध *पशु* शब्द से स्पष्ट है, इस बात का द्योतक है कि जब सिक्को का चलन नही हुआ था तब *पशु* सिक्को की तरह बदले जाते थे। जर्मन शब्द फेडर (feder) और फ्रेंच का *प्लुम* (Plume) इस बात के सूचक है कि पहले लेखनी चिडियो के परो की बनाई जाती थी। हिन्दी का *गिलास* शब्द इस बात की सूचना देता है कि इस प्रकार के *पात्र* पहले शीशे के बने हुए इस देश मे आए। जहाँ

इतिहास जानने के अन्य साधन (ग्रंथ सिक्के शिलालेख आदि) न मिलते हों वहाँ अर्थ के तुलनात्मक अध्ययन से खोज में बड़ी सहायता मिलती है। वैदिक-पूर्व आर्यो के रहन-सहन के बारे में हमें विशेष ज्ञान भाषाविज्ञान की इसी शाखा से प्राप्त होता है।

शब्दकोश

अर्थ की दृष्टि से किसी भाषा के सब शब्दों को एकत्र कर उन्हें शब्द-समूह कहते हैं। भाषा के शब्द-समूह के प्रत्येक शब्द को लेकर उनकी परीक्षा करना उनको प्रकृति-प्रत्यय के हिसाब से वर्गों में बिठाना, वे कहाँ से आए, कब बने और अर्थ की दृष्टि से उनमें कब क्या क्या परिवर्तन हुए इसकी विवेचना करना, यह सब काम निरुक्ति का है। वह शब्दों का इतिहास बनाती है। आधुनिक भाषाविज्ञान में इस प्रकार का अध्ययन व्युत्पत्तिविज्ञान के अंतर्गत आता है। निरुक्ति द्वारा प्रतिपादित अर्थ कभी कभी वर्तमान अर्थ से भिन्न होता है। प्रकृति प्रत्यय से बनाए हुए *हिमालय* का अर्थ बर्फिस्तान है पर साधारण व्यवहार में उस पहाड़ के अंतर्गत नीचे के ऐसे भाग भी हैं जहाँ बर्फ कभी नहीं गिरती। *रत्नाकर* के सभी भागों में सर्वदा रत्न नहीं निकला करते। इसलिए सदा नैरुक्तिक अर्थ पर ही ध्यान रखकर प्रयोग करने से भाषा के व्यवहार में कठिनाई पड़ सकती है। टकसाली साहित्यिक हमेशा इस बात की कोशिश किया करते हैं कि वे शब्दों का वर्तमान सर्व-साधारण अर्थ में प्रयोग करें। लोक-गीत और लोक-कथाओं में बहुधा तत्कालीन वर्तमान अर्थ मिलता है, साहित्य के अन्य भागों में शब्दों के प्रयोग में नैरुक्तिक अर्थ का काफी प्रभाव रहता है।

किसी भी भाषा के शब्दसमूह में स्वतः उसके, उसकी प्राचीन भाषाओं के तथा उसके संपर्क में आई हुई अन्य भाषाओं के संबंध से पाँच भाग होते हैं—तत्सम, तद्भव, देशी, विदेशी तथा देशज। संस्कृत के संबंध से हिन्दी में कुछ तत्सम (ठीक संस्कृत रूप में जैसे, *देव*, *स्वर्ग*, *पाताल*, *नाग*, *मनुष्य*, *बालक* आदि) कुछ तद्भव (संस्कृत शब्दों के

विकसित रूप जैसे *गाय*, *गोरू*, *राजपूत*, *मक्खी*, *पानी*, आदि), कुछ देशी (देश की अन्य भाषाओं से लिए हुए जैसे *टिकाऊ*, चाल, *गल्प*, *थैला*, *पिल्ला*, *गडा*, आदि) तथा कुछ विदेशी (जैसे फारसी-अरबी, तुर्की, अँगरेजी आदि से *कुरता*, *तबीज*, *सवाल*, *जवाब*, *शाम*, *औरत*, *किताब*, *नकशा*, *रेल*, *टिकट*, *ट्रेन*, *मास्टर*, *नोट* आदि) हैं। इनके अतिरिक्त उन शब्दों को हम देशज कहते हैं जो आधुनिक समय की बोलचाल में स्वत विकसित हुए हैं। जैसे पेड, *गडबड*, *ठडाई* आदि।

प्राचीन आर्यभाषाओं में विदेशी शब्दों की संख्या बहुत कम है और देशी आर्य भाषाओं के शब्दों की उनसे कुछ ज्यादा पर तब भी कम। और इन दोनों भागों के शब्द भी इस प्रकार ढाल लिए गये हैं कि आर्यभाषा के व्याकरण और ध्वनियों में उनका सामंजस्य बैठ गया। उनका प्रधान शब्द-समूह तत्सम, तद्भव और देशज शब्दों का है। आधुनिक काल में भारतीय आर्य भाषाओं में अधिकतर यही स्थिति है। पर उर्दू, पंजाबी लहँदी और सिन्धी की दशा भिन्न है। इनमें अरबी, फारसी आदि पश्चिमी भाषाओं के शब्दों का बाहुल्य है। उर्दू ने तो यहाँ तक अत्याचार किया है कि विदेशी शब्दों की ध्वनियों को तथा व्याकरण के दो एक नियमों को भी ज्यों का त्यों कायम रखने का उद्योग किया है। इसी कारण वह भारतीय होती हुई भी अभारतीय सी दीखती है।

आधुनिक फारसी में एक तिहाई के करीब शब्द अरबी के हैं, द्राविड भाषा तेलुगु में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों की संख्या आधी से अधिक है। रोमानी जिप्सी (हबूडी) भाषा भारतीय आर्य भाषा है पर सदियों तक विदेश में रहने के कारण उसमें अधिकांश शब्द विदेशी हैं।

किसी ग्रंथकार या ग्रंथ के शब्दों की गणना करके इस बात का पता लगाया जा सकता है कि अमुक ग्रंथकार ने कितने शब्दों का प्रयोग किया है या अमुक ग्रंथ में कितने शब्द आए हैं। ऐसी गिनती करते समय यदि एक ही शब्द बार-बार आया हो तो उसे एक ही बार गिना

जाता है। इसी तरह व्यक्तियो के शब्दो की गणना करते समय यदि कोई व्यक्ति बहुभाषाविद् हो तो एक ही विचार को जनलाने वाले कई शब्दो (बुक, पुस्तक, किताब) मे से एक ही गिनना चाहिए बाकी को छोड देना चाहिए। हाँ, यदि कोई विदेशी शब्द कुछ नया विचार उपस्थित करता हो तो दूसरी बात है।

विलायत का बेपढा लिखा आदमी केवल ३०० शब्दो का प्रयोग करता है, यही उसकी मारी पूँजी है। शेक्सपियर के सभी ग्रथो मे कुल १५००० शब्द है, मिल्टन के सात आठ हजार होमर के काव्यो मे करीब ९,०००, इजील के पुराने भाग (टेस्टामेट) मे ५६४२ और नए मे ४८००।

इसी प्रकार हिन्दी या मस्कृत के ग्रथो और ग्रथकारो की यदि ठीक ठीक शब्द सूची तैयार की जा सके तो कौतूहल की शाति के साथ साथ हमे आगे के लिए पथप्रदर्शन मिलेगा। कालिदास ने कितने शब्दो का प्रयोग करके अपनी अमर रचनाए उपस्थित की। माघ पडित को शब्दो के खजाने का अधिष्ठाता कहा जाता है और कहते है कि शिशुपालवध के नव सर्ग पढ लेने पर फिर कोइ नया शब्द नही रहता (नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते)। बाणभट्ट का शब्दसमूह अथाह बतलाया जाता है और कहते है कि सस्कृत साहित्य मे सब कुछ बाण का जुठारा हुआ हे (बाणोच्छिष्ट जगत्सर्वम्)। तुलसी, सूर, कबीर, मीरा, जायसी ने कितने शब्दो का प्रयोग किया इसका अनुसधान करना रोचक होगा। और जडिया नददास ने जडाव करते हुए कितने शब्दो को निखार कर आभूषण तय्यार किए यह जानकारी भी मजे की होगी।

कुशल ग्रथकार अपनी इच्छा के अनुसार अपने शब्दो की सख्या को सीमित या विस्तृत कर सकते है। अयोध्यासिह उपाध्याय सस्कृत-बहुल 'प्रियप्रवास' लिखकर उसी सफलता से 'ठेठ हिन्दी का ठाट' भी और 'चोखे चौपदे' भी लिख गए है। इशाअल्ला खाँ ने फारसी के विद्वान् होते हुए भी 'रानी केतकी की कहानी' लिख दी जिसमे सारा

पुट हिन्दुई का ही है। टकसाली कलाकार शब्दों का धनी होते हुए भी सरल, सीधे-साढे शब्दों का प्रयोग करता है। वह उस उदारचित्त राजा के समान है जो अतुल संपत्ति का स्वामी होते हुए भी सादी रहन-सहन पसद करता है जिससे उसकी प्रजा उसके साथ निजत्व का अनुभव करती है। दूसरी ओर दुरूह वागाडबर में पड़ने वाला साहित्यिक अपनी शब्दसंपत्ति का प्रदर्शन कर अपने ओछेपन का परिचय देता है।

हमारे शब्द समूह में कुछ चिड़ियों और जानवरों के ऐसे नाम होते हैं, जिनका, केवल नाम को छोड़कर, हमें कोई परिचय नहीं। ऐसे शब्द व्यक्तिवाचक शब्दों से भिन्न नहीं। किसी के शब्दों की गणना करते समय इनको छोड़ ही देना ठीक होगा।

जनसमुदाय अन्य जनसमुदायों के संपर्क में आने पर विचारों का आदान-प्रदान करता है और इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि (विशेष रूप से नए विचारों का बोध कराने वाले) एक के शब्द दूसरे जन-समुदाय के व्यवहार में आ जायँ। जीवित जनसमुदाय इन्हें लेकर अपनी निजी ध्वनि और व्याकरण के साँचे में ढाल लेता है। *कागज, गरीब, ख्वाब, खबर, मजदूर, जिद, जुल्म, फिक्र, कवायद* का आधुनिक हिन्दी में कागद, गरीब, ख्वाब, खबरि, मजूर, जिद्दी, जुलुम, *फिकिर, कवायद* होकर इस्तेमाल में आना स्वाभाविक है। अथवा अँगरेजी के *ग्लास, सिगनल, स्टेब्ल, बाट्ल* का *गिलास, सिगल, अस्तबल, बोतल* हो जाना ठीक है। पर उन शब्दों को ज्यों का त्यों हिन्दी में बोलने की कोशिश करना अपनी दासता का परिचय देना है। जीवित भाषा दूसरी भाषाओं से यथेष्ट शब्द लेती है, न उसकी ध्वनियाँ लेती है और न उनका व्याकरण। *किताब* का बहुवचन भारतीय भाषाओं में *किताबें* (न कि कुतुब) अथवा *इस्टेशन* का *इस्टेशनें* (न कि *इस्टेशनस्*) होगा। इसी में स्वाभाविकता है।

शब्द-समूह पर विचार करते समय भाषा की शुद्धि-अशुद्धि पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा। जब से मनुष्य ने भाषा के

विषय मे मनन और चिन्तन आरम्भ किया तभी से इस दिशा मे विचार होता आया है। पाणिनि ने व्याकरण की रचना इसीलिए की कि भाषा का शुद्ध रूप स्थिर रह सके। पतजलि ने भी म्लेच्छ उच्चारण का उल्लेख किया है। शुद्धता के भी तीन अग है, उच्चारण, पदरचना और शब्दसमूह। सम्प्रति हमे अन्तिम अग पर विचार करना है। शब्द-समूह मे बहुत से शब्द भाषा के अपने रहते है जो उसमे पूर्ववर्ती भाषा के क्रम से आते है। यह भाषा की निजी अपनी सम्पत्ति कहलाती है। हिन्दी मे इस श्रेणी के शब्द सस्कृत से प्राकृत मे और प्राकृत से अपभ्रश मे होते हुए आए है।

इसके अलावा प्रत्येक भाषा अपनी समकालीन देशी-विदेशी भाषाओ से शब्द लेती है। हिन्दी ने बगाली से *उपन्यास*, *गल्प* आदि और मराठी से *चलतू*, *टिकाऊ*, *बाजारू* आदि शब्द लिये है। पर किसी भी सम्पन्न भाषा मे इनके अतिरिक्त भी शब्द रहते है जो तत्सम्बन्धी प्राचीन भाषाओ से लिये जाते है। अगरेजी, जर्मन आदि भाषाएँ इस प्रकार ग्रीक, लैटिन से शब्द लेती आई है और बगाली, गुजराती, मराठी, हिन्दी आदि सस्कृत से। इसमे कोई अस्वाभाविकता नही। यथा-सभव, जीवित भाषा प्राचीन भाषाओ से शब्द लेकर उन्हे अपने ध्वनि-नियमो के साँचे मे ढाल लेती है। विदेशी शब्दो को भी इसी साँचे मे ढालकर अपना लेने मे भाषा की प्राणशक्ति का प्रमाण है। कम जीवट वाली भाषाएँ ही विदेशी शब्दो को ज्यो का त्यो ग्रहण करती है।

विदेशियो के सपर्क से जब हम कोई नई विद्या, कला, खेल, फैशन आदि सीखते है तब उस सम्बन्ध के विदेशी शब्द अनायास हमारी भाषा मे आ जाते है। बहुधा इनके लिए हम अपने शब्द नही गढते (लालटेन, स्टेशन, हाकी), पर कभी-कभी गढ भी लेते है (माचिस के लिए दियासलाई)। ऐसे शब्दो को अपनाने के समय केवल इतना ध्यान रखना चाहिए कि हम अपनी भाषा मे अनावश्यक भरमार तो नही कर रहे है। यदि हमारे पास उन चीजो और भावो के लिए पहले से शब्द मौजूद है और वे अच्छे और सुगम तथा स्पष्ट है तो हमे

सावधान रहना चाहिए। यह विषय केवल भाषा की शुद्धि-अशुद्धि का नहीं उस भाषा के स्वामी, राष्ट्र के गौरव का भी है। जिस भाषा का जितना ही उज्ज्वल भूतकाल और तत्सम्बन्धी साहित्यिक युग रहा है, उतना ही उस भाषा के निर्माताओं का कर्तव्य अधिक हो जाता है कि अपनी भाषा का गौरव और मान बनाए रक्खे।

पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण की समस्या का हल करते समय हमें इसी सिद्धान्त का ध्यान रखना चाहिए। ऊपर देखा जा चुका है कि कोई भाषा विदेशी ध्वनियाँ नहीं उधार लेती। विदेशी ध्वनियों की अपेक्षा अपनी प्राचीन भाषाओं की ध्वनियों का उच्चारण सुगम पड़ता है और अपने गौरव के अनुकूल। इसी से भारतीय भाषा-विज्ञानी प्रायः सर्व-सम्मत हैं कि भारतीय भाषाओं की पारिभाषिक शब्दावली संस्कृत, पालि, प्राकृत को उपादान मानकर बनानी चाहिए।

चौबीसवाँ अध्याय

भाषा की गठन

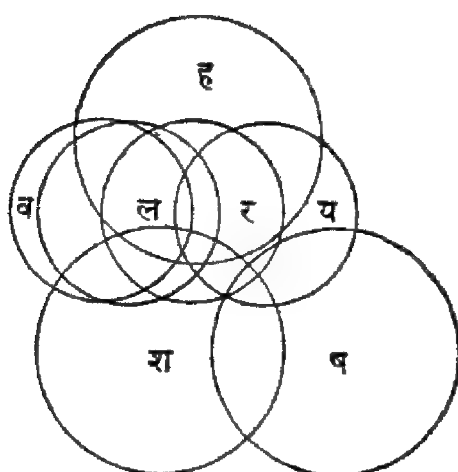
भाषा के लक्षण से हम जान चुके है कि यदि वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो प्रति मनुष्य की बोली दूसरे मनुष्य की वाली से भिन्न है क्योंकि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह ध्वनियो का उच्चारण ठीक-ठीक उसी स्थान और प्रयत्न से करता है जिससे दूसरा, और उसके दिमाग मे शब्दार्थ बिल्कुल वही है जो दूसरे के। दूसरी ओर ससार की सभी भाषाएँ एक ही प्रयोजन सिद्ध करती है—मनुष्य के मनोभावो और विचारो को व्यक्त करना। उस दृष्टि से सभी एक है। इस वैज्ञानिक एकत्व और अनेकत्व के बीच, व्यवहार की दृष्टि मे, ससार की सभी भाषाओं की सत्ता है। ससार के निवास-योग्य सभी स्थानो, मैदानो, वनो, पर्वतो मे मनुष्य बसते है। यदि हम एक स्थान से दूर तक बराबर चले जाय तो हम धीरे-धीरे उच्चारण, पदरचना और शब्दसमूह की भिन्नता झलकती जायगी और जब एक स्थान की वाणी की दूसरी, दूर की जगह की बोली से तुलना करेगे तो काफी अन्तर दिखाई पडेगा। जनसमुदाय जितना ही सगठित होगा उसकी भाषा भी उतनी ही गठी हुई सुश्लिष्ट होगी, और समाज की जजीर जितनी ही ढीली होगी, भाषा के अगो मे उतनी ही विभिन्नता होगी। तुलनात्मक दृष्टि से, एक परिवार की बोली दूसरे परिवार की बोली से कुछ न कुछ अशो मे भिन्न होगी ही, यद्यपि वह भिन्नता हमे प्रत्यक्ष न दिखाई दे। कई परिवारो द्वारा बने हुए गाव की बोली, आपेक्षिक दृष्टि से, दूसरे गाँव की बोली से, कुछ बातो मे जुदा होगी। पर एक ही गाँव मे भिन्न-भिन्न परिवारो की बोलियो मे भिन्नता के कण मौजूद है। पुरोहित जी शीघ्रबोध, सत्यनारायण की कथा, विष्णु-

सहस्रनाम आदि से परिचित है तो कुछ न कुछ देवपूजा करते ही होगे और कुछ न कुछ सस्कृत के वायुमडल से शब्दो को उद्धृत कर अपने घर मे बोलते ही होगे। पटवारी साहब उर्दू कागजात रखते-रखते कुछ उर्दू फारसी के शब्दो का प्रयोग करते ही होगे और यदि "सभ्य" समाज मे बैठने का अभ्यास होगा तो उनका शीन काफ भी दुरुस्त होगा। यदि पास-पडोस के शहर मे मुल्ला जी गॉव मे कभी-कभी आते होगे तो वहाँ के मुसलमान निवासी दीन और अल्लाह का थोडा बहुत ज्ञान रखते ही होगे। गॉव का एकाध नौजवान यदि शहर मे चपरासी आदि के पद को सुशोभित करता होगा तो वह भी निश्चय ही अपने दफ्तर से दस-पॉच अँगरेजी शब्द लाकर गॉव वालो पर रोब गॉठेगा। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न सपर्कों से विभिन्न शब्दो और उच्चारणो के आने की सभावना बनी रहती है। इस सबके होते हुए भी हम कह सकते है कि गॉव की बोली एक है। पर इस एकत्व के पीछे भिन्नत्व के बीज अगोचर रूप से उपस्थित है।

निकटस्थ ग्राम-समुदाय की वाणी को बोली का नाम दिया जाता है उसके भीतर के सूक्ष्म भेदो की अवहेलना करने पर ही यह नाम देना सभव है। पडोस के दूसरे ग्राम-समुदाय की बोली कुछ इससे भिन्न होगी, उसके बाद वाले की कुछ और भिन्न। यदि इन तीन ग्राम-समुदायो के नाम क, ख और ग हो और क की विशेषताएँ *य र ल व श* हो तो ख की विशेषताएँ इससे कुछ भिन्न होकर शायद *र ल व श ष* होगी और ग की *य ल व श ह*। बहुधा ऐसा होता है कि एक बोली की कुछ विशेषता दूसरी या तीसरी निकटस्थ बोली मे न मिल कर चौथी या पॉचवी मे मिल जाती है। इन विशेषताओ के चक्र ऐसे है जिनकी परिधियॉ एक दूसरे को काटती रहती है।

अवधी की बोलियो मे मध्यपुरुष एकवचन सर्वनाम लखीमपुरी मे *तुइ* है और सीतापुरी मे भी *तुइ* है पर इसी का सबधसूचक विशेषण लखीमपुरी मे *तोर* है तो सीतापुरी मे कुछ अशो मे *त्वार* है। उन्नाव की बोली मे भी *त्वार* है। साथ ही अनिश्चय-वाचक सर्वनाम, लखीम

पुरी और सीतापुरी दोनो मे कोई है पर उन्नाव की बोली मे कोऊ। अशोक के शिलालेखो मे से *पितु*, का रूप शहवाजगढी, मनसेहरा मे *पितु*, *पिति* मिलता है, यही कालसी, धौली और जौगढ मे, पर भ्रातृ का श० म० मे *भ्रतु*, *भत* और का० धौ० जौ० मे *भाति* मिलता है। पर बृद्ध का श० मे वुढ, म० मे *वुध्र*, *वभ्र* कालसी मे वुध और धौ० जौ० मे वुढ।



शब्दो की विभिन्नता रहते हुए भी जब तक पदरचना की और उच्चारण की विभिन्नता न आवे तब तक यही समझना चाहिए कि बोली एक है। किसी गॉव मे दूर के गॉव से आई हुइ बहू, सभव है, कुछ दिन अपने मायके के दो-चार विशेष प्रयोग करे, *निकरब*, की जगह *निकमब*, *अलग* की जगह बइबइ अथवा पदरचना मे *जाइ* की जगह *जान*, *गवा* की जगह *गआ* आदि प्रयोग भी लावे, पर जब तक इस तरह के भिन्न प्रयोग कुछ व्यक्तियो तक ही सीमित रहेगे और बाकी गॉव के लोग एक तरह के प्रयोग करेगे तब तक गॉव की बोली एक ही समझी जायगी। किंतु यदि यही विभिन्नता कुछ परिवारो मे

सिक्का जमा लेती और गाँव का एक भाग इस प्रकार बोलता और दूसरा दूसरी तरह, तो हम कह सकते कि दोनो भागो की बोलियो मे विभिन्नता है। किसी प्रदेश की वाणी को बोलियो मे बाँटने का सिद्धान्त यही है कि जहाँ बहुतेरी विशेषताएँ एक साथ मिलती हैं वह एक बोली, और भिन्नता के अनुपात से विभिन्न बोलियाँ।

बहुधा बोलियाँ किसी भाषा के अतर्गत होती है। भाषा उनमे से कोई प्रमुख बोली ही होती है जो अपनी अतर्गत बोलियो से कुछ अशो मे (विशेषताओ मे) भिन्न या अधिकाश मे समान होती है। अवधी के अन्तर्गत, लखीमपुर, सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली आदि बहुत से जिलो की बोलियाँ है। इन जिलो की बोलियो के अन्तर्गत स्वय और अधिक सीमित क्षेत्र मे काम करने वाली बोलिया है। पडोस मे ब्रज है जो शाहजहाँपुर, पीलीभीत मे और हरदोई के कुछ भाग मे बोली जाती है। उसकी भी इन जिलो की बोलियो के अन्तर्गत, आपेक्षिक दृष्टि से सीमित क्षेत्र मे काम करने वाली बोलियाँ है। अवधी के जिलो की बोलियो की परस्पर विभिन्नता, आपेक्षिक दृष्टि से, एक जिले के भीतर की आपस की विभिन्नता से कुछ अधिक होगी। और अवधी और ब्रज की परस्पर विभिन्नता प्रत्येक की जिलो की बोलियो की विभिन्नता से और अधिक होगी। इन दोनो की हिन्दुस्तानी से भी विभिन्नता है। उसका वही स्थान है जो ब्रज या अवधी का। और ये तीनो ही हिन्दी के अतर्गत है। हिन्दी को हम भाषा कहते है और हिन्दुस्तानी, ब्रज और अवधी को उसकी बोलियाँ। और हिन्दी सचमुच वास्तविक निजी रूप मे है क्या? केवल हिन्दुस्तानी बोली-समूह की एक बोली जो किन्ही कारणो से प्रमुख हो गई है और जिसकी प्रमुखता ब्रज और अवधी ने स्वीकार कर रक्खी है।

किसी बोली की प्रमुखता के विभिन्न कारण होते है जिनमे राजनीतिक प्रमुखता विशेष है। जिस विशेष प्रदेश का राजा होगा और जो बोली वह बोलता होगा, वही बोली प्रधान समझी जायगी। हर आदमी यही कोशिश करेगा कि राजा और उसके कर्मचारियो से वही

वाली बोली हिंदी खड़ी बोली के फलने का यही मुख्य कारण हुआ। कई सदियों तक दिल्ली के आसपास ... न रहा वहाँ की बोली को जो पुष्ठपोषण मिला वह ब्रज और अवधी को नहीं मिल सका। आखिर में इन दोनों को खड़ी बोली की प्रधानता स्वीकार करनी पड़ी।

राजनीतिक प्रभुता के अलावा साहित्यिक श्रेष्ठता भी किसी बोली को प्रधान बनाने में सहायक होती है। जिस समय ऋग्वेद की ऋचाएँ बनीं, उस समय आर्य लोगों के जत्थे परस्पर कुछ न कुछ विभिन्न बोलियाँ बोलते रहे होंगे। उस समय सामाजिक संगठन इतना सुश्लिष्ट होना, जितना आज है, संभव नहीं था, आर्य टोलियों में बटे थे। ऐसी परिस्थिति में जिन ऋषियों ने इन ऋचाओं का निर्माण किया वे तत्कालीन समाज में प्रमुख समझे जाने लगे और उनकी बोली प्रधान मानी जाने लगी। वैष्णव मत के कृष्ण सम्प्रदाय के केंद्र मथुरा वृन्दावन बने और वहाँ पराजित हिन्दू जनता को कुछ शांति मिली। वहाँ की धार्मिक प्रधानता से ब्रजभाषा को प्रोत्साहन मिला और वह साहित्यिक माध्यम होकर कई सदियों तक उत्तर भारत में ही नहीं, महाराष्ट्र और बंगाल में भी अपना प्रभाव जमा सकी। जायसी और तुलसीदास ने अवधी को प्राधान्य दिया। लंदन की अँगरेजी बोली ही इंगलैंड में माननीय समझी जाती है।

साहित्य के अलावा, किसी जनगण का प्रभाव भी भाषा को प्रधान बना सकता है। कहीं पर के मारवाड़ी यदि प्रभुत्व प्राप्त कर लें और उनके कहने-सुनने पर जनता चलने लगे तो उनकी भाषा का विशेष प्रभाव जनता पर पड़ेगा। अथवा पुरोहित-वर्ग भी विशेष प्रभाव डाल सकता है। सारांश यह कि भाषा की प्रधानता सभ्यता की शक्ति पर होती है, वह सभ्यता या संस्कृति चाहे जिस रूप की हो।

भाषा और बोली में क्या अंतर है? दोनों शब्द वाणी के ही द्योतक हैं, आपेक्षिक दृष्टि से एक का क्षेत्र सीमित है, दूसरे का विस्तृत। बोली भाषा के अंतर्गत है, भाषा बोली के अंतर्गत नहीं। ध्वनिग्राम

और ध्वनियो मे जो अन्तर है, वही अन्तर भाषा और बोली मे है। एक ही भाषा की दो बोलियो को बोलनेवालो को परस्पर समझने मे अपेक्षाकृत कम कठिनाई होती है, दो भाषाओ को समझने में ज्यादा। जब दो बोलियो मे परस्पर अन्तर की विशेषताएँ इतनी अधिक हो कि एक के बोलनेवाले दूसरी का न तो ठीक उच्चारण कर सके और न ठीक-ठीक उसके शब्द और अर्थ समझ सके तो उन दो बोलियो को दो भिन्न भाषाओ के अतर्गत समझना चाहिए।

राजनीतिक, साहित्यिक आदि कारणो से जो बोली एक समय प्रमुख होकर भाषा का रूप धारण कर लेती है वही कालातर मे दूसरी बोली की बोली बन सकती है। अवधी और ब्रज अब केवल बोली-रूप मे है, पर पिछली कई सदियो तक वे स्वतत्र भाषा का रूप रक्खे रही। महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी आदि प्राकृत साहित्यिक भाषाएँ जिन विशिष्ट प्रदेशो की वाणियाँ होकर भाषाएँ दिखलाई पडी, खास उन्ही प्रदेशो के अपभ्रश भी बाद को साहित्यिक महत्त्व प्राप्त कर सके हो, ऐसी बात नही है।

जैसे व्यक्तियो के आपस के व्यवहार के कारण, व्यक्तिगत विशेषताओ की अवहेलना कर बोली अपना रूप धारण करती है उसी तरह विभिन्न बोली बोलनेवालो के आपस में व्यवहार के कारण ही भाषा बनती है। बोली वाणी-सबधी नियमो के अनुकूल स्वभाव से ही बनती और विकसित होती रहती है। उसके बनने-बिगडने पर किसी विशेष व्यक्ति का विशेष प्रभाव नही पडता। पर राजनीतिक, साहित्यिक आदि कारणो से बनी हुई भाषा पर व्यक्तियो का विशेष असर होता है। साहित्यिक भाषा पर यह बात विशेष रूप से लागू होती है। एक सफल साहित्यिक अपनी रचनाओ के द्वारा अलक्षित सख्या वाले लोगो की भाषा पर प्रभाव डाल देता है। एक लब्धप्रतिष्ठ आचार्य भाषा गढ देता है। स्वाभाविक रीति से बोलियो का विकास मूलरूप से सामाजिक सगठन पर निर्भर है, और उसी सगठन की मात्रा उन बोलियो की सीमाएँ निर्धारित करती है। पर राजनीतिक आदि

कारणो से व्यवहार मे आई हुई भाषाओ की सीमा राज्य-विभागा आदि के अनुकूल पडती है। महाभारत काल से जो जनपद उत्तर भारत मे स्थापित थे, बहुत समय तक उन्ही के अनुकूल बोलियो की स्थिति रही। इधर अँगरेज़ी राज्य द्वारा स्थापित सूबो के कारण इनकी सीमाओ मे अन्तर पड गया है। मुगल आदि राज्यो के समय किन्ही सूबा-सरकारो की सीमाएँ सौ-सवा सौ साल भी निश्चित नही रही इसलिए उन सीमाओ का महत्त्व नही सा दिखाई पडता है।

कोई बोली इस तरह भाषा बनकर जब छिन्न-भिन्न होती है तो उसका कारण यही होता है कि जिस सामाजिक सगठन ने एक सूत्र मे बाँध रक्खा था वही बिखर गया। शौरसेनी प्राकृत के प्रधान बनने का कारण उस प्रदेश की प्रधानता रही होगी, राजनीतिक अथवा साहित्यिक, और शौरसेनी अपभ्रंश तथा ब्रजभाषा द्वारा वह प्रधानता कायम रही। पर इधर, विशेषकर राजनीतिक कारणो से, खडी बोली ने प्रभुता कायम कर ली और ब्रज की प्रधानता खतम हो गइ। वर्तमान बँगला साधुभाषा के रूप के बनने मे कलकत्ता केन्द्र का विशेष प्रभाव रहा है। मराठी पर पूना केन्द्र की काफी गहरी छाप है। आजकल की साहित्यिक गुजराती पर महात्मा गाधी और उनके अनुयायियो का काफी असर है। इस तरह हर भाषा के बनने-बिगडने मे विशेष परिस्थितियाँ रहती है, और वह राजनीतिक केन्द्र से, साहित्यिक केन्द्र से अथवा किसी और प्रकार के केन्द्र से अथवा महापुरुष से फैलना आरभ करती है।

जब किसी प्रदेश की बोली स्टैंडर्ड होकर भाषा का रूप धारण कर लेती है तब आसपास की बोलियाँ अपनी छोटी-छोटी विशेषताएँ खो बैठती है और उसी मे शामिल हो जाती है। ऐसा भी होता है कि स्टैंडर्ड बोली भी अपनी छोटी-छोटी विशेषताएँ छोड देती है। इटली मे रोम की लैटिन भाषा जब स्टैंडर्ड हुई तो रोम के आसपास की बोलियो को हजम कर गई। कलकत्ता की साधुभाषा ने आसपास की बँगला बोलियो मे विशेष 'साधुता' का पुट भर दिया है। केन्द्र की बोली से

दूर की बोलियाँ जो उसके अंतर्गत होती हैं उनकी एक आध विशेषताएँ केन्द्र की उस स्टैंडर्ड वाणी में आना चाहती हैं। खड़ी बोली को पंजाबी के मुख से जब सुनते हैं तब *हमने करना है* आदि प्रयोग कानों में आते हैं और जब भोजपुरी के मुख से तब *हम आम खाय* आदि। जब तक खड़ी बोली सतर्क रहेगी तब तक ये प्रयोग भाषा में शामिल न हो सकेंगे पर यदि उच्चकोटि के लेखकों के मान्य ग्रन्थों में ऐसे प्रयोग आ गए तो 'पंजाबीपन', पुरबियापन' आदि कहकर उनकी उपेक्षा की जायगी। बोलियाँ स्वाभाविक रीति से विकसित होती रहती हैं पर स्टैंडर्ड भाषा, बोलचाल से दूर रहने के कारण, प्राचीन रूप धारण किए रहती है और जितना ही उसका क्षेत्र बड़ा होता है उतनी ही प्राचीनता के अंश के अधिक होने की संभावना होती है। साथ ही जितना विस्तृत क्षेत्र होता है उतनी ही छिन्न-भिन्न होने की संभावना रहती है। खड़ी बोली का जो साहित्यिक रूप आज प्रचलित है, उसमें और दिल्ली, मेरठ, बिजनौर, मुजफ्फरनगर आदि जिलों की वर्तमान-कालिक बोली में काफी अन्तर पड़ गया है। यदि उसी प्रदेश के कलाकार जीती-जागती बोलचाल की भाषा का प्रभाव उस पर न ला सके तो खड़ी बोली की प्राचीनता बढ़ती ही रहेगी। यह भी देखा गया है कि खड़ी बोली के काशी, प्रयाग आदि दूर की जगहों के लेखकों के ग्रन्थों में बोलचाल की खड़ी बोली के प्रभाव के बाहर होने के कारण, प्राचीन प्रयोगों की अधिकता रहती है और संस्कृत और फारसी के शब्दों का, तद्भव रूपों की अपेक्षा, अधिक व्यवहार।

स्टैंडर्ड भाषा की प्राचीनता लेख-बद्धता के कारण भी विशेष कायम रहती है। संस्कृत को उसके ग्रंथों ने ही स्थिर कर रक्खा है। खड़ी बोली के रूप की गठन पूर्व बने हुए ग्रंथों पर ही ढलती चलती है। आज जब साहित्यिक ब्रज का चलन नहीं है तब भी सूरदास और केशवदास की भाषा ही दो-चार ब्रजभाषा-भक्त कवियों की रचनाओं को रास्ता दिखाने का काम करती है।

स्टैंडर्ड भाषा की प्राचीनता रहने पर भी, और विस्तृत क्षेत्र रहने

पर भी, कुछ न कुछ वर्तमान-कालिक प्रभाव उस पर पड़ता ही है। बाण, माघ, भारवि की भाषा की तुलना एक ओर कालिदास के ग्रथो से और दूसरी ओर राजशेखर, श्रीहर्ष और जयदेव के ग्रथो से विश्लेषण की दृष्टि से, की जाय तो उन ग्रथकारो के तत्कालीन प्रभाव की झलक दिखाई पड़गी। अभी तीस साल पहले के खड़ी बोली के ग्रथो को देखे तो आजकल के प्रयोगो से भिन्नता दिखाई पड़ेगी। अब *कर* की जगह *करे*, *पड़गी* की जगह *पड़ेगी जाए जावे* की जगह *जाय* व्यवहार मे मिलते है।

यदि लेखबद्धता न भी सुलभ हो तब भी परम्परा से भाषा मे प्राचीनता कायम रह सकती है। गिनती और पहाड़े पउवा, अद्धा, सवइया, अटइया आदि मे, अथवा छदोवद्ध कथाओ मे प्राचीनता, स्मृति के साधन द्वारा सुरक्षित परम्परा मे ही स्थिर रह सकी है। वेदो की भाषा को प्राचीन काल मे क्रमपाठ, घनपाठ, जटापाठ आदि कृत्रिम साधनो द्वारा सुरक्षित रक्खा गया। सूत्रशैली जिस प्रकार विचारो की रक्षा कर सकी उसी तरह छद भाषा को कायम रखने मे बड़ी मदद करता है।

स्टैंडर्ड भाषा और साहित्यिक लेखबद्ध भाषा मे भी आपस मे अन्तर होना सभव है और बहुधा रहता है। आजकल खड़ी बोली प्राय उत्तर भारत के सभी नगरो मे आपस के व्यवहार का साधन बन गई है पर इसका साहित्यिक भाषा (उर्दू या हिन्दी) से काफी अन्तर पड़ गया है। हिन्दी और उर्दू साहित्य के वर्तमान महानुभावो से बात करिए और फिर उनकी रचनाओ को पढ़िए, अन्तर प्रत्यक्ष रूप से मालूम पड़ेगा।

लेखबद्ध साहित्यिक भाषा विशिष्ट भाषा होती है। सदियो तक साधारण व्यवहार की भाषाएँ प्राकृत और अपभ्रश रही पर सस्कृत विशेषरूप से साहित्यिक भाषा रही। आज भी मलयदेश के निवासी कोई आर्यभाषा नही बोलते पर उनकी साहित्यिक भाषा कवि मे सस्कृत शब्द और शब्दाश बहुतायत से मिलते है। साहित्यिक भाषा की अपेक्षा

सामान्य व्यवहार की स्टैंडर्ड भाषा का तल नीचा-सा रहता है। इसका कारण यही है कि स्टैंडर्ड भाषा का व्यवहार सभी करते है पर साहित्यिक भाषा ग्रथकारो और पाठको तक सीमित रहती है। पठन-पाठन के सर्वसाधारण होने पर भी साहित्यिक भाषा उस तल तक न आ सकेगी क्योकि ग्रथकार हमेशा ही ऊपर के तल के रहेगे। यह ग्रथकार ही साहित्यिक भाषा बनाया करते है।

लेखबद्ध साहित्यिक भाषा, भाषा के विकास की एक मज़िल मात्र है। उससे उस भाषास्रोत की मजिल ही मालूम होती है, अन्य कुछ नही। जिस तरह किसी नदी के प्रवाह के ऊपर किसी जगह बर्फ जम जाय, तो ऊपर तो बर्फ की तह रहेगी पर नीचे ही नीचे पानी बहता रहेगा और आगे बढता जायगा, उसी तरह जनसाधारण की बोलचाल की भाषा अबाध गति मे विकसित होती रहती है पर साहित्यिक भाषा रुक जाती है। और जब इस साहित्यिक भाषा से, अबाध गति से विकसित भाषा का बहुत अन्तर पड जाता है तब वह मनुष्य-समाज अन्य साहित्यिक भाषा बना लेता है। भारतीय आर्य भाषाओ मे इस बात के बहुत उदाहरण मिलते है। वैदिक साहित्यिक भाषा जब लोक-भाषा से अधिक भिन्न हो गई तब ईसा के पूर्व सातवी-आठवी सदी मे वैदिकोत्तर सस्कृत भाषा साहित्य मे लाई गई जिसको पाणिनि के समय मे कठोर नियमो से जकडा गया। पर लोक-भाषा बढती ही रही और हमे प्रचुर प्रमाणो द्वारा मालूम होता है कि गौतम बुद्ध के समय सस्कृत मे और आर्यों की लोक-भाषा मे इतना अन्तर पड गया था कि बुद्ध भगवान् ने न केवल इतना ही किया कि स्वय सस्कृत से भिन्न भाषा मे अपने धर्म का प्रचार किया बल्कि अपने अनुयायियो को अपनी-अपनी बोली (निरुक्ति) मे धर्म सीखने की अनुमति दे दी। इसका नतीजा यह हुआ कि साहित्यिक क्षेत्र मे सस्कृत का जो एकछत्र राज्य था वह खत्म हो गया और उससे भिन्न भाषाएँ क्षेत्र मे आ गई। इसी के फलस्वरूप हमे जैन धर्मग्रथ अर्ध-मागधी (आर्ष) प्राकृत मे और बौद्ध ग्रथ मागधी (पालि) मे मिलते है। अशोक ने धर्म का प्रचार सस्कृत मे न करके

प्राकृत मे ही किया। इन प्राकृतो का, देश मे बाद को साहित्यिक रूप पाने वाली महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्धमागधी से काफी अन्तर है। और तो और अश्वघोष के खडित नाटको मे जो शौरसेनी प्राकृत मिलती है वह भी ऊपर वाली शौरसेनी से कुछ भिन्न और पहले की है। राजशेखर (ई० १०वी शताब्दी पूर्वार्ध) के समय तक प्राकृते साहित्य मे व्यवहार मे आती थी, यद्यपि दडी (सातवी शता० उत्तरार्ध) के समय मे ही अपभ्रशो का साहित्य मे प्रयोग होने लगा था। इसका मतलब यही है कि दडी के समय तक साहित्यिक रूप धारण किए हुई शौरसेनी आदि प्राकृतो और उस समय बोली जाने वाली भाषाओ के बीच मे काफी अन्तर पड गया था। अपभ्रशो का हेमचन्द्रसूरि (१२वी श० ई०) के समय तक ही नही, विद्यापति (१४वी श० ई०) के काल तक बोल बाला रहा। पर सिद्धो के बौद्धगान और दोहा (प्राय १०वी श० ई०) की भाषा की समीक्षा करने से पता चलता है कि अपभ्रश अपना स्थान खो रहे थे और आधुनिक आर्य-भाषाएँ प्रयोग मे आने लगी थी। इन उदाहरणो से सिद्ध होता है कि साहित्यिक भाषा सदा एक ही नही रह सकती और जितना ही उसका बोलचाल की भाषा से फर्क होगा उतना ही उसका क्षेत्र सीमित होता जायगा।

विशिष्ट भाषा

जनसाधारण की भाषा और साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त, विशिष्ट जनसमुदाय की विशिष्ट भाषा भी हो सकती है, जैसे कानूनी-भाषा, पुरोहित-भाषा, वणिक्श्रेणि-भाषा, सॉसियो की भाषा, विद्यार्थी-भाषा आदि। इस तरह की विशिष्ट भाषा का व्यवहार विशेष जन समुदाय अपने आपस के काम-काज मे विशेष रूप से करता है। इस प्रकार की विशिष्ट भाषा किसी न किसी जीवित लोकभाषा के आश्रय पर ही टिकी रहती है और उससे अन्तर अधिकाश मे केवल शब्दावली का ही होता है। हिन्दी की कानूनी भाषा में आजकल

फारसी, अरबी तथा अँगरेजी के बहुतेरे शब्द हैं, पुरोहित-भाषा में संस्कृत के, विद्यार्थी-भाषा में अँगरेजी के। साँसिये और हबूड़े बोलते यद्यपि हिन्दी ही हैं तब भी उनकी भाषा में कुछ शब्द और मुहाविरे ऐसे होते हैं जो उनके खास हैं और जिन्हें जनसाधारण नहीं समझ सकते।

विकृत बोली

विशिष्ट जनसमुदायों में ही शब्दों को तोड़-मरोड़ कर बोलने की प्रथा भी चल पड़ती है। ऐसे शब्द जनसाधारण के शब्दों के ही विकृत रूप होते हैं। हँसी-मजाक, खेलकूद, गाने-बजाने आदि में पहले पहल इनका प्रयोग होता है और फिर इनका क्षेत्र बढ़ जाता है। शब्द ही नहीं, विशेष मुहाविरे भी चल पड़ते हैं, बोलने वाले जानते हैं कि हम बिगाड़ कर बोल रहे हैं, तब भी शब्दों के इस बिगाड़न में एक प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है। *बाँह* की जगह *बँहिया*, *पाँव* की जगह *पइँया* का व्यवहार इसी तरह ब्रजभाषा में आया होगा। वर्तमान काल में *शाल* को *शल्लू*, *हाथ* को *हत्थी*, *हत्थ*, कहने का रिवाज शहरों में सुन पड़ता है। प्रयाग में मल्ल-तमाशों में *राजा* शब्द से नवयुवक परस्पर सम्बोधन करते दिखाई देते हैं।

विकृत बोली की जड़ खास-खास पेशे वालों या बिरादरियों में पड़ती है और यदि उस पेशे वाले या बिरादरी वाले लोगों का जनसाधारण में प्रभाव हुआ तो वे विकृत शब्द जनसाधारण की भाषा में भी आकर घर कर लेते हैं।

रहस्यात्मक प्रभाव

विशिष्ट भाषा और विकृत बोली में ही ज्यादातर, वाणी पर कुछ रहस्यात्मक प्रभाव पड़ने आरम्भ होते हैं। सम्मान और श्रद्धा के पात्र के लिए अन्यपुरुष की क्रिया का प्रयोग अथवा *भवत्*, *आप*, *रउवाँ* आदि सर्वनामों का प्रयोग इसी रहस्य का उदा-

हरण है। अँगरेजी में भी इसी तरह राजा-रानी ने अपने कर्मचारियों को अन्यपुरुष में संबोधित करने की प्रथा चलाई जो संभवतः इस विचार से उठी कि कर्मचारी परमेश्वर के अंश राजा-रानी की बराबरी कैसे कर सकें, और आज अँगरेजी में जो *मेमो अफसरों* की ओर से कर्मचारी को ही नहीं प्रजाजन को भी भेजे जाते हैं उनमें बहुधा अन्यपुरुष का प्रयोग देखा जाता है। भारतीय सभ्यता के अनुकूल स्त्रियाँ जो अपने पति का या बड़े लड़के का नाम नहीं लेती अथवा शिष्य गुरु का नाम नहीं लेता, उसमें भी विशेष आदर ही जड़ में है और साथ ही साथ शायद यह भावना कि कहीं नाम लेने से अनिष्ट न हो जाय। इस प्रकार के रहस्य की मात्रा एक बार उठ कर अधिक व्यापक हो सकती है। करीब नाम की जंगली जाति में पुरुषवर्ग करीब बोली बोलता है और स्त्रियाँ अरोवक बोलती हैं। दोनों में काफी भेद है।

कैलीफोर्निया के उत्तरी प्रदेश में यन नाम के मूल इंडियन निवासी हैं। इनकी भाषा में भी यही भेद है, उदाहरण के लिए—

	पुरुष	स्त्री
आग	*अउन*	*अउह्*
मेरी आग	*अउनिज*	*अउनिच्*
हरन	*बन*	*ब*
रीछ	*तेन*	*तेत*

की नाम की इंडियन जाति में पुरुष अपनी बहिनों के तथा कुछ अन्य रिश्तेदार स्त्रियों के नाम नहीं लेता।

वर्गों की सामाजिक श्रेष्ठता या हीनता के कारण भी रहस्यात्मक भेद पैदा हो जाता है। जावा (यवद्वीप) के मूल निवासियों में रवाज है कि उच्च वर्ग के लोग नीच वर्ग वालों से न्गोको बोली बोलते हैं और नीच वर्ग वाले उनसे क्रामो में बोलते हैं। पूर्वी अफ्रीका में मसाई जाति में पुरुषवर्ग आयु के अनुसार दो विभागों में बँटा रहता है, और खाने की कुछ ऐसी चीजें हैं जिनका दूसरा वर्ग व्यवहार नहीं करने पाता और

इसलिए उन चीजो के नाम भी नही ले सकता। पारसियो के धर्मग्रंथ अवेस्ता की भाषा मे एक ही वस्तु का बोध कराने के लिए कुछ जोडी के शब्द है---एक अहुर (असुर) और दूसरे दैव (देव)। इनमे से एक भले और ईश्वररचित सृष्टि के पदार्थो के लिए और दूसरे बुरे और शैतान के बनाए हुए पदार्थो के लिए प्रयोग मे आते है। पारसी धर्म मे अच्छे और बुरे के बीच जो घोर विरोध प्रतिपादित किया गया है उसी का, इस प्रकार का दो तरह का प्रयोग परिणाम है। इन जोडी के शब्दो मे आँख आदि शरीर के सभी अगो के लिए तथा और भी पदार्थो का बोध कराने वाले शब्द है। यहाँ अपने देश मे ही भोजपुरी बोली मे यदि ब्राह्मण आदि ऊँची जाति के मनुष्य के बारे मे कुछ कहा जाय तो क्रिया का एक रूप होगा और यदि चमार आदि के लिए तो दूसरा।

व्याकरण द्वारा भाषा का जो रूप प्रतिदिन किया जाता है। क्या भाषा का वही असली रूप है? व्याकरण भाषा का विश्लेषण कर उसको तरह-तरह के पदो मे बाँट देती है। उसके सज्ञा, विशेषण, कारक आदि पद नियत स्थान पर आने चाहिए। पर क्या सचमुच स्वाभाविक रीति से बोली हुई बोलचाल की भाषा मे ऐसा होता है? इस सवाल पर विचार करते हुए हमे अपने ध्यान मे यह बात अवश्य रखनी चाहिए कि बोलने वाला और सुनने वाला दोनो साक्ष्य के कर्त्ता की तरह उदासीन नही है, जो भी बात कही और सुनी जाती है उसमे उनका कुछ न कुछ निजत्व है। जब शाम को गपशप करते समय दूर देश चीन, जापान, रूस, जर्मनी की लडाई के बारे मे हम बातचीत करते थे, उस समय भी हम उदासीन होकर नही, ससार के भविष्य और अपने स्वर्णयुग की आकाक्षा का पुट लेकर ही बोलते सुनते थे। अँग्रेजो के विरुद्ध जो हम खार खाए बैठे थे वह उनकी बडी से बडी जीत को लघु और उनकी छोटी से छोटी हार को बडा आकार प्रदान कर देता था। रूस और चीन के साथ स्वाभाविक सहानुभूति रख कर भी, अँगरेजो के साथ इन देशो की मित्रता के कारण हम लोगो की सहानुभूति मे कुछ उदासीनता आ जाती थी। ठीक ऐसी बात दिन प्रतिदिन

घटित होने वाली घटनाओ के बारे मे है। हमारी वाणी के हर-एक वाक्य मे हमारा विचार ही नही हमारा मनोभाव भी प्रकट होता है। *सुग्रीव ने वालि को मार गिराया* इसी वाक्य को सुग्रीव के पक्ष वाले एक ढग स और वालि के पक्ष वाले दूसरे ढग से कहे सुनेंगे। तात्पर्य यह है कि हम जो बोलते है उसको निरीह उदासीन होकर नही उसमे अपना भी कुछ रहता है। यह अपमान वहुधा आकार और इगित से प्रकट होता है पर साथ ही साथ व्याकरण-सिद्ध नियमो मे हेर-फेर कर और विस्मयादिसूचक शब्दो से भी। अथवा वलाघात, सुर, मात्रा द्रुत अथवा विलम्बित गति से भी मनुष्य अपनी अनुमति, नाराजगी, शाबाशी, करुणा, सन्तोष अचरज आदि के मनोभाव प्रकट, करता है। किसी वाक्य का पूर्ण अभिप्राय, केवल उसके पदो और उनके सबध, को जान कर ही नही मालूम किया जा सकता। वाणी द्वारा व्यक्त तात्पर्य का बाकी हिस्सा ऊपर लिखे अनुसार आकार-इगित आदि से समझ पडता है। पर इस बाकी हिस्से की विवेचना करना भाषा-विज्ञानी का काम नही, यह काम मनोविज्ञानी का है और उनका प्रदर्शन करना चित्रकार, मूर्तिकार आदि का है। भाषाविज्ञानी के कार्यक्षेत्र की सीमा तो वाणी ही है। जहा तक वाणी मे ही कुछ हेर-फेर करने से मनोराग आदि की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ तक भाषाविज्ञानी का ही काम है।

लिखित भाषा और बोलचाल की भाषा मे विशेष अन्तर यह है कि बोलचाल मे छोटे-छोटे जुमले दो, तीन, चार पदो के होते है पर लिखित भाषा मे अपेक्षाकृत लम्बे वाक्य होते है। बोल-चाल मे वाक्यो को जोडने के लिए समुच्चयादि-बोधक अव्ययो का प्रयोग होता है। लिखित भाषा मे वाक्य के अश एक दूसरे पर आश्रित रहते है। लिखित भाषा मे पदो का क्रम व्याकरण के अनुसार रखना होता है, बोल-चाल मे वही क्रम उलट-पुलट जाता है।

बच्चे की बोली एक-एक दो-दो पदो से शुरू होती है। वह जो चीज चाहता है उसी का नाम लेता है, जो देखता है उसका नाम लेता है। धीरे-धीरे ही वह बडे वाक्यो को बोलने का अभ्यास कर पाता है।

आरम्भ में उसकी वाणी में पदक्रम के नियम का उल्लंघन ही मिलता है। उसकी भाषा में प्राय संज्ञा का व्यवहार संबोधन में (*अम्मा*) और क्रिया का आज्ञा (*दो, लो आदि*) में मिलता है। वह अन्य पदों का व्यवहार करना धीरे-धीरे बाद को सीखता जाता है।

भाषा के उद्गम पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि किसी विशेष जाति और विशेष भाषा में परस्पर समवाय संबंध नहीं होता। एक जाति वाला परिस्थिति के अनुसार दूसरी भाषा सीखकर उसका व्यवहार करने लगता है। किसी विशेष जाति की मनोवृत्ति भी उसकी भाषा से नहीं झलकती। कभी-कभी कोई कोई भावुक विद्वान् कह बैठते हैं कि अमुक भाषा में हमारी जातीय आत्मा है, अमुक में नहीं। पर भाषाविज्ञानी को जहाँ तक मालूम है किसी भाषा में किसी जाति की आत्मा नहीं मिलती। भाषा के विश्लेषण से केवल इतना मालूम होता है कि उसका प्रवाह कैसा है, वियोगावस्था को जा रही है या संयोगावस्था को, धाराएँ कौन कौन सी हैं और पूर्वकाल की तुलना करके उनमें क्या क्या अन्तर दिखाई पड़ता है। यदि यही किसी जाति या राष्ट्र की आत्मा है तो ठीक नहीं तो भाषा की आत्मा आदि का हमें कुछ पता नहीं। संगठित जन-समुदाय के विचारों की एक सामान्य एकता होती है और वही भाषा में व्यक्त हुआ करती है, इतना अवश्य है। धर्म, कला, आदि की अपेक्षा जनसमुदाय में भाषा का सूत्र ज्यादा दृढ़ होता है। यही उसका मूल्य है।

पच्चीसवाँ अध्याय

भाषा का वर्गीकरण

आकृतिमूलक और इतिहासिक

विभिन्न भाषाओ को साधारण दृष्टि से भी देखने से इस बात का अनुभव होता है कि उनमे परस्पर कुछ बातो मे समता है और कुछ मे विभिन्नता। समता दो तरह की हो सकती है—एक पदरचना की और दूसरी अर्थतत्त्वो की। उदाहरण के लिए—*करना, जाना, खाना, पीना* मे समानता इस बात की है कि सब मे -ना प्रत्यय लगा हुआ है जो एक ही सबधतत्त्व का बोध कराता है, दूसरी ओर *करना, करता, करेगा, करा, करें* आदि मे सबधतत्त्व की विभिन्नता है पर अर्थतत्त्व की समानता है। केवल पदरचना अर्थात् सबधतत्त्व की समता पर निर्भर, भाषाओ का वर्गीकरण आकृति-मूलक वर्गीकरण कहलाता है, दूसरा जिसमे आकृति-मूलक समानता के अलावा अर्थतत्त्व की भी समानता रहती है इतिहासिक या पारिवारिक वर्गीकरण कहा जाता है।

(क) आकृतिमूलक वर्गीकरण

आकृतिमूलक वर्गीकरण के हिसाब से, पहले भाषाएँ दो वर्गो मे बाँटी जाती है—**अयोगात्मक** और **योगात्मक**। **अयोगात्मक** भाषा उसे कहते है जिसमे हर शब्द अलग अलग अपनी सत्ता रखता है, उसमे दूसरे शब्दो के कारण कोई विकार या परिवर्तन नही होता। प्रत्येक शब्द की अलग अलग, सबधतत्त्व या अर्थतत्त्व को व्यक्त करने की, शक्ति होती है। और उन शब्दो का परस्पर सबध केवल वाक्य मे उनके स्थान से मालूम होता है। यदि हिन्दी से ऐसे वाक्य का उदाहरण दे तो इस तरह के वाक्य होगे—*गोविन्द राम को खिलाता है, राम*

गोविन्द को *सिखाता है*। इन दोनो वाक्यो मे प्रत्येक शब्द की अलग अलग स्वतत्र सत्ता है और परस्पर सबध वाक्य मे पदक्रम से ही मालूम होना है। पहले वाक्य के *गोविन्द* और *राम* का स्थान उलट देने स परस्पर सबध भी उलट गया, पर पदो मे कोई विकार नही हुआ। अयोगात्मक भाषाओ का सर्वोत्तम उदाहरण चीनी भाषाओ मे मिलता है। इसमे हर एक शब्द की अलग अलग स्थिति रहती है, किसी के प्रभाव मे दूसरे मे परिवर्तन नही होता और उन शब्दो का परस्पर सबध पदक्रम से जान पडता है। कोई शब्द सज्ञा है या क्रिया या विशेषण यह सब वाक्य मे प्रयोग मे आने से ही मालूम होता है अन्यथा नही। कोई ऐसा शब्द, जिसकी अर्थतत्त्व और सबधतत्त्व दोनो को बताने की शक्ति है, किस तत्त्व को सिद्ध करता है यह भी पदक्रम मे जाना जाता है *न्गो त ने* का अर्थ है *मै तुझे मारता हूँ*, पर *नि त न्गो* का अर्थ हुआ *तू मुझे मारता है*। *त* का अर्थ प्रकरण के अनुसार *बडा, बडा होना, बडप्पन, अधिक* आदि होता है। *य* का अर्थतत्त्व होना है *प्रयोग*, पर सबधतत्त्व *से*। *त्सि* का अर्थतत्त्व है *स्थान*, पर सबधतत्त्व *का*। एक ही अक्षर *ब* का अर्थ सुर की विभिन्नता से कई प्रकार का हो सकता है और *बबबब* मे प्रत्येक अक्षर मे थोडा थोडा सुर-भेद होने से *तीन महिलाओं ने राजा के कृपापात्र के कान उमेठे* यह तात्पर्य हुआ। इस प्रकार अयोगात्मक भाषाओ मे सबधतत्त्व का बोध स्वतत्र शब्दो से तथा पदक्रम से होता है, वाक्य के पदो मे कुछ जोड कर या विकार लाकर नही।

योगात्मक भाषाओ मे सबधतत्त्व अर्थतत्त्व के साथ जोड दिया जाता है, इनमे अर्थतत्त्व और सबधतत्त्व का योग होता है। योगात्मक वर्ग के भी तीन विभाग होते है—अश्लिष्ट, श्लिष्ट और प्रश्लिष्ट। अश्लिष्ट योगात्मक भाषाओ मे अर्थतत्त्व के साथ सबधतत्त्व जुडता है पर दोनो की सत्ता स्पष्ट झलकती है। हिन्दी मे इनके उदाहरण *शिशु-त्व सु-जन-ता, कर-गा, करे-गी* आदि होगे। इस वर्ग की भाषाओ का सर्वोत्तम उदाहरण उराल-अल्ताई परिवार की तुर्की आदि भाषाओ

मे मिलता है। तुर्की मे *सेव्* का अर्थ होता है 'प्यार करना' और इसी धातु से *सेव्+मेक्* (तुमर्थ—प्यार करना,) *सेव्-इस्-मेक्* (परस्पर प्यार करना), *सेव्-दिर्-मेक्* (प्यार करवाना) *सेव्-इल्-मेक्* (प्यार किया जाना), *सेव्-दिर्-इल्-मेक्* (प्यार करवाया जाना), आदि शब्द बनते है। इसी प्रकार *यज्* धातु का अर्थ है *लिखना* और उसके *यज्-मक्, यज्-इस-मक्, यज्-दिर्-मक्, यज्-इल्-मक्* आदि शब्दो की सिद्धि होती है।

अश्लिष्ट भाषाओ के भी अवान्तर विभाग किस स्थान पर सबध-तत्त्व जोडा जाय इस विचार मे कई होते है—पूर्वयोगात्मक, मध्य-योगात्मक, अन्तयोगात्मक अथवा पूर्वान्तियोगात्मक। **पूर्वयोगात्मक** अश्लिष्ट भाषाएँ अफ्रीका की बाटू परिवार की है। इस परिवार की काफिर भाषा मे **कु** का अर्थ सप्रदान का होता है (कु *ति*-हमको, कु *नि*—उनको), जुलू मे *उमु* का अर्थ एक वचन और **अब** का बहुवचन, उमुन्त (एक आदमी) **अबन्तु** (बहुत से आदमी,) और *न्ग* का से (**न्गबन्तु**—आदमियो से) होता है। बाटू भाषाओ का यह पूर्वयोग ही प्रधान लक्षण है।

अन्तयोग का सर्वोत्तम उदाहरण उराल-अल्ताई और द्राविड भाषाओ मे मिलता है। उराल-अल्ताई की तुर्की भाषा से *सेव-मेक्*, *यज्-मक्* आदि का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। द्राविड भाषाओ के ये नमूने है—

संस्कृत	कन्नड	मलयालम
सेवका	*सेवक-रु*	*सेवकन्-मार*
सेवकान्	*सेवक-रन्नु*	*सेवकन्-मारे*
सेवकै	*सेवक-रिंद*	*सेवकन्-माराल्*
सेवकेभ्य (*सम्प्रदान*)	*सेवक-रिगे*	*सेवकन् मारकु*
		सेवकन-मारकाइ
सेवकानाम्	*सेवक-र*	*सेवकन्-मारुटे*
सेवकेषु	*सेवक-रल्लि*	*सेवकन्-मार-इल्*

कन्नड के इन रूपो मे र- बहुवचन का बोधक है, नु- (नु, नन्नु) एकवचन का द्योतक होता है। मलयालम मे सस्कृत सेवक का रूप सेवकन् होता है और बहुवचन का प्रत्यय *मार्* है। कर्त्ता मे अविकृत (सेवकन् एकवचन) लाया जाता है। और विभक्तियो के प्रत्ययरूप—*ए* (कर्म) *आल* (करण), नु, *आड* (सप्रदान), टे (सबध) और *-इल* (अधिकरण) होते है। बहुवचन के रूप ऊपर दिये है, एकवचन के क्रम से *सेवकने सेवकनाल, सेवकन्नु, सेवकनाड, सेवकन्टे, सेवकनिल्* होते है।

पूर्वान्तयोग तथा **मध्ययोग** के उदाहरण प्रशात महासागर के द्वीपो की भाषाओ मे मिलते है। इसमे प्रधान (अर्थतत्त्व-द्योतक) शब्द के पहले और बाद को और यदि शब्द दो अक्षरो का हुआ तो मध्य मे सबधतत्त्व जोडे जाते है। न्यूगिनी की मफोर भाषा से ये उदाहरण दिए जाते है—*ज-स्नफ* (मै सुनता हूँ), *व-स्नफ* (तू सुनता है), *इ-स्नफ* (वह सुनता है,) *सि-स्नफ* (वे सुनते है), *ज-स्नफ-उ* (मै तेरी बात सुनता हूँ), *सि-स्नफ-उ* (वे उसकी बात सुनते है)। मुडा भाषाओ मे मध्ययोग के पर्याप्त उदाहरण मिलते है, जैसे सथाली भाषा मे *मँझि* (मुखिया), *मपँझि* (मुखिया गण), *दल्* (मारना) *दपल्* (परस्पर मारना)।

श्लिष्ट उन योगात्मक भाषाओ को कहते है जिनमे सबधतत्त्व को जोडने के कारण अर्थतत्त्व वाले भाग मे भी कुछ विकार उत्पन्न हो जाता है। तथापि सबधतत्त्व की झलक अलग मालूम पडती है जैसे स० **वेद**, *नीति, इतिहास*, से *वैदिक, नैतिक, ऐतिहासिक*। स्पष्ट ही यहाँ **इक** जोडा गया है पर परिणामस्वरूप **वेद** आदि शब्दो मे भी विकार आ गया। अथवा अरबी *क्तुब्* धातु का अर्थ होता है 'लिखना', और उसमे स्वरो को जोड कर *किताब्, कुतुब्, कातिब्, मकतूब्* आदि शब्द बनते है। यहाँ भी विभिन्न स्वरो का योग स्पष्ट झलकता है। श्लिष्ट भाषाओ के भी दो विभाग किए जाते है—एक ऐसी जिनमे जोडे हुए भाग (ध्वनियाँ) मूल (अर्थतत्त्व) के बीच मे घुल-मिल कर रहते है और दूसरी ऐसी जिनमे जोडे हुए भाग प्रधानत मूल भाग के बाद

आते है। अरबी आदि सामी परिवार की भाषाएँ प्रथम विभाग की उदाहरणस्वरूप है और सस्कृत आदि प्राचीन आर्यभाषाएँ दूसरे की।

प्रश्लिष्ट भाषा उसे कहेंगे जिसमे योग इस प्रकार हुआ है कि सबध-तत्त्व को अर्थतत्त्व से अलग कर पाना असम्भव सा हो, जैसे सस्कृत के *शिशु* और *ऋजु* शब्दो से बने *शैशव* और *आर्जव* शब्द। प्राचीन आर्य-भाषाओ की शब्दावली मे कुछ अश इसी वर्ग का है। प्रश्लिष्ट भाषाओ मे न केवल एक अर्थतत्त्व का और एक या अनेक सबधतत्त्वो का योग होता है बल्कि एक से अधिक अर्थतत्त्वो का समास की प्रक्रिया मे योग हो सकता है, जैसे स० *राजपुत्र*, *राजपुत्रगण* *राजपुत्रगणविजय*। प्रश्लिष्ट भाषाओ मे कभी-कभी पूरा वाक्य ही जुड-जुडा कर एक शब्द बन जाता है। जैसे ग्रीनलैड की भाषा मे *अउलिसरिअतारसुँअपाक्* (वह मछली मारने के लिए जाने की जल्दी करता है) मे *अउलिसर* (मछली मारना), *पेअर्तोर* (किसी काम मे लाना) और *पेन्नुसुअपाक* (वह जल्दी करता है) इन तीन का सम्मिश्रण है। अमरीका महाद्वीप के मूल निवासियो की भाषाएँ अधिकतर इसी तरह की है।

भाषाओ का आकृतिमूलक वर्गीकरण विभिन्न भाषाओ मे किसी एक लक्षण की प्रधानता पर (न कि सम्पूर्णता पर) निर्भर है। अँगरेजी और हिन्दी मुख्यरूप से अयोगात्मक भाषाएँ है, चीनी इनमे भी अधिक अयोगात्मक है। तुर्की, काफिर, कन्नड आदि अश्लिष्ट योगात्मक है पर इनमे भी कही-कही श्लिष्ट के लक्षण दिखाई पडते है—*यज् सक्* मे दोनो भागो मे -*अ*- किन्तु *सेव्-मेक्* मे दोनो भागो मे *ऍ*-, *सेवकन* मे *आल्* जोडने से -*न्*- *न्न्* आदि विकार श्लिष्ट के लक्षण है। इसी प्रकार पालीनेशी भाषाएँ मुख्यरूप से अश्लिष्ट योगात्मक है पर कुछ लक्षण अयोगात्मक दिखाई देते है। वास्क योगात्मक अश्लिष्ट भाषा है पर कुछ अश प्रश्लिष्ट दिखाई पडते है। यही हाल बाटू भाषाओ का है। सस्कृत मे श्लिष्ट और प्रश्लिष्ट दोनो अश मिलते है।

जिन भाषाओ का इतिहास मालूम है, उनसे पता चलता है कि कल जो भाषा श्लिष्ट थी वही आज कालातर मे अयोगात्मक हो चली

है। सस्कृत से विकसित हिन्दी आदि आधुनिक भाषाएँ उदाहरण-स्वरूप है। चीनी भाषाओ मे सबधतत्त्व सूचक शब्द किसी समय पूरे अर्थतत्त्व थे यह अनुमान किया जाता है। परसर्ग के रूप मे प्रयोग मे आने वाले शब्द (मे का आदि) पूर्वकाल मे अर्थ-पूर्ण (*मध्य, कृत* आदि) शब्द थे यह तो स्पष्ट ही है। सस्कृत के क्रियापदो मे *-ति सि मि* आदि प्रत्यय वस्तुत पूर्वकाल के सर्वनामो के अश है यह निश्चय प्राय भाषाविज्ञानियो ने स्वीकृत किया है। स्वतत्र शब्द कालातर मे प्रत्यय का रूप धारण कर लेते हैं इस बात के प्रचुर उदाहरण अन्य भाषाओ मे भी मिलते है। इसका उल्लेख ऊपर बाईसवे अध्याय मे पृ० १५९ पर किया जा चुका है। इस प्रकार अनुमान है कि प्रश्लिष्ट से श्लिष्ट, उससे अश्लिष्ट योगात्मक और अत मे अयोगात्मक अवस्था आती है। और फिर अयोगात्मक मे अश्लिष्ट योगात्मक, उससे श्लिष्ट और फिर प्रश्लिष्ट अवस्था आती है। अनुमान है कि कालचक्र मे भाषा का विकास इसी क्रम से होता आ रहा है। वर्तमान सृष्टि की प्रारंभिक भाषा प्रश्लिष्ट थी या अयोगात्मक, इसका निश्चय करना, साक्षी प्रमाणो के अभाव मे, नितान्त असम्भव है। मॅक्समूलर का यह अनुमान कि आदिम आर्य केवल धातुओ का उच्चारण कर विचार विनिमय करता था उपहासास्पद ही सिद्ध हुआ।

(ख) इतिहासिक वर्गीकरण

जिस प्रकार परिवारो के इतिहास मे कोइ आदि पुरुष होता है और उससे फिर शाखाएँ फूट निकलती है, उसी प्रकार ऐसा समझा जाता है कि आज जो भाषाएँ ससार मे मौजूद है उनकी भी आदि-भाषाएँ थी। यूरोप वालो को जब १७वी शताब्दी मे सस्कृत का पता चला और बाद को विद्वानो ने उसकी, लैटिन और ग्रीक से तुलना की, तो इनमे इतनी समानता की बाते मिली कि इनके आधार पर इनके आदि स्रोत की भाषा की कल्पना की गई। इस आदि भाषा की शाखाएँ प्रशाखाएँ ही वर्तमान काल की आर्यभाषाएँ है। आदिम आर्यभाषा की

ध्वनियो और व्याकरण तथा शब्दावली का अनुमान करके कैसे-कैसे बाद की आर्यभाषाएँ उससे फूट निकली—यह सब अध्ययन उसी प्रकार है जैसा किसी आदि पुरुष के परिवार का। इसी दृष्टात से भाषाओ के विषय मे भी जननी, भगिनी, दुहिता आदि शब्दो का प्रयोग किया गया। पर मनुष्य-वर्ग के परिवार और इतिहासिक सबध रखनेवाली भाषाओ के बीच की ममता को केवल अलकाररूप समझना चाहिए। जननी, बहिन, बेटी आदि शब्द भाषाओ के बारे मे पूरे तौर से उपयुक्त नही। *जबला* की लडकी *जाबाली* हुई। दोनो का अलग अलग अस्तित्व रहा, दोनो का समकालत्व भी रहा। पर भाषा के विषय मे ऐसा नही होता। जो बेटी कही जाती है वह दूसरे समय और दूसरे रूप मे मा ही है, जो बहने है वह मा के ही कालान्तर के रूप है। भाषा-रूपी मा-बहने एक साथ नही ठहर सकती। इसीलिए जहाँ तक सम्भव हो मा-बहन आदि शब्दो का प्रयोग ही नही करना चाहिए और करे भी तो दृष्टात की सीमा समझ कर। भाषा तो प्रवाहरूप है, उसके अलग अलग नाम उसी प्रकार से है जैसे एक ही जलप्रवाह के स्थानभेद से भागीरथी, जाह्नवी, गगा और हुगली।

इतिहासिक सबध स्थापित करने के लिए, भाषाओ के बीच की परस्पर, स्थान की समीपता और साधारण समानता से विचार उत्पन्न होता है। यह विचार बहुधा ठीक ही उतरता है। हिन्दी, बगाली, पजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी एक-दूसरी के निकट है, समानता भी है, इनका इतिहासिक सबध है। पर मराठी के समीप ही तेलुगु भी है और कन्नड भी। इन दोनो के शब्दसमूह मे बहुतेरे ऐसे शब्द है जो मराठी मे भी है। तब भी मराठी का इनसे इतिहासिक सबध नही है। इसलिए केवल शब्दसमूह की समानता से इस प्रकार का सबध स्थापित नही होता।

किसी भाषा के शब्दसमूह को चार भागो मे बाँटा जा सकता है—

(क) किसी जन-समुदाय के सभी व्यक्तियो द्वारा प्रयोग मे लाए जाने वाले शब्द—यथा सर्वनाम, माता, पिता, आदि सबधियो

के नाम, एक दो आदि संख्यावाचक शब्द, खाना, पीना, सोना, बैठना, उठना आदि सर्वसाधारण क्रियाओं के द्योतक शब्द, सर्वसाधारण व्यवहार में लाई जाने वाली चीजों के नाम, जैसे पानी, आग, घर, मुँह, आँख, नाक आदि।

(ख) ऐसे शब्द जो सभी व्यक्तियों द्वारा व्यवहार में नहीं आते किन्तु जिनको समझते सभी हैं, जैसे बिछाने-ओढने के कपड़े, पहनने के साधारण कपड़े, खाने पीने के साधारण बर्तन आदि के बोधक शब्द धोती, थाली, लोटा आदि।

(ग) सभ्य व्यक्तियों द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले उनके साधारण व्यवहार के शब्द, जैसे लिखना, पढ़ना, कलम, किताब, रुपया, पैसा, सवारी, तख्त, चारपाई, मेज, कुर्सी, कमरा, गुसलखाना आदि।

(घ) ऐसे शब्द जो केवल विशेष कलाओं और विद्याओं के व्यवहार में आते हैं और जिनका व्यवहार उस जनसमुदाय के बहुत परिमित वर्ग में होता है, जैसे चित्रकला, साहित्यशास्त्र भाषाविज्ञान आदि के पारिभाषिक शब्द।

शब्दसमूह के ये चार वर्ग आपेक्षिक दृष्टि से ही, मोटे तौर पर किए गए हैं इनमें परस्पर कोई नपी-तुली विभाग-रेखा नहीं है। यदि किसी जन-समुदाय की स्थिति जरा सुख-सुविधा की है तो (ख) वर्ग वाले बहुत से शब्द (क) वर्ग के ही होंगे और यदि पढ़ने लिखने आदि का सर्वव्यापक नियम है तो (ग) वर्ग के भी बहुत से शब्द (क), (ख) में आ जायँगे। फिर एक देश और दूसरे देश के रहन-सहन के अन्तर से भी भेद पड़ सकता है। इंगलैंड में मेज, कुर्सी आदि का प्राय सर्वसाधारण प्रयोग है, काँटे-छुरी आदि का भी। पर अपने देश में इन चीजों का बोध कराने वाले शब्द (ग) वर्ग में ही आ सकेंगे। जापान की धन-समृद्धि अच्छी है और वहाँ के जन-साधारण की रहन-सहन का तल भी ऊँचा है पर उनकी सभ्यता यूरोप की सभ्यता से भिन्न है। इस कारण जापान के जनसाधारण के व्यवहार के बहुत से पदार्थ यूरोपीय जन-साधारण के प्रयोग में नहीं आते और न यूरोप वालों के जापान वालों के, तथा

न इनके लिए शब्द ही एक दूसरे की भाषा में मिलेंगे। तब भी इतिहासिक संबंध की जाँच करने के लिए शब्दावली का यह वर्गीकरण उपयोगी है और ऐसा संबंध (क) और (ख) वर्गों की समानता पर निर्भर होता है।

दो भाषाओं के बीच की समानता की जाँच करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इतिहासिक संबंध होने के लिए शब्दों की तद्रूपता (एकरूपता) नहीं, बल्कि समानता चाहिए। संस्कृत और हिन्दी का संबंध *पत्ता, गया, हाथ, पच, राय, पूत*, आदि शब्दों से सिद्ध हो सकता है न कि *पत्र, गत, हस्त, पच, राजा, पुत्र*, आदि से जिनको हिन्दी ने ज्यों का त्यों संस्कृत से ले लिया है। हर एक भाषा अपने पास-पड़ोस की भाषाओं से अथवा अपनी पूर्ववर्ती साहित्यिक भाषाओं से शब्द अपनी जरूरत के हिसाब से लिया ही करती है। फारसी में बहुत से शब्द ज्यों के त्यों अरबी से ले लिए गए हैं, चीनी से जापानी में, फारसी अरबी से उर्दू में, और हिन्दी बंगाली आदि आधुनिक आर्य-भाषाओं में ही नहीं, तेलगू, तामिल, कन्नड आदि द्रविड भाषाओं ने भी संस्कृत से लिए हुए पाए जाते हैं। हिन्दी, बंगाली, मराठी आदि भी परस्पर एक दूसरे से शब्दों का लेन-देन किए हुए हैं।

शब्दों की समानता मिलने पर, ऐसे शब्द जो तत्सम या अर्ध-तत्सम हों उनको अलग कर देना चाहिए क्योंकि वे तो निश्चय ही माँगे हुए हैं। इतिहासिक संबंध के लिए तद्भव शब्द ही विशेष उपयोगी होते हैं।

शब्दावली की समानता से अधिक महत्त्व की चीज व्याकरणात्मक समानता है। जब इतिहासिक संबंध न रखने वाली दो विभिन्न भाषाओं के बोलने वाले लोग एक दूसरे के निकट व्यापार, जय-पराजय, यात्रा आदि कारणों से आते हैं तो प्रायः शब्दों का आदान प्रदान होता है। शब्दों में भी संज्ञाएं विशेष ली जाती हैं। जब ऐसे दो वर्गों की निकटता चिरकाल तक रहती है, या घनिष्ठता अधिक हो जाती है, तभी यह संभव होता है कि व्याकरण की एकआध बात या बोलचाल के मुहाविरे भी एक भाषा से दूसरी में आ जाते हैं। उर्दू में इजाफत

(*शाहे फारस, गरूरे इल्म* आदि मे समाससूचक *ए*), अथवा हिन्दी मे *कि* (*उसने कहा कि*) अथवा *या* का प्रयोग फारसी से, और कई वाक्यो के समूह को मिलाकर बडे-बडे वाक्यो के प्रयोग अगरेजी से लिए गए है। पर एक भाषा दूसरी भाषा मे इतने छोटे अशो को छोडकर व्याकरण उधार नही लेती। सामान्यरूप से व्याकरण अछूती रहती है। प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी टकर के शब्दो मे "एक भाषा के व्याकरण पर दूसरी भाषा का अधिक से अधिक इतना प्रभाव पडता है कि उसके ऐसे नियमो का जो बहुत आवश्यक विचार-धाराओ को नही प्रकट करते शीघ्र ही विध्वस हो जाय।" इसलिए यदि शब्दसाम्य के अलावा व्याकरण की भी समानता मिले, तो इतिहासिक सबध होने के विचार को अधिक पुष्टि मिलती है।

व्याकरण से भी अधिक महत्त्व की चीज ध्वनिसमूह है। जब दो भाषाएँ एक दूसरे के निकट जाती है और एक भाषा के शब्द दूसरी मे जाते है, तब अपरिचित ध्वनियो और सयुक्ताक्षरो के स्थान पर उसी प्रकार की देशी ध्वनियाँ और सयुक्ताक्षर आ जाते है। फारसी के *गरीब, कागज, मज़्बूत, ख़सम, मज़्दूर, मज़ह, मालूम, फला, वक्त* के हिन्दी रूप *गरीब, कागद (कागज) मजबूत, खसम, मजूर, मजा, मालूम, फलाना, बखत* विदेशी ध्वनियो के स्थान पर स्वदेशी ध्वनियो को ही बिठाकर बने है। अँगरेजी के *सिग्नल, लैंटर्न, बॉक्स* के हिन्दी-रूप *सिंगल लालटेन, बकस* अँगरेजी सयुक्ताक्षरो की जगह हिंदी के प्रचलित सयुक्ताक्षरो को रख कर बनाए गए है। कोई भी भाषा दूसरी के ध्वनिसमूह को ज्यो का त्यो नही लेती। यदि विजित वर्ग की भाषा के स्थान पर अधिकाश मे विजयी वर्ग की भाषा आ बैठे, तब ऐसा हो सकता है कि विजयी वर्ग की भाषा मे कोई कोई ध्वनिविकास जो विजित वर्ग की भाषा के अनुकूल हो, द्रुतगति से होने लगता है। द्राविड भाषाओ मे मूर्धन्य ध्वनियो की प्रधानता थी और है, वैदिकपूर्व आर्य-भाषाओ मे ये ध्वनियाँ बिल्कुल नही थी, यह नतीजा सस्कृत, ईरानी, लैटिन और ग्रीक की तुलना करने से निकलता है। पर वैदिककाल के

उपरान्त भारती आर्य-भाषाओ मे मूर्धन्य ध्वनियो (टवर्ग और ष) की उत्तरोत्तर वृद्धि दिखाई देती है। ये नई ध्वनियाँ प्राचीन दन्त्य ध्वनियो से ही विकसित हुई है। दूसरी भाषा को स्वीकार कर लेने वाला वर्ग कुछ काल तक विदेशी ध्वनियो के स्थान पर अपनी निकटतम ध्वनियो का प्रयोग करता है और यदि इनकी जनसख्या भारी हुई और प्रभाव डाल सकी तो यह विजयी वर्ग की ध्वनियो को अपनी विशेष ध्वनियो की ओर विकसित कर लेती है, अन्यथा थोडे समय के बाद विजयी वर्ग की भाषा पूरे तौर से विजित वर्ग की भाषा को हटा देती है। पर यदि विजित वर्ग विजयी वर्ग से दूर रह कर भी अपना दैनिक व्यवहार कर सकता है, तो वह अपनी भाषाओ को सुरक्षित रख सकता है। यही कारण है कि जगलो और पहाडी प्रदेशो मे मुडा भाषाएँ अब भी मौजूद है, और सुदूर दक्खिन मे आर्य-सभ्यता को स्वीकार कर लेने पर भी वहाँ के निवासी अपनी भाषाओ को कायम रक्खे हुए है। इस प्रकार अलग बसे हुए जनसमुदाय की भाषा की रक्षा अधिक हो पाती है। कश्मीर के उत्तरी-पश्चिमी भाग की बोलियो मे अब भी वैदिक भाषा के रूप की रक्षा पजाब और सयुक्तप्रात की भाषाओ से अधिक मात्रा मे मिलती है। जिप्सी (हबूडो की) भाषा मे भी भारतीय आर्यभाषा का व्याकरण और ध्वनियाँ मौजूद है, यद्यपि शब्दावली अधिकाश मे यूरोपीय है।

ध्वनियो का साम्य स्थापित करने के लिए उनकी तद्रूपता अथवा एकरूपता से काम नही चलता। इतिहासिक सबध के लिए चाहिए ध्वनिनियमो के अनुसार ध्वनि-साम्य और ध्वनि-भिन्नता, दोनो मिल कर। ग्रीक *बोउस्*, स० *गौ*, जर्मन *कू*, अ० *काउ* शब्दो से आदि आर्य शब्द **गाउस्* का अनुमान किया गया है, ग्रीक० *देक्*, लैटिन *देकेम्* स० *दश*, गाथिक *तेहुन*, अ० *टेन्* के आधार पर आदि-आर्य के **देक्मु* की कल्पना हुई है। किन्तु स० हि० *पडित* और अ० *पडित* के आधार पर कोई पूर्ववर्ती शब्द नही बन सकता क्योकि इनमे ध्वनि एकता है, और स्पष्ट ही अग्रेजी मे पडित शब्द भारतीय आर्यभाषाओ से उधार लिया

हुआ है। स० घृत, जिप्सी खिल, म० भ्रातृ, जि० भ्रल् भी इन दोनो भाषाओ का सबध स्थापित करते है, क्योकि सस्कृत के सघोष महाप्राण स्पर्श वर्ण जिप्सी मे सर्वत्र अघोष मिलते है। दो भाषाओ के बीच के ध्वनिसाम्य को नियमो मे घटित करना चाहिए। उस समय जहा समता की चूल नियमानुसार नही बैठती, वहाँ उन शब्दो को थोडी देर के लिए अलग रखकर नियमो का निर्धारण करना चाहिए, और ऐसे निर्धारण के हो जाने पर उन अपवादो को भी उठा-उठा कर जाँचना परखना चाहिए।

इतिहासिक सबध के लिए प्राय स्थानिक समीपता से विचार उठता है, शब्दो की समता मे विचार को पुष्टि मिलती है, व्याकरण-साम्य से विचार वादरूप हो जाता है, और यदि ध्वनि-साम्य भी निश्चित हो जाय तो सबध पूरी तरह निश्चय-कोटि को पहुच जाता है। यदि व्याकरण-साम्य न मिलता हो तो विचार विचार-कोटि से ऊपर नही उठ पाता। यह असभव नही कि कोई भाषा विकसित होते होते इतनी भिन्न हो जाय कि व्याकरण की समानता न प्राप्त हो, और दोनो भाषाओ की मध्यवर्ती अवस्थाओ के सूचक लेख भी न मिले। आज हिन्दी और अँगरेजी के बीच परस्पर सर्वनामो, सख्यावाचको, पिता माता आदि सबधो के बोधक शब्दो आदि मे समानता प्राप्त है, किंतु दोनो के व्याकरण मे समानता का लोप हो गया है। सौभाग्य से इन दोनो भाषाओ की पूर्ववर्ती अवस्थाओ के प्रदर्शक ग्रन्थ दोनो तरफ मौजूद है जिनसे इतिहासिक सबध स्थापित हो जाता है। यदि सामग्री उपस्थित न रहती तो हिन्दी और अँगरेजी का सबध विचार-कोटि तक सीमित रहता।

भाषा के विकास के सबध मे यह देखा गया है कि पहले एक भाषा से कई भाषाएँ निकल पडती है, यह अलग क्षेत्रो मे काम किया करती है। उनमे की फिर कोई भाषा प्रधान हो जाती है और दूसरी बोलियो और भाषाओ को दबा देती है। कालातर मे फिर इससे शाखाएँ फूट पडती है, और फिर उनके स्थान पर कोई भाषा प्रधान बनकर सामान्य हो जाती है। यही क्रम जारी रहता है।

सृष्टि के आरंभ मे एक भाषा रही होगी या अनेक, इस कौतूहलपूर्ण प्रश्न का उत्तर तब तक मिलना संभव नही जब तक यह निश्चयपूर्वक न मालूम हो जाय कि मनुष्य की सृष्टि एक स्थान पर हुई या पृथ्वी के विभिन्न स्थानो पर। संसार की भाषाओ की वर्तमान अवस्था के अध्ययन से इस सवाल पर कोई रोशनी नही पडती।

संसार की बहुत-सी जगली जातियो, विशेषकर अमरीका और अफ्रीका की जातियो की भाषाओ का अध्ययन अभी पूरे तौर से नही हो पाया है। जब तक यह न हो पाए तब तक निश्चयपूर्वक यह कहना कि संसार मे कितने भाषापरिवार है असभव है। फ्रीडरिक मलर का अनुमान है कि इस समय प्राय एक सौ परिवार है। कई भाषापरिवार जिनको इस समय तक भाषा-विज्ञानी विभिन्न समझते आए है, उनके बारे मे इधर कुछ विशेषज्ञो ने ऐतिहासिक सबध के पक्ष मे मत प्रकट किया है। उराल-अल्ताई और द्राविड परिवारो मे जो अभी तक प्राय सर्वसम्मति से भिन्न माने जाते थे, अब परस्पर सबध जोडने की कोशिश हो रही है। इधर कुछ विद्वान भूमध्यसागर के क्रीटद्वीप और उस सागर के पूर्व-तटवर्ती प्राचीन भाषाओ से भी इनका सबध स्थापित करना चाहते है और मोहनजदाडो की संस्कृति को द्राविड सिद्ध करते है। आर्य और सामी परिवारो के बीच भी सबध स्थापित करने का हिर्त आदि विशेषज्ञो ने उद्योग किया है। इस प्रकार के प्रयास यदि सफल हो जायें और परिवारो की संख्या कम हो जाय, तो भी वर्गीकरण के जो सिद्धान्त ऊपर निश्चित किए गए है उनमे कोई अंतर नही पडता।

संसार की भाषाओ का विवेचन और वर्णन इस पुस्तक के दूसरे खड मे किया जायगा।

छब्बीसवाँ अध्याय

वाक्य-विचार

हम बहुधा कहते हैं कि भाषा वाक्यों का समूह है और वाक्य पदों का। पद के बारे में विचार करते समय हम देख चुके हैं कि वाक्य का पदों में विभाजन करना व्याकरणकार का काम है, बहुधा अशिक्षित आदमी अपने वाक्य के विभिन्न पदों को अलग अलग नहीं रख पाता। तब भी इतना निश्चय है कि मनुष्य के अन्तःकरण में पदों की अलग अलग स्थिति है अन्यथा एक ही मनुष्य एक शब्द में विभिन्न सम्बन्ध-तत्व लगाकर पदों की सिद्धि न कर पाता। माना कि भाषा के स्पष्ट बाहरी रूप में पदों की अलग अलग स्थिति नहीं है, मनुष्य पदों के समूह (वाक्य) को तो समष्टिरूप में बोलता है। लेकिन क्या अशिक्षित मनुष्य व्याकरण-कार की तरह अपने वाक्यों को अलग अलग रख सकता है? क्या वह इस बात को समझता है कि बोलते समय 'वाक्य' उसके वक्तव्य का अवयव है?

वाक्य सचमुच है क्या? बातचीत करते समय दो आदमी अलग-अलग अपने-अपने मुँह से कुछ ध्वनियों का उच्चारण करते हैं। ये ध्वनियाँ समष्टिरूप में उनके विचार की प्रतिनिधि हैं। जब एक बोलता होता है, तब दूसरा अधिकतर सुनता रहता है और जब वह बोलता है तब पहला सुनता है। पर यदि बात विवादास्पद होती है, और विचार ठंडे दिल से नहीं हो पाता, तब जब एक बोल रहा होता है, तभी दूसरा बीच में बोल उठता है, या कोई बात पूछ बैठता है। ऐसी दशा में पहला अपने वक्तव्य की धारा को बीच में रोककर इस नई आई हुई बाधा या प्रश्न का मुकाबिला करता है, या अनुनय-विनय से अथवा जबर्दस्ती बाधक को चुप करके अपनी बात पूरी करता है। इस तरह यह वक्तव्य

या बात ही एक सम्पूर्ण अवयव है। यह वक्तव्य व्याकरणकार का एक वाक्य हो सकता है अथवा उसके कई वाक्य। जब आदमी बातचीत नही करता, केवल कोई वर्णन करता है या कोई कहानी कहता है तब भी उसकी बात या वक्तव्य मे व्याकरणकार के बहुतेरे वाक्य रहते हैं। लेखक यही बात लेख द्वारा प्रकट करता हैं। अपेक्षा-दृष्टि से बातचीत की **बात** का परिणाम छोटा और वर्णन तथा कहानी वाली 'बात' का बडा होता है। इस तरह भाषाविज्ञानी की दृष्टि से देखा जाय तो यह **'बात'** या **'वक्तव्य'** ही बहुधा भाषा का अवयव है, व्याकरणकार का वाक्य नही। जब हम किसी **'बात'** मे मौखिक या मानसिक रूप मे व्यस्त होते है, तब बीच मे अन्य विषय भी आकर बाधा पहुँचा सकते है। वाद-विवाद मे पडी हुई स्त्रियो को रोते हुए बच्चे को बहलाना पडता है, लेक्चर देते हुए अध्यापक को क्लासरूम मे आ गए चपरासी को विदा करना होता है और व्याख्यान मे मस्त वक्ता को बीच मे प्यास लगने पर पानी माँगना ही पडता है। बीच मे आए हुए इन वाक्यो का स्वतन्त्र अस्तित्व अवश्य होता है।

प्रश्न उठता है कि क्या यह **बात** स्वय सम्पूर्ण होती है ? उत्तर मे हम मानना पडेगा कि यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो वह सम्पूर्ण नही कही जा सकती। उसका, श्राव्य पुरुष की पूर्वापर बातो से तथा वक्ता की भी पूर्वापर बातो मे सबध रहता है। इन सब का समष्टि रूप मे विचार करने पर ही अर्थ स्पष्ट होता है। इसी तरह लेख के एक पैरा का अन्य पूर्ववर्ती और परवर्ती पैराओ से और अध्याय का अन्य अध्यायो से सबध रहता है। प्राय किसी पुस्तक को पढकर हमारे मस्तिष्क मे उसका भाव समष्टिरूप से दो एक वाक्यो मे रहता है। 'भाषाविज्ञान' की पुस्तक पढ जाने पर हमारे दिमाग मे केवल यह भावना रह जाती है कि विषय का प्रतिपादन स्पष्ट हुआ है या नही। उसमे यदि कोई महत्वपूर्ण और अति रोचक विवेचन होगा तो उसकी रेखा स्पष्ट रह जायगी, अन्य सब भूला हुआ अनुद्बोधित अवस्था मे पडा रहेगा। काम पडने पर बहुत सभव है कि कुछ बातो का उद्बोध हो सके,

अन्यथा सम्पूर्ण पुस्तक ही का विषय अति संक्षिप्त अवस्था में उपस्थित रहेगा। इस प्रकार हमारी विचारधारा की बात, एक छोटा अवयव मात्र है, उस बृहत्तर विचारधारा का जो हमारी दिन प्रतिदिन की क्रिया है।

मनोविज्ञानी विद्वान कहते हैं कि जब प्रात काल हम जगते हैं उस समय से लेकर नींद प्रारम्भ होने तक हमारे मन की क्रिया एक अविच्छिन्न धारा में बहती चलती है। विविध विचार उस धारा में तरंगो के समान है, उसी से उठते है उसी में विलीन हो जाते हैं। यदि कोई बात अकस्मात् हो गई जिसने उथल-पुथल मचा दी तो वह उस तरंग की तरह है जो धारा में किसी चीज के इधर-उधर से गिर पडने के कारण ऊँची उठ जाती है। अपनी नित्यप्रति की क्रियाओ को करते समय हमें तत्कालीन तरंग का ही ध्यान रहता है, अन्य तरंगे भूली रहती हैं। और यदि कोई पूर्वकाल की सुखदायक तरंग है तो उसको हम बार-बार उद्बोधित करके (मानसिक) सुख लूटते रहने का व्यसन डाल लेते है और यदि कोई प्रबल तरंग दुखदायक है और बार-बार विचारधारा में आती है तो उसको बलात हटा देने की कोशिश करते है और निर्बल मनवाले उसको हटाने की मदद के लिए मादक वस्तुओ का सेवन करने लगते हैं। मनोविज्ञानियो का दावा तो यहाँ तक है कि हम जगकर विचारधारा को उसी जगह से पकड लेते है जहाँ उसे पिछली रात को निद्रा के पूर्व छोडा था। इसीलिए आत्मिक उन्नति की ओर अग्रसर करनेवाले साधु महात्मा यह उपदेश देते है कि सोने के पूर्व और जगने के तुरन्त बाद परमेश्वर का ध्यान और उसके नाम का जप करना चाहिए और स्वाध्याय मे चित्त लगाना चाहिए।

इस तरह यह निश्चय होता है कि हमारी अटूट विचारधारा मे हमारी बात या वक्तव्य एक तरंग मात्र है, केवल एक अवयव। लिखित भाषा मे इस अवयव का विश्लेषण बडी आसानी से किया जा सकता है। बातचीतवाली बात मे भी आसानी से, पर लेख की अपेक्षा कम। परन्तु मौन विचार की बात का विश्लेषण जरा कठिन काम है। तब भी

अभ्यास करने से यह काम थोडी-बहुत सफलता से हो सकता है। सफल व्याख्याता इस अभ्यास का आदी हो जाता है।

व्याकरणकार 'वाक्य' को सम्पूर्ण अवयव मानते है, पर ऊपर के विवेचन मे हमको यह स्पष्ट मालूम पड गया कि वाक्य तो मनुष्य की बात या वक्तव्य का अशमात्र है। और जब तात्विक दृष्टि से बात ही सम्पूर्ण नही, वह विचारधारा की तरग मात्र है, तब वाक्य क्या सम्पूर्ण होगा? और व्याकरणकार वाक्य का विचार अलग-अलग स्थिति रखने वाले पदो की समष्टि या सग्रह के रूप मे करता है। वह वाक्य को सेना के स्क्वाड के रूप मे सोचता है जिसमे प्रत्येक सिपाही को लाकर अपनी-अपनी जगह खडा कर दिया जाता है। पर वास्तविक बात है इसकी उलटी। हम स्क्वाड की स्थिति को तात्विक पाते है और इन सिपाहियो को अपेक्षाकृत काल्पनिक। और कम्पनी की स्थिति स्क्वाड की अपेक्षा अधिक वास्तविक है। इस रूपक को ऊपर बाँधते-बाँधते हम उस सम्पूर्ण सेना तक पहुँचते है जो हमारी विचारधारा का प्रतिरूप है।

हमारी यह विचारधारा कोई स्वतन्त्र सत्ता की चीज नही। इस पर हमारे सम्पर्क मे आए हुए अन्य प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मनुष्यो की विचारधाराओ का असर पडता है, और हमारी विचारधारा का अन्य प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मनुष्यो की विचारधाराओ पर। इस प्रकार हमारी विचारधारा स्वय एक बृहत्तर विचारधारा का अवयव-मात्र है। विचार की शक्ति तोलने वाले विद्वान और ऋषि तो विचारधारा के प्रभाव को बहुत दूर तक पहुँचाते है। योगदर्शन के अनुसार अहिसा की प्रतिष्ठा मे वैरनिरोध अवश्य होता है। बुद्ध भगवान की मेत्ती (मैत्री) का प्रभाव अगुलिमाल आदि डाकुओ पर ही सीमित नही था नालागिरि ऐसे प्रचड हाथी पर भी हुआ था। ब्रह्मर्षियो के आश्रम मे सिहो के अहिस्र हो जाने के बहुत से उदाहरण आर्य साहित्य मे मिलते है, जिनको काल्पनिक कथानक कह कर सर्वथा नही टाला जा सकता। सच्चे धार्मिक मनुष्य को विचारधारा के अप्रत्यक्ष प्रभाव मे भी विश्वास होना है,

अन्यथा दूसरो के लिए की गई प्रार्थना, पूजा और जप का कोई मूल्य नही। और जब थोड़े-से ही अभ्यास से मेस्मारिज्म जाननेवाला आदमी दूसरो के विचारो तक पहुँच सकता है, तब विचार की अपरपार शक्ति की सहसा अवहेलना नही की जा सकती। इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि विचार की केवल एक धारा है जिसके अवयव रूप ही व्यक्तियो की विचारधाराएँ है। जिस प्रकार भूत-विज्ञान की आधुनिक दृष्टि सम्बन्धित्ववाद के पक्ष मे है और प्रत्येक भूत का अन्यो पर वास्तविक प्रभाव बतलाती है उसी प्रकार विचार के बारे मे भी ज्ञान रखना चाहिए।

इस तरह व्यापक दृष्टि से देखन से पता चलता है कि जब हम वाक्य को सम्पूर्ण कहते है तब मनोविज्ञान की दृष्टि से, सम्पूर्णता की विडम्बना ही करते है। हमारा यह कहना उसी प्रकार का है जिस प्रकार रसिक सहृदय प्रियतमा की आँख की रमणीयता मे मस्त होकर उस प्रेम की सत्ता के बाकी के अग भूल बैठता है, या मेडिकल कालेज के चीर-फाड के हाल मे पडी हुई लाश मे से एक अग को लेकर विद्यार्थी उसी के विश्लेषण की धुन मे मस्त हो जाता है। हमारी भाषा हमारी विचार-धारा का प्रतिरूप है और वाक्य उसका बहुत छोटा अश है, बहुत जरा सा, जैसे धारा मे एक बूँद।

व्याकरणकार या भाषाविज्ञानी जब इस वाक्य को लेकर अध्ययन के लिए उसका विश्लेषण करने बैठता है तब वह सम्पूर्ण स्थिति के एक अवयव का ही अध्ययन करने बैठता है। और उस अध्ययन के द्वारा, यदि उसकी दृष्टि मे व्यापकता और अनुपात का प्रमेय परिज्ञान है तो, उसे अवश्य भाषा के तत्वो का ज्ञान हो जायगा, उसी प्रकार जैसे बूँद की वास्तविकता के जान लेने से जल का, पीपल की गदिया मे से निकाले हुए एक बीज के ज्ञान से वृक्ष का अथवा नमकीन पानी की एक बूंद के चखने से नमक का।

वाक्य हमारी बात या वक्तव्य का अवयव है। एक वाक्य को हमेशा अन्य वाक्यो की परिस्थिति मे देखना चाहिए। बोल-चाल मे बहुधा सभी भाषाओ मे छोटे-छोटे वाक्य होते है। लिखित भाषा मे अपेक्षाकृत

बड़े-बड़े वाक्य होते हैं। बोल-चाल में कभी-कभी वाक्य एक ही शब्द का होता है, जैसे बातचीत में लगे हुए छात्रों से मास्टर कह पड़ता है 'पढ़ो'। पर व्याकरणकार की दृष्टि से यह वाक्य एक शब्द का नहीं है। प्रकरण के अनुकूल इसमें बहुत सी बातें ऐसी अन्तर्हित हैं जो शब्दों में प्रकट नहीं हुई तब भी बोलनेवाला और वाच्यपुरुष सभी समझ गए। इसी प्रकार रसोई में खाते हुए बालक ने यदि केवल नमक कहा तो माँ ने यही नहीं किया कि उसको नमक दे दिया बल्कि उसे यह भी ज्ञान हो गया कि किसी चीज में या तो उसने नमक डाला नहीं या कम डाल गई। यह सारा प्रकरण शब्दों से ही प्रकट हो यह जरूरी नहीं, इंगित और आकार द्वारा अधिकांश जाहिर हो जाता है। अशिक्षित मनुष्य की वर्णनशैली और शिक्षित की वर्णनशैली में भी विशेष अन्तर होता है। शिक्षित आदमी लिखित भाषा से प्रभावित होकर बड़े-बड़े वाक्य बोलता है, अशिक्षित छोटे-छोटे और स्वाभाविक। उदाहरणार्थ अवधी की गुलगुलवाली कथा का यह अंश लें—

एक राजा रहइँ अउ महतारी रहइ। अउ दुलहिन रहइ। महतारी रोजु छप्पन परकाल के भोजन बनावइ अउ अपना खाइ अउ अपने लड़िकन क खवावइ। दुलहिन खातिर एक बेझरि कि रोटी सेंकइ। आधी रोटी अउ लोनु सबेरे देइ अउ आधी साँझ क।

इसी का लिखित भाषा में रूपान्तर कुछ-कुछ इस ढंग का होगा—

एक राजा अपनी माँ और स्त्री के साथ कहीं रहता था। उसकी माँ रोज छप्पन प्रकार का भोजन बनाती, स्वयं खाती और अपने लड़के को खिलाती मगर दुलहिन की खातिर बझरे की एक रोटी सेंकती। उसमें से आधी रोटी नमक के साथ सबेरे देती बाकी आधी सन्ध्या को।

इन दो अंशों का परस्पर अन्तर स्पष्ट है। लिखित भाषा का पहला वाक्य ग्यारह शब्दों का है, बोलचाल की भाषा में इसकी जगह तीन छोटे-छोटे वाक्य हैं, दो-दो तीन-तीन पदों के, व्याकरणकार के शब्दों में केवल कर्ता और क्रिया के। ये वाक्य आपस में समुच्चय-बोधक अउ से जुड़े हैं। लिखित भाषा में समुच्चय-बोधक पदों का इतना व्यवहार नहीं है।

लिखित भाषा में एक वाक्य का दूसरे वाक्य से सम्बन्ध भी बार-बार सर्वनामपद (*उसकी, उसमें*) ला लाकर जतलाया जाता है, बोलचाल में इसकी जरूरत नहीं पड़ती। बड़े-बड़े वाक्य भाषा के लिए स्वाभाविक नहीं हैं।

वाक्य में सामान्य रूप से दो अंश माने जाते हैं उद्देश्य और विधेय। हर वाक्य में पूर्ववर्ती वाक्य का कुछ न कुछ अंश दुहराया जाता है और कुछ नया होता है। यही नया अंश अगले वाक्य का दुहराया हुआ अंश हो जाता है और अन्य नया अंश उसके साथ आ जाता है। इस प्रकार वाक्य-परम्परा चलती रहती है। इस कथन का उदाहरण व्याकरण से नितांत अनभिज्ञ लोगों से बात करने से मिल जायगा। उदाहरणार्थ यह अवतरण देखें।

भाई, एक थे राजा। वह राजा रोज सबेरे उठें। उठें तो रोज देखें एक सोने का महल। महल देखकर खुशी से फूल उठें। खुश होकर बुलवावें गरीब अनाथों, विधवाओं और ब्राह्मणों को। बुलवाकर महल के टुकड़े कर करके बाँट दें उनको।

आज हम लिखित भाषा से इतने परिचित हो गए हैं कि स्वाभाविक भाषा को भूल-सा बैठे हैं तब ऊपर दिया हुआ उदाहरण या इसी प्रकार के अन्य अवतरण अटपटे और कृत्रिम से लगेंगे। पर यदि कभी शाम को आपस में किस्से-कहानी कहते हुए अपने ही नौकर-चाकरों की बातें सुनें तो मालूम होगा कि उनकी शैली से हम कितनी दूर जा पड़े हैं। पढ़े-लिखे आदमी का दिमाग इतना शिक्षित हो गया है कि उसे बार-बार दुहराए हुए अंशों की जरूरत नहीं। जरूरत तो दूर, उस पर वे अंश भारी गुजरते हैं। पर अशिक्षित मनुष्य के लिए इसकी बराबर जरूरत रहती है। इसीलिए गाँव में जाकर शहर का जेंटिलमैन चुनाव की स्पीच जब अपनी स्टैंडर्ड शैली में देकर समझने लगता है कि मैंने बाजी मार ली तो वह भूल करता है। उसकी बातें सुनकर अधिकांश जनता भौंचक्की-सी बैठी रह जाती है और बाद को गाँव के नेता जब स्पीच का भावार्थ शाम को अलाव पर बैठकर गाँव की भाषा में समझाते हैं तब उस भोली-भाली जनता की समझ में कुछ आता है।

उद्देश्य अधिकतर संज्ञा (कर्ता) के रूप मे माना जाता है और विधेय क्रिया के रूप मे। यह विभाग हमारी आधुनिक आर्य-भाषाओ के अनुकूल है। पर यह अन्य परिवारो की भाषाओ पर सर्वथा लागू नही है। विशेषकर ऐसी भाषाओ मे जहाँ संज्ञा, क्रिया आदि पद-विभाग ही नही, वहाँ उद्देश्य विधेय के लक्षण ढूँढना असगत होगा। वहाँ उद्देश्य विधेय केवल दुहराए हुए अशो और नए आए हुए अशो के रूप मे अवश्य उपस्थित रहते है।

वाक्य का एक लक्षण यह भी बताया जाता है कि बहुधा वाक्य को हम एक साँस मे बोल जाते है। यह लक्षण भी केवल बोलचाल के छोटे छोटे वाक्यो पर ही घटित हो सकता है, साहित्यिक भाषा के वाक्यो पर नही। सामान्य रूप से तीन सेकण्ड तक आदमी बिना गहरी साँस लिए बोल सकता है। पर यह कौशल हम प्लैटफार्म पर बोलते समय ही दिखाते है। अन्यथा यदि वाक्य बडा हुआ तो चार-पाँच शब्दो के बाद साँस ले लेते है। इस प्रकार साँस वाला लक्षण केवल बोलचाल के वाक्यो पर ही लगता है। बोलते समय हमारे मस्तिष्क को भी सावधान रहना पडता है। कभी-कभी हम सभी ने अनुभव किया होगा कि हम कई वाक्य पढ जाते है पर अर्थ का कुछ बोध नही होता। ऐसी दशा मे अवश्य ही हमारा अवधान पढी हुई चीज पर न था, था कही और। यह अवधान भी अभ्यास की चीज है। साधारण मनुष्य को विशेषकर मेहनत-मजदूरी करके जीविका-उपार्जन करने वाले को, इसका अभ्यास नही। इस कारण से भी बडे बडे वाक्य उसकी समझ मे नही आते।

वाक्य मे पदक्रम अलग-अलग भाषाओ का अलग-अलग होता है। उदाहरणार्थ अँगरेजी मे कर्म का क्रिया के बाद स्थान है, हिन्दी मे क्रिया के पूर्व। दोनो भाषाओ मे कर्त्ता का स्थान सर्वप्रथम समझा जाता है पर यदि हम बोलचाल की अँगरेजी या हिन्दी का परीक्षण करे तो हमे इस नियम के बहुतेरे अपवाद मिलेगे। इसी प्रकार समस्त पदो के अंशभूत पदो का क्रम भी हर भाषा की परम्परा के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है।

जितनी ही भाषा अयोगावस्था की होगी उतना ही उसमें पदक्रम का महत्त्व होगा।

हमारे देश मे प्राचीन तत्वविदो ने जाति, गुण क्रिया द्रव्य मे शब्दो का विभाग किया था, और व्याकरणकारो ने सज्ञा, सर्वनाम कृदन्त, तद्धित और अव्यय मे। इसी प्रकार ग्रीस के प्राचीन तत्ववेत्ता अरस्तू ने भाषा के चार विभाग माने थे—सज्ञा, विशेषण, क्रिया और अव्यय। बाद को अवान्तर भेद होते-होते ये चार, दस भागो मे परिणत हो गए। इनका विचार ऊपर पदव्याख्या का विवेचन करते समय किया गया है और यह बतलाया गया है कि यह वर्गीकरण किसी भी अर्थ मे भाषा के लिए मौलिक नही कहा जा सकता। साराश यह कि हम इसी परिणाम पर पहुँचते है कि वाक्य का कोई ऐसा विश्लेषण नही किया जा सकता, जो ससार की सभी भाषाओ पर सर्वथा लागू हो सके। वह हमारी 'बात' का अग है, और हमारी 'बात' हमारी भाषा का अवयव। हमारी भाषा हमारी विचारधारा की प्रतिनिधि है ही।

वाक्य के विभिन्न पदो का समुचित **अन्वय** होना चाहिए। अन्वय का अर्थ है सगति तथा सबध। योगात्मक भाषाओ मे इसका अधिक महत्व है। उदाहरणार्थ, सस्कृत मे विशेषण और विशेष्य के लिंग, वचन और विभक्ति, तीनो मे अन्वय होना चाहिए तथा कर्मवाच्य की क्रिया का कर्म से और कर्तृवाच्य वाली का कर्ता से। अयोगात्मक भाषाओ मे इस प्रकार का बहुत सा काम पद-क्रम से निकाल लिया जाता है। योगात्मक भाषाओ मे पद-क्रम का इतना महत्व नही यह बात ऊपर कही जा चुकी है।

वाक्य के पदो मे परस्पर तीन गुण रहने है **आकाक्षा, आसक्ति** और **योग्यता**। इनके बिना वाक्य या तो अपूर्ण रहेगा या अनर्गल प्रलाप। यदि हम केवल *अध्यापक* कह कर चुप हो जायँ और इस पद का सम्बन्ध, प्रकरण न बनावे तो हमें आकाक्षा रहेगी कि *अध्यापक* का क्या हुआ या उसने क्या किया। इस आकाक्षा की पूर्ति अन्य पदो को करनी ही चाहिए। इसी तरह यदि हम सबेरे *खाना* कहे और कुछ देर बाद *नहीं*

मिला कहे तो प्रकरण से निर्देश न होने पर चतुर सेवक भी हमारी बात का कोई अर्थ न निकाल सकेगा। पदों में परस्पर आसक्ति चाहिए। और यदि हम बोलें *'आग से सींचो'* तो *आग* से *सींचने* की योग्यता न होने के कारण लोग हमारे वाक्य को पागल का प्रलाप ही समझेंगे। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि ये तीन गुण वाक्य के लिए आवश्यक हैं।

सत्ताईसवाँ अध्याय

भाषा विज्ञान का इतिहास

भाषा के अध्ययन से हम इस नतीजे पर पहुँचे कि एक ओर प्रत्येक मनुष्य की भाषा, विज्ञान की दृष्टि से, दूसरे मनुष्य की भाषा से भिन्न है, साथ ही दूसरी ओर हम पिछले अध्याय मे इस तत्त्व को भी देख चुके है कि भाषा विचारधारा की वाह्य प्रतिनिधि है और यह विचारधारा अखडस्वरूप है। इस प्रकार भाषा भी विश्व के मौलिक एकत्व और अनेकरूपत्व का उदाहरण है।

भाषाविज्ञान का अभिप्राय भाषा का विश्लेषण करके उसका दिग्दर्शन कराना है। मनुष्य भाषा का दर्शन प्राप्त करने की कोशिश जब से उसने होश सँभाला तभी से कर रहा है। इस कोशिश का इतिहास बडा मनोरजक है। भाषा के विषय मे सर्वप्रथम विवेचन हमारे देश मे हमारे स्वर्णयुग मे हुआ, और इधर दो-ढाई सौ बरस मे विशेष रूप से यूरोप मे किया गया है।

प्राचीन भारतीय अनुसन्धान

किसी भी जनसमुदाय मे अपनी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन का सवाल भाषाभेद के कारण उठता है, यह भाषा-भेद आन्तरिक होता है या वाहरी, पहला बोली-विभेद के कारण, दूसरा विदेशी भाषाओ के सम्पर्क से। भारत मे वैदिक मत्रो को अद्वितीय महत्व प्राप्त हुआ, वे दिव्यशक्ति के उपहार माने गए। उनको जैसे का तैसे याद रखना मानव-धर्म का परम कर्तव्य समझा गया। भारतीय धारणा-शक्ति सदा प्रसिद्ध रही है। वैदिक द्विजो ने सहिताओ को कठस्थ करके स्थिर रक्खा। भाषा सर्वांग में विकसित होती रहती है इसलिए

कालभेद और देशभेद के कारण कठस्थ मत्रो के उच्चारण मे भेद पड जाना अवश्यम्भावी था। ऐसी परिस्थिति मे मूल की रक्षा करने के उपाय सोचे गए।

उन उपायो मे सहिताओ का **पदपाठ** सर्वप्रथम सफल प्रयास साबित हुआ। पदपाठ के द्वारा मत्रो का विभाग पदो मे करना सभव हो पाया। पदपाठ की युक्ति शाकल्य ऋषि की रची समझी जाती है।

ब्राह्मणकाल मे सहिताओ का स्वाध्याय विभिन्न ऋषियो की परिषदो, चरणो और शाखाओ मे होता था। कितने ही लगन के द्विजो ने ससारी सुख का मोह छोडकर अपनी सारी शक्ति इस वैदिक वाड्मय के स्वाध्याय मे लगा दी। वेद (ब्रह्म) के स्वाध्याय के लिए नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया गया। इसके फलस्वरूप वैदिक भाषा की यथातथा रक्षा हो सकी। पदपाठ के लिए यह आवश्यक था कि **सहिता (सधि), समास** और **उदात्त**, आदि **स्वरो** का व्यवहार ठीक से समझ लिया जाय। ब्राह्मण-ग्रथो मे जहाँ-तहाँ शिक्षा (ध्वनि) और व्याकरण के सम्बन्ध के तत्व उदाहरणस्वरूप मिलते है। इनसे पता चलता है कि ई० पू० आठवी-नवी सदी मे ही भारतीयो ने भाषा के शास्त्रीय अध्ययन मे आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त कर ली थी। विद्वानो का मत है कि इसी काल मे विविध शिक्षा-ग्रन्थ बने। इनमे **वर्ण, स्वर, मात्रा, उच्चारण** और **सहिता** के नियमो का विवरण रहा होगा। कुछ समय बाद ही मूल प्रातिशाख्य बने। वर्तमान प्रातिशाख्य इन्ही मूल प्रातिशाख्यो पर आश्रित है यद्यपि है पाणिनि के समय के। इधर के मूल प्रातिशाख्यो मे पदो का (१) **नाम**, (२) **आख्यात**, (३) **उपसर्ग**, (४) **निपात**, यह चतुर्विभाग, कुछ सज्ञाओ के लक्षण तथा पद का थोडा बहुत विश्लेषण करके किया गया होगा। यह सब काम यास्क मुनि के पहले हो चुका था।

निरुक्त के कर्ता **यास्कमुनि** का काल ई० पू० ८००-७०० माना जाता है। यास्क के सामने वेद के शब्दो की सूची, **निघटु** नाम की, मौजूद थी। इस सूची मे पॉच अध्याय है। निरुक्त इसी निघटु की व्याख्या है। निरुक्तकार ने निघटु के शब्दो को लेकर वैदिक सहिताओ

के उद्धरण देते हुए शब्दों का अर्थ स्थापित करने का उद्योग किया है। अर्थविज्ञान के विषय के अध्ययन का संसार में यह सर्वप्रथम प्रयास है। यास्कमुनि के समय तक भाषाविज्ञान सम्बन्धी अन्वेषण इस देश में काफी आगे बढ़ चुका था, इसका इसी बात से यथेष्ट प्रमाण मिलता है कि यास्क ने बहुतेरे (आग्रायण, ऐतिहासिक नैरुक्त, वैयाकरण आदि) पक्षों और गार्ग्य, गालव, शाकटायन, शाकल्य आदि पूर्ववर्ती या समकालीन आचार्यों का उल्लेख किया है और उनके मत को उद्धृत किया है। पदों के चतुर्विभाग के अलावा निरुक्तकार संज्ञा और क्रिया के तथा कृदन्त और तद्धित आदि के प्रत्यय-भेदों से भी कुछ न कुछ परिचित थे। भाषाविज्ञान के लिए निरुक्तकार की यह देन है कि प्रत्येक संज्ञा (नाम) की व्युत्पत्ति किसी न किसी धातु से है। अन्य विद्वानों के मत का खंडन करके उन्होंने अपने मत का सर्वथा पोषण किया है।

यास्क के बाद और पाणिनि के पूर्व बहुत से वैयाकरण रहे होंगे। पाणिनि ने प्रथमा, द्वितीया आदि **विभक्तिनामों** का तथा **बहुव्रीहि, कृत, तद्धित,** आदि संज्ञाओं का प्रयोग बिना इनका अर्थ बताए हुए किया है जिससे स्पष्ट है कि उनके समय तक ये संज्ञाएँ सुपरिचित हो चुकी थी और बहुतेरे व्याकरणकार पदविज्ञान को आगे बढ़ा चुके थे। इनमें से आपिशलि और काशकृत्स्न दो का उल्लेख मिलता है। पाणिनि के पूर्व के वैयाकरणों में इन्द्र का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। तैत्तिरीय संहिता (७-४-७) के अनुसार यही पहले वैयाकरण सिद्ध होते हैं—

वाग्वै पराच्यव्याकृताऽवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।

वैयाकरणों का ऐन्द्रसम्प्रदाय पाणिनि के पूर्व से आरंभ होकर उनके बाद भी चलता रहा। वर्तमान प्रातिशाख्य इसी सम्प्रदाय के हैं। कात्यायन भी इसी के थे। ऐन्द्रसम्प्रदाय की परिभाषाएँ सरल और सुबोध थीं।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में पूर्ववर्ती वैयाकरणों के सफल कार्य का सार समन्वित है। इन्होंने स्वयं उदीच्य और प्राच्य सम्प्रदायों का तथा आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य आदि दस वैयाकरणों का उल्लेख किया है।

पाणिनि मुनि के जीवन के बारे मे कुछ पता नही। कहा जाता है कि यह (अटक के निकट) शालातुर के निवासी उदीच्य ब्राह्मण थे। इनकी माँ का नाम दाक्षी था। यदि पचतत्र की गवाही मानी जाय तो इनका देहान्त एक सिंह के द्वारा हुआ। कथासरित्सागर के अनुसार इनके गुरु उपाध्याय वर्ष और सहपाठी कात्यायन, व्याडि और इन्द्रदत्त थे। इन्होने घोर तपस्या करके चौदह माहेश्वर सूत्रो की प्राप्ति की। अँगरेज विद्वान इनका काल ई० पू० चौथी सदी मे और जर्मन तथा भारतीय मनीषी ई० पू० ५०० से पूर्व छठी या सातवी शताब्दी मे मानते है।

पाणिनि की रचना अष्टाध्यायी है। हर अध्याय मे चार पाद है। कुल सूत्रो की सख्या करीब चार हजार के है। अष्टाध्यायी की विशेषता सक्षेप है। इन चार हजार सूत्रो मे सारी भाषा को ऐसा जकड दिया है कि मीन-मेष करना असभव है। यह प्रत्याहारो के कारण ही सभव हो सका। इसके अलावा सक्षेप के लिए पाणिनि ने **अनुबन्ध, गण, घ, लुक्, इलु,** आदि सज्ञा, **अनुवृत्ति** तथा प्रचलित **गुण, वृद्धि** आदि परिभाषाओ का भी सहारा लिया। अष्टाध्यायी के अलावा उसके सहायक ग्रन्थो मे से **धातुपाठ गणपाठ,** और **उणादिसूत्र** का अधिकाश भाग पाणिनि का ही रचा माना जाता है।

भाषाविज्ञान के लिए पाणिनि की छाप अमिट है। माहेश्वर सूत्रो मे ध्वनियो का, स्थान और प्रयत्न के अनुसार, वर्गीकरण ध्वनिविज्ञान के तत्वज्ञान का उत्तम उदाहरण है। प्रति शब्द किसी न किसी धातु से सम्बद्ध है, इस मत की पुष्कल पुष्टि पाणिनि ने न केवल अष्टाध्यायी के सूत्रो मे बल्कि उणादिसूत्रो मे की। पर सब मे महत्व का काम वैदिक (छन्दस्) और लौकिक सस्कृत का तुलनात्मक विवेचन है। यूरोप मे जो काम ईसवी १९वी सदी मे किया गया वही इस देश मे ईसा पूर्व छठी सातवी सदी मे पाणिनि मुनि कर चुके थे। इस प्रकार पाणिनि ने ध्वनिविज्ञान, अर्थ-विज्ञान और तुलनात्मक व्याकरण के अध्ययन को बहुत आगे बढाया।

वैदिकी प्रक्रिया के अध्ययन मे यह बात स्पष्ट मालूम होती है कि पाणिनि के समय तक छन्दस् और भाषा दोनो के बीच काफी अन्तर पड गया था। छन्दस् मे वैकल्पिक रूपो की बहुलायत थी और इसको प्रकट करने के लिए पाणिनि ने **बहुल छन्दसि** का बहुत जगह निर्देश किया है। छन्दस् की भाषा बराबर चली आ रही थी। वह अपौरुषेय समझी जाती थी। उसको छेडना असभव था और कोई छेड भी सकता तो पाप का भागी होता। पाणिनि मुनि ने भाषा को ही पकडा और उसको ऐसा स्टैंडर्ड रूप दिया जो आज ढाई हजार वर्ष बाद भी स्टैंडर्ड माना जाता है। इतना सफल व्याकरणकार ससार मे कही नही हुआ।

पाणिनि के उपरात बहुत से वैयाकरण हुए। उन सबमे वार्तिककार **कात्यायन** का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कथासरित्सागर इन्हे पाणिनि का समकालीन बताता है पर यह असभव है। इनका समय ई० पू० ५००–३५० के बीच मे पडता है। पतजलि इन्हे दाक्षिणात्य बताते है। और सभव है कि यह व्याकरणकारो की किसी भिन्न शाखा के रहे हो। इन्होने पाणिनि के ढग से ही सूत्रो मे पाणिनि के मत की आलोचना की है। इनके सूत्रो को **वार्तिक** कहते है। इनमे कात्यायन ने पाणिनि के १५०० सूत्र एक-एक कर उठाए है और उनमे दोष दिखाकर शुद्ध नियम निर्धारित किए है। विद्वानो का विश्वास है कि इस शुद्धीकरण द्वारा वार्तिककार ने विशेष रूप से पाणिनि मुनि के समय से उनके समय तक (अर्थात् डेढ दो सौ वर्ष मे) भाषा मे जो परिवर्तन हो गए थे उन्ही का समावेश किया है। इसलिए आलोचनात्मक होते हुए भी, वार्तिककार की कृति ने अष्टाध्यायी के अध्ययन के लिए सहायक ग्रन्थ का काम किया।

वाजसनेयी प्रातिशाख्य भी कात्यायन की बनाई समझी जाती है। इसमे छन्दस् (वैदिक) भाषा के नियम दिये है जो पाणिनि के सूत्रो के अधिकाश अनुकूल है और जहाँ भेद है वहाँ अधिक उपयुक्त।

कात्यायन ने पाणिनि के ही पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया है पर जहाँ-तहाँ **स्वर** (अच्), **व्यजन** (हल्), **समानाक्षर** (अक),

भवन्ती (लट्) आदि नए शब्द भी दिए है। इनके बाद और पतञ्जलि मुनि के पूर्व अन्य वार्तिककार भी हुए है। सभव है कि कोई कात्यायन के पूर्व भी हुए हो।

पतञ्जलि ने अपने ग्रन्थ महाभाष्य मे पुष्यमित्र, साकेत के अवरोध आदि समकालीन व्यक्तियो और घटनाओ का उल्लेख किया है जिससे उनके काल (ई० पू० दूसरी सदी) के निर्धारण मे कोई कठिनाई नही पडती। इनका उद्देश्य कात्यायन आदि पूर्ववर्ती वैयाकरणो द्वारा की गई पाणिनि के ग्रथ की आलोचना का बलपूर्वक खडन करना है। विशेष रूप से इन्होने कात्यायन के नियमो मे दोष दिखाए है और पाणिनि के मत का मडन किया है। इन्होने जो नियम दिए है उन्हे **इष्टि** का नाम दिया है। महाभाष्य का महत्व सस्कृत भाषा के नियम-निर्धारण मे उतना नही है जितना भाषा के दार्शनिक विवेचन मे। ध्वनि क्या है, वाक्य के कौन-कौन से भाग होते है, ध्वनि-समूह (शब्द) और अर्थ मे क्या सबध है इत्यादि महत्वपूर्ण विषयो पर पतञ्जलि ने बहुत सुन्दर विवेचन किया है। इनकी शैली बडी ललित और हेतुपूर्ण है और सारे सस्कृत वाङ्मय मे शकराचार्य-कृत शारीरक-भाष्य को छोडकर अपना सानी नही रखती।

पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि ये तीन ऋषि सस्कृत व्याकरण के मुनित्रय कहे जाते है। इनके बाद टीकाकारो का समय आता है। टीकाओ मे **वामन** व **जयादित्य** की बनाई **काशिका** सबसे प्रसिद्ध है। यह प्राय ई० ७वी सदी की समझी जाती है। काशिका पर की गई टीकाओ मे **जिनेन्द्रबुद्धि** का **न्यास** और **हरदत्त** की **पदमजरी** भी प्रसिद्ध ग्रन्थ है। परन्तु भाषा के दार्शनिक विवेचन और मूलतत्वो के स्थापन के लिए भर्तृहरि का **वाक्यपदीय** सबसे अधिक महत्व का है। इसमे तीन काड है, ब्रह्म (आगमकाड), वाक्यकाड और पद (प्रकीर्णकाड)। **कैयट** ने इस तात्विक विवेचन को अपने ग्रन्थ *महाभाष्यप्रदीप* मे और आगे बढाया। इस प्रकार के वैयाकरणो मे प्रदीप के टीकाकार **नागोजि** (नागेश) भट्ट का भी उल्लेख कर देना उचित है। विवाहित होने पर

भी यह अखण्ड ब्रह्मचारी रहे और अपने ग्रन्थों को ही अपनी सन्तान समझते रहे। इन्होंने अन्य शास्त्रों के अलावा व्याकरण के विषय पर ही कई ग्रन्थ लिखे। इनमें से **प्रदीपोद्योत**, **वैयाकरणसिद्धान्त** *मंजूषा* और *परिभाषेन्दुशेखर* महत्त्वपूर्ण बताए जाते हैं। वै० सि० मंजूषा भाषा के तात्त्विक विवेचन के लिए अद्वितीय ग्रन्थ है।

टीका-सम्प्रदाय के बाद अष्टाध्यायी के सूत्रों पर ही आश्रित किन्तु उसके क्रम को हटाकर विषयानुकूल क्रम रखनेवाले कौमुदीकारों का समय आता है। इस समय तक व्याकरण का वाङ्मय इतना ज्यादा बढ़ चुका था कि उसको पुराने क्रम में हृदयंगम करना असंभव-सा हो गया था। इसीलिए नवीन क्रम निर्धारित किया गया। इस तरह के ग्रंथों में **विमल सरस्वती** कृत *रूपमाला* सबसे पहला ग्रन्थ समझा जाता है। इनका समय १५०० ई० के पूर्व का माना जाता है। इन्होंने प्रत्याहार, संज्ञा परिभाषा, सन्धि, सुबन्त, निपात, स्त्री-प्रत्यय, कारक, आख्यात, कृत् और तद्धित इस प्रकार विषयानुकूल क्रम रक्खा। पर इस प्रकार के ग्रन्थों में सर्वप्रचलित और सर्वमान्य **भट्टोजिदीक्षित** कृत *सिद्धान्तकौमुदी* है। इनका समय १६५० ई० के आस-पास समझा जाता है। सिद्धान्त-कौमुदी द्वारा ही संस्कृत के व्याकरण की परिपाटी इतनी लोकप्रिय हुई कि अष्टाध्यायी-काशिका की परिपाटी बिलकुल खतम हो गई।

व्याकरणकारों की पाणिनि-शाखा के अलावा चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, कातन्त्र, सारस्वत आदि कई अन्य शाखाएं प्रचलित हुईं। इनमें से एकाध का क्रम पाणिनि के क्रम की अपेक्षा सरल और सुबोध है। पर इनमें से कोई भी पाणिनीय शाखा के आगे चल नहीं पाई। अन्य शाखाओं के वैयाकरणों में *शब्दानुशासन* के लेखक **हेमचन्द्र** और *मुग्धबोध* के कर्ता **बोपदेव** के नाम उल्लेखनीय हैं।

ऊपर, तुलनात्मक व्याकरण के आदिगुरु पाणिनि थे, यह कहा जा चुका है। पतंजलि के समय तक वैदिक भाषा के अध्ययन को थोड़ा बहुत महत्त्व मिलता रहा। उसके बाद प्रायः व्याकरणकारों ने अपना सारा ध्यान लौकिक भाषा पर ही लगाया और तुलनात्मक अध्ययन

स्थगित रहा। यह अध्ययन प्राकृत भाषा के वैयाकरणो ने फिर से उठाया। इन्होने संस्कृत को *प्रकृति* (आधार) मानकर विविध प्राकृतो का विवरण दिया है। इनमे सर्वप्रथम, *प्राकृत प्रकाश* के कर्ता वररुचि है। इनका वररुचिकात्यायन भी कहते है। कात्यायन वार्तिककार से निश्चय ही यह भिन्न है। प्राकृतप्रकाश मे बारह परिच्छेद है। पहले नौ मे संस्कृत को आधार मानकर महाराष्ट्री का विवरण है, दसवे मे शौरसेनी के आधार पर पैशाची का, ग्यारहवे मे शौरसेनी के ही आधार पर मागधी का और बारहवे मे संस्कृत का आधार बताकर शौरसेनी का विवरण दे दिया गया है। शौरसेनी के भेदक लक्षणो को देकर अन्त मे ग्रन्थकार ने कह दिया है कि बाकी महाराष्ट्री के समान समझना चाहिए।

प्राकृतप्रकाश की ही शैली पर अन्य प्राकृत व्याकरण बाद को बने। प्राय सभी मे प्रचलित प्राकृतो का तुलनात्मक विवरण दिया हुआ है। इनमे से **हेमचन्द्र** और **मार्कण्डेय** के ग्रन्थ विशेषरूप मे उल्लेखनीय है। ऊपर कह चुके है कि हेमचन्द्र ने *शब्दानुशासन* नाम का संस्कृत का व्याकरण रचा। इसी को *सिद्धहेमचन्द्र* भी कहते है। इसके आठवे अध्याय मे प्राकृतव्याकरण है। इन्होने महाराष्ट्री शौरसेनी, मागधी पैशाची, चूलिका-पैशाची और अपभ्रंश का बडा सुन्दर और विस्तृत वर्णन किया है। मार्कण्डेय ने अपने ग्रन्थ *प्राकृतसर्वस्व* मे तीन वर्ग स्थापित किए, (१) भाषा, (२) विभाषा और (३) अपभ्रंश। पहले के अन्तर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी, दूसरे मे शाकारी, चाडाली, शाबरी, आभीरिका और टाक्की (ढक्की) तथा तीसरे मे नागर, व्राचड और उपनागर है। इनके अलावा पैशाची का वर्ग अलग माना है और उसके तीन भेद (केकय पैशाचिकी, शौरसेनपैशाचिकी तथा पाचालपैशाचिकी) बताए है।

इनके अतिरिक्त पालिभाषा मे **कच्चायन** (कात्यायन) और **मोग-ल्लान** (मौद्‌गलायन) के बनाए हुए व्याकरण प्राचीन और प्रचलित है।

वैयाकरणो के अलावा साहित्य-शास्त्रियो तथा नैयायिको ने भी अपने-अपने शास्त्रो का अध्ययन करते हुए शब्दशक्ति का विशेष विवेचन

किया है। शब्द की अभिधा, लक्षणा व्यजना (ध्वनि) तीन शक्तियो के विषय, प्रयोजन आदि का, तथा तात्पर्य, पदार्थ, वाक्यार्थ, अर्थस्फोट आदि का भी सुन्दर विवेचन *ध्वन्यालोक काव्यप्रकाश, रसगगाधर* आदि ग्रथो मे मिलता है। आधुनिक ग्रथो मे **जगदीश तर्कालंकार** का बनाया हुआ *शब्दशक्तिप्रकाशिका* नाम का ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार भारतवर्ष मे भाषाविज्ञान के प्राय प्रत्येक अग का विवेचन शास्त्रीय शैली से बडी लगन से किया गया था। आधुनिक भाषाविज्ञान के पडितो को यह सामग्री सुलभ नही है। वे इससे प्राय अनभिज्ञ ही है। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने ध्वनिविज्ञान के विषय की पुरानी सामग्री का अन्वेषण और अध्ययन करके भारतीय विवेचन को विद्वद्वर्ग के सम्मुख रक्खा है। शेष सामग्री मे से महाभाष्य आदि ग्रथो पर एकागी विचार यूरोपीय सस्कृत-पडितो ने किया है। पर भाषाविज्ञान के धुरधर प्राय इस सामग्री से अनभिज्ञ ही है।

एशिया के अन्य देशो मे भी भाषाविज्ञान का थोडा बहुत विवेचन हुआ है।

अरब देश मे भाषा के अध्ययन की ओर ध्यान मुहम्मद साहब के आविर्भाव के बाद गया। इन लोगो ने कुरान शरीफ की भाषा का व्याकरण बनाया और इसी के आदर्श पर मुस्लिम देशो के यहूदियो ने इबानी (हिब्रू) का व्याकरण तैयार किया। धातु शब्द का द्योतक यूरोपीय **रूट्** शब्द हिब्रू व्याकरण से लिया गया है।

चीन-देश-वासियो ने भी भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था और शब्दकोष बनाए थे।

यूरोपीय खोज

यूरोप मे भाषा-सबधी विवेचन भारत की अपेक्षा बहुत देर मे शुरू हुआ। यूरोपीय सभ्यता का मूलस्रोत ग्रीस देश रहा है। इस देश के रहने वाले अन्य देशवालो को बर्बर समझते थे और उनकी भाषा आदि सस्कृति के सभी अगो की अवहेलना करते थे। अपनी भाषा की विवेचना करने

उनके लिए बेकार था क्योंकि वह प्रत्येक ग्रीक को जन्म से ही प्राप्त थी। भारत की तरह वहाँ कोई अपौरुषेय ग्रन्थ नही थे जिनका संरक्षण आवश्यक होता। ऐसी परिस्थिति मे यह स्वाभाविक ही था कि भाषा-तत्त्वो का अन्वेषण वहाँ देर से आरंभ हुआ।

ग्रीस के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता **सुकरात** (४६९–३९९ ई० पू०) को यह भान हुआ कि ध्वनि और विचार मे समवाय सम्बन्ध नही है, उनका विचार था कि ऐसी भाषा की सृष्टि हो सकती है जिसमे ऐसा सम्बन्ध रहे। **प्लैटो** (४२९–३४७ ई० पू०) ने विचार और भाषा की एकता का अनुभव किया और विचार को भाषा का अन्तरंगरूप निर्धारित किया। उन्होने ग्रीक भाषा की ध्वनियो का वर्गीकरण **सघोष** और **अघोष** मे किया। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत स्वर रक्खे और दूसरे में शेष ध्वनियाँ। दूसरे वर्ग के फिर दो भाग किए, पहले मे अन्तस्थ वर्ण और दूसरे मे व्यंजन। **अरस्तू** (३८५–३२२ ई० पू०) ने भाषा का विश्लेषण करके पदो मे विभाजन किया। उत्तरकालीन ग्रीक व्याकरण-कारो ने व्यंजनो का विभाग तनु, मध्य और महाप्राण मे किया है। यही अभी तक यूरोपीय विद्वान् इस्तेमाल करते है। अरस्तू द्वारा किए गए पद-विभाग को बादवाले ग्रीक विद्वानो ने जारी रक्खा। इस दिशा मे **स्टोइक वर्ग** के दार्शनिको ने विशेष काम किया। इन्ही के रक्खे हुए नाम आज भी यूरोपीय व्याकरणो मे किसी न किसी रूप से जारी है। ग्रीक भाषा के सर्वप्रथम व्याकरण के बनानेवाले **थ्रैक्स** (ई० पू० दूसरी सदी के) थे। इन्होने कर्त्ता और क्रिया के परस्पर अन्वय पर तथा लिंग, वचन, विभक्ति, पुरुष, काल और वृत्ति पर प्रकाश डाला।

ग्रीस से जब सभ्यता और प्रभुता का केन्द्र रोम पहुँचा तो लैटिन और ग्रीक दोनो भाषाओं का अध्ययन होने लगा और ग्रीक व्याकरण के आधार पर लैटिन के भी व्याकरण बनने लगे। अवश्य ही तब इन दोनो की समानताओ और विषमताओं पर ध्यान गया होगा। ईसाई धर्म के विस्तार से यहूदी भाषा इब्रानी का भी अध्ययन होने लगा। अब तक यही परमेश्वर और स्वर्गलोक की भाषा समझी जाती थी और इसका

ज्ञान पाकर धार्मिक विद्वान् अपने को कृतकृत्य मानते थे। साम्राज्य में स्थित पड़ोस के देशो की अरबी, सीरी आदि साहित्यिक भाषाओ पर भी थोडा बहुत ध्यान गया। पर शीघ्र ही लैटिन के अध्ययन ने सारे यूरोप में महत्त्व प्राप्त कर लिया। वही धर्म और सभ्यता की मूल भाषा मानी जाने लगी और इसलिए उसका यूरोप पर एकछत्र राज्य हो गया। प्राय १८ वी इ० सदी के पहले तक सारे यूरोप के विद्यालयो मे लैटिन ही पढाइ जाती थी। मातृ-भाषा को पढाना बेकार था वह तो स्वय आ ही जाती थी। उसका कोई विशेष महत्व भी न समझा जाता था। लैटिन व्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर लेना ध्येय था और व्याकरण का प्रयोजन केवल शुद्ध लिखना और बोलना था। पढानेवाले आचार्य हर देश के अलग-अलग थे। ये लैटिन पुस्तको से पढने-पढाते थे। परिणाम-स्वरूप एक देश मे पढाइ जानेवाली लैटिन दूसरे देश की लैटिन से बहुत भिन्न होने लगी। तत्कालीन जन-साधारण की बोलचाल की भाषाओ की अपेक्षा लैटिन मे शब्दो के रूपो का बाहुल्य था। यदि तत्कालीन भाषा को देखना हुआ तो लैटिन के चश्मे से देखा गया। विभिन्न देशो की लैटिन भाषा के उच्चारण मे परस्पर बहुत विषमता दिखाई पडने लगी। भारत मे आज बगाली सस्कृतज्ञ का उच्चारण बगला भाषा के उच्चारण से प्रभावित होकर अन्य प्रातवालो को अटपटा और अस्पष्ट ज्ञात पडता है। पर लैटिन का यह अटपटापन इससे कई गुना अधिक था।

अठारहवी सदी के पूर्व यूरोपीय भाषाओ पर जो भी काम हुआ उस पर लैटिन के अध्ययन का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। उच्चरित भाषा की अपेक्षा लिखित भाषा की प्रधानता, रूप विभिन्नता के अभाव मे भी उसके अस्तित्व की खोज, कोष-ग्रथो मे व्युत्पत्ति आदि के लिए लैटिन शब्दो का अस्थान सहारा लेना, व्याकरण मे लैटिन के नियमो के सदृश नियम खोजना आदि उसी प्रभाव के साक्षी है। लोग नवीन सस्कृति (renaissance) से जहाँ अन्य बातो मे उन्नति की ओर अग्रसर हुए, वहाँ भाषाओ के अध्ययन मे भी दृष्टि विस्तृत हुई और लैटिन के अलावा ग्रीक फिर से पढी जाने लगी तथा इब्रानी और अरबी की ओर भी ध्यान

गया। अमरीका आदि की खोज हो जाने पर वहाँ के मूल निवासियो की शब्दावली इकट्ठी की जाने लगी और पादरियो ने इनके व्याकरण और कोप भी तैयार किए। स्पेनी पादरियो ने १६ वी सदी मे ही यह काम शुरू कर दिया था।

भाषाविज्ञान की नींव

अठारहवी सदी मे कई यूरोपीय विद्वानो का ध्यान भाषा के उद्गम की ओर गया। प्रसिद्ध दार्शनिक **रूसो** ने यह मत पेश किया कि आदिम मनुष्यो ने भाषा, एक स्थान पर बैठ कर समझौते से बनाई। **कोंडिकल** ने यह विचार रक्खा कि आदिम मनुष्यो पुरषो और स्त्रियो के सहवास और भावातिरेक मे निकले हुए नादो के स्तम्भ पर भाषा स्वाभाविक रूप से खडी हो गई। पर इस प्रश्न पर इस सदी मे सर्वोत्तम गवेषणा **हर्डर** ने की। बर्लिन अकेडमी के लिए इन्होने एक निबन्ध लिखा जिसमे भाषा के ईश्वरप्रदत्त होने का खडन किया। इन्होने कहा कि मनुष्य ने भाषा जानबूझकर नही बनाई, वह उसकी प्रकृति से ही निकल पडी उसी प्रकार जैसे गर्भ से बच्चा। इसी सदी के अन्त मे **जेनिश** ने 'आदर्श-भाषा' के विषय पर निबध लिखा जिसमे उन्होने ऐसी भाषा के लक्षणो का विवेचन किया और उनके अनुसार लैटिन, ग्रीक तथा कई यूरोपीय भाषाओ की तुलनात्मक जाँच की। इस सदी मे हर्डर और जेनिश ने अपने विवेचन मे भाषाविज्ञान की नीव रक्खी। इस सदी के अन्त मे दृष्टि कितनी विस्तृत हो गई थी इसका अन्दाज इस बात से हो सकता है कि **पी० एस० पल्लस** (१७४१-१८११) ने रूस की महारानी कैथरीन की आज्ञा पाकर एक शब्दावली ऐसी तैयार की जिसमे यूरोप और एशिया दोनो की भाषाओ के २८५ शब्द तुलना-स्वरूप दिए गए थे। पाँच साल बाद १७९१ मे इसका दूसरा सस्करण निकला जिसमे अस्सी और भाषाओ को समावेश मिल गया।

उन्नीसवी सदी को भाषाविज्ञान की सदी कह सकते है क्योकि इसी मे इसका पूर्ण विकास हुआ। नई-नई भाषाओ का अध्ययन शुरू

हुआ। लटिन, ग्रीक आदि भाषाओ की भी विवेचना पूर्ववर्ती सदियो की अपेक्षा अधिक गहराई से होने लगी। तुलनात्मक अध्ययन को प्रश्रय मिला। सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि किसी ध्वनि या रूप के केवल भिन्न रूपो से ही सतोष न हुआ उनका परस्पर ऐतिहासिक सम्बन्ध अर्थात् विकास ढूंढा जाने लगा। भाषा प्रवाहस्वरूप समझी गई।

भाषाविज्ञान के बनने मे सबसे अधिक प्रभाव सस्कृत के अध्ययन से हुआ। अठारहवी सदी के अन्त मे कलकत्ता की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना करते हुए, सर **विलियम जोंस** (१७४६-१७९६) ने सस्कृत का महत्व बतलाया था और घोषणा की थी कि गठन मे यह लेटिन और ग्रीक दोनो के बहुत निकट है और इन तीनो भाषाओ का कोई एक स्रोत है, तथा प्राचीन फारसी, केल्टी और गाथी भी इसीसे सम्बद्ध है। इस घोषणा के पूर्व ही (१७६७ मे) फ्रेंच पादरी कोर्डो ने सस्कृत की ओर अपने देश के विद्वानो का ध्यान खीचा था और सस्कृत और लैटिन की समानता दिखाई थी, पर उनका लेख सर विलियम जोंस की घोषणा के बाद प्रकाशित हुआ और जो श्रेय कोर्डो को मिलना चाहिए था वह जोंस महोदय को मिला। शुरू के यूरोपीय सस्कृत विद्वानो मे **कोलब्रुक** का नाम उल्लेखनीय है।

प्राचीन युग

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान **फ्रीडरिख श्लेगेल्** (१७७२-१८२९) ने १८०८ मे भारतीय भाषा और ज्ञान के विषय पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रथ प्रकाशित किया। इन्होने चार-पॉच साल तक पेरिस मे हैमिल्टन नाम के एक अँगरेज सिपाही से सस्कृत पढी थी और सस्कृत भाषा और वाङ्मय के प्रबल समर्थक हो गए थे। प्रथम बार इन्होने तुलनात्मक व्याकरण का नाम लिया और कुछ ध्वनिनियमो की ओर भी सकेत किया। इन्होने भाषा को भी दो वर्गो मे विभाजित किया, (१) सस्कृत तथा सगोत्र भाषाएँ, (२) अन्य-भाषाएँ। उद्गम के बारे मे श्लेगेल् का मत था कि भाषा की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न आधारो पर हुई होगी। उदाहरणार्थ

मॉचू भाषा मे अनुरणनात्मक शब्दो का बाहुल्य है जिसमे पशु-पक्षी आदि जन्तुओ का प्रभाव स्पष्ट है, पर सस्कृत मे ऐसी कोई बात नही है। फीडरिख् श्लेगेल् के भाई **अडोल्फ श्लेगेल** (१७६७-१८४५) भी अपने भाई फीडरिख् की तरह ही सस्कृत के अच्छे विद्वान् और समर्थक थे। इन्होने श्लिष्ट भाषाओ को दो वर्गो, सयोगात्मक और वियोगात्मक, मे बाँटा।

उन्नीसवी सदी के आरभ मे ही, भाषाविज्ञान के सस्थापक, बॉप, ग्रिम और रैस्क के नाम आते हैं। धातुप्रक्रिया पर बॉप की पुस्तक १८१६ मे, रैस्क की १८१८ मे और ग्रिम का व्याकरण १८१९ मे प्रकाशित हुआ। इनमे से बॉप का काम स्वतन्त्र था, पर ग्रिम पर रैस्क का बहुत प्रभाव पडा था।

रैज्मस रैस्क (१७८७-१८३२) लडकपन से ही वैयाकरण प्रसिद्ध हो गए थे। इन्होने आइसलैण्ड की भाषा का शास्त्रीय ढग से अध्ययन किया और प्राचीन नॉर्स भाषा की उत्पत्ति पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बनाया। इनके मत के अनुसार ग्रन्थो के अभाव मे किसी जाति या राष्ट्र का इतिहास उसकी भाषा से जाना जा सकता है, धर्म, कला आदि तो कालचक्र से बहुत बदल जाते है पर भाषा अपेक्षा-दृष्टि से स्थिर रहती है, भाषा के अध्ययन के लिए शब्दावली से ज्यादा व्याकरण पर ध्यान देना चाहिए। इन्होने फीनी-उग्री भाषाओ का बडा अच्छा वर्गीकरण किया। यह भारत भी आए थे और सर्वप्रथम जेन्द (अवेस्ती) को आर्य-परिवार मे उचित स्थान और महत्त्व दिला सके थे।

यकोब् ग्रिम (१७८५-१८६३) वकील के पुत्र थे और इन्होने पहले कानून पढा। भाषा का अध्ययन इनके जीवन मे बाद को आया। अभी तक प्राचीन भाषाओ को महत्त्वपूर्ण माना जाता था। इन्होने प्रतिपादित किया कि छोटी-से-छोटी भाषा भी विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, और जिस लगन और अध्यवसाय से इजील की भाषा इब्रानी तथा लैटिन और ग्रीक का अध्ययन होता है उसी से वर्तमान भाषाओ और बोलियो को भी पढना-पढाना शुरू करना चाहिए। इनका बनाया

जर्मन भाषा का व्याकरण (देवभाषा व्याकरण) १८१९ मे प्रकाशित हुआ। रैस्क के १८१८ के प्रकाशित ग्रन्थ की इन्होंने बडी प्रशसा की और १८२२ मे अपने व्याकरण का परिवर्द्धित दूसरा सस्करण प्रकाशित किया। इसी मे ग्रिमनियम का वर्णन है जिसका विवरण जर्मनी भाषाओ के विचार के अन्तर्गत है। ग्रिम ने स्वर-क्रम आदि के लिए पारिभाषिक शब्द गढे जो आज भी प्रचलित है। जीवन के उत्तरकाल मे ग्रिम महोदय बर्लिन मे प्रोफेसर हो गए और भाषाविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन मे लगे रहे।

फ्रान्त्स बॉप ने (१७९१-१८६७) पेरिस जाकर पूर्वी भाषाओ का अध्ययन किया और सस्कृत को विशेष ध्येय बनाया। १८१६ मे धातु-प्रक्रिया पर इनकी पुस्तक प्रकाशित हुई और इसी से भाषा के तुलनात्मक अध्ययन की नीव दृढ हुई। इस किताब मे सस्कृत के रूपो की ग्रीक, लैटिन, ईरानी, जर्मनी के रूपो से तुलना है। १८२२ मे यह बर्लिन अकेडमी के प्रोफेसर नियुक्त हुए। १८३३ मे इनका दूसरा ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसमे सस्कृत, जेन्द, आर्मीनी, ग्रीक, लैटिन, लिथुऐनी, प्राचीन स्लावी, गॉथी और जर्मन भाषाओ का सम्पूर्ण तुलनात्मक व्याकरण था। बॉप ने निश्चयपूर्वक यह बात कही कि इन भाषाओ के विभिन्न रूपो से किन्ही आदिम रूपो का अस्तित्व सिद्ध होता है। बॉप के पूर्व भी हार्नीटुके आदि विद्वानो ने इस बात की ओर निर्देश किया था कि पर-प्रत्यय किसी समय स्वतन्त्र सार्थक शब्द रहे होगे, पर बॉप ने इस पर अधिक बल दिया। प्रारभ मे बॉप का विचार था कि सस्कृत मे, पच्छिमी भाषाओ के ऍ ऑ के स्थान पर, केवल अकार की स्थिति भारतीय लिपि की अपूर्णता के कारण है, परन्तु बाद को ग्रिम के प्रभाव के कारण इन्होने अ, इ, उ को ही मूल स्वर माना। यह भ्रम १८८० मे तालव्य नियम के स्थापित होने पर दूर हुआ। बॉप ने आर्य धातुओ की सामी धातुओ से विभिन्नता प्रदर्शित की। बॉप के पूर्व ही रैस्क आदि विद्वानो ने पुरुषवाचक प्रत्ययो (*ति*,-*सि*,-*मि* आदि) की सर्वनामो से तद्रूपता बताई थी, बॉप ने इसको सर्वत्र व्यापक किया।

इन्होंने भाषा के तीन वर्ग किए, (१) धातु आदि व्याकरण-नियम रहित, यथा चीनी, (२) एकाक्षर धातुवाली यथा आर्य और (३) द्वयक्षर धातुवाली यथा सामी। बॉप का विवेचन बहुत-सी भाषाओं पर विस्तृत था, उसमें गहराई और सूक्ष्मता की कमी झलकती है।

विल्हेल्म फॉन हुम्बोल्ड्ट (१७६७-१८३५) मुख्य रूप से भाषाविज्ञानी न थे, यह थे राजनीतिक कार्यकर्ता। पर इन्होंने भाषातत्त्वों की भी यथेष्ट विवेचना की है। सामान्य भाषाविज्ञान पर सबसे पहले इन्होंने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इनकी दृष्टि पैनी थी और वस्तु की तह तक पहुँचने की इनकी आदत सी थी। इनका कोई विशेष उल्लेख के योग्य काम है, तो जावा की कविभाषा पर। पर भाषा की विवेचना के सम्बन्ध के इनके विचार बडे सारगर्भित हैं। इन्होंने इस पर बल दिया कि भाषा प्रवाहस्वरूप है, उसका लक्षण पूर्ववर्ती और परवर्ती अवस्था के संबंध से ही दिया जा सकता है। हुम्बोल्ट्ट का मत है कि प्रत्येक भाषा का स्वयं एक व्यक्तित्व है, सामान्य से सामान्य बोली का भी। भाषा से जाति के मनोभाव प्रकट होते हैं। भाषाओं के वर्गीकरण में इन्होंने अश्लिष्ट और श्लिष्ट का भेद निश्चय किया। इनका विचार है कि संसार की भाषाओं की परस्पर विभिन्नता इतनी ज्यादा है कि कोई संतोषप्रद आकृतिमूलक वर्गीकरण पर पाना असंभव है।

बॉप और ग्रिम के देहान्त के पूर्व, १८५५ के करीब, भाषाविज्ञान की काफी सामग्री इकट्ठी हो गई थी। आर्य परिवार का अस्तित्व अलग निश्चित हो गया था। इस विज्ञान का अध्ययन अभी तक यूरोप भर में विभिन्न राष्ट्रों और जातियों की संस्कृति और साहित्य के अध्ययन के साथ साथ गौण रूप में होता था। अब उसने स्वतंत्र सत्ता प्राप्त कर ली। इसमें इतिहासिक और तुलनात्मक विवेचन ने विशेष मदद पहुँचाई। उत्साही विद्वान इस नवीन विज्ञान को पदार्थविज्ञान आदि भौतिक विज्ञानों का समकक्ष साबित करने लगे। अब तक के अध्ययन में (१) संस्कृत भाषा का विशेष महत्त्व, (२) भाषाओं की तुलना करते समय सामान्य लक्षणों पर बल, (३) प्राय सर्वांश में गई-गुज़री

भापाओ पर अपेक्षाकृत अधिक जोर ओर ममकालीन जीवित भाषाओ की उपेक्षा, (४) लिपिबद्ध भाषाओ के एकान्त अध्ययन से वाणी के स्वाभाविक स्वरूप की अवहेलना, (५) जीवित भापाओ के थोडे बहुत विवेचन मे पुराने लक्षणो की ही खोज, यही मुख्य बाते थी।

पॉट (१८०२-८०) नाम के प्रसिद्ध निरुक्तिकार तथा अन्य विद्वान् ग्रिम और बॉप की परिपाटी पर चलकर पुरानी लकीर पीटते रहे।

ग्रिम के समकालीन रैप ने भाषा के शरीर (ध्वनि) पर १८३६-४१ मे कई ग्रथ प्रकाशित किए। इनमें जहॉ ग्रिम के अन्य कार्य की प्रशसा थी वहॉ साथ ही साथ ध्वनि के विवेचन के बारे मे ग्रिम के काम की तीव्र आलोचना थी। इस आलोचना के कारण ही रैप के ग्रन्थो का उचित स्वागत न हो सका पर इतना मानना आवश्यक है कि रैप ने ध्वनि और लेख का परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया। बॉप और ग्रिम ने भापा की परिवर्तनशीलता (विकास) पर बिल्कुल ध्यान न दिया था। **ब्रेड्स्डोर्फ** ने १८२१ मे एक ग्रथ प्रकाशित कर इसकी ओर विद्वानो का ध्यान खीचा। रैप और ब्रेड्स्डोर्फ दोनो ने भाषाविज्ञान मे नवीनता और ताजगी उपस्थित कर दी।

आगुस्ट श्लाइखर (१८२१–६८) भाषाविज्ञान के प्राचीन और नवीन युग के सन्धिकाल के प्रतिनिधि है। यह अपने को भाषा-विज्ञानी ही घोपित करते थे। इस प्रकार सस्कृत के अध्ययन से इन्होने सबध तोडा। लिथुऐनी, रूसी आदि कुछ भाषाओ पर महत्त्वपूर्ण विवेचन करके इन्होने भापाविज्ञान के मूल सिद्धात निर्धारित करने मे समय लगाया। इस विज्ञान के अलावा, दर्शन और वनस्पतिविज्ञान मे भी इनकी अच्छी गति थी। इनके भापाविज्ञान के विवेचन मे हेगेल के दर्शन का और वनस्पतिशास्त्र की परिभाषाओ का पुट बहुत जगह मिलता है। श्लाइखर का मत है कि मनुष्य-जाति का वर्गीकरण खोपडी की गोलाई, लम्बाई आदि के आधार पर न करके, भापा की विभिन्नता पर करना चाहिए क्योकि भाषा अधिक स्थिर चीज है। इन्होने भाषाओ का वर्गीकरण अयोगात्मक, अश्लिष्ट योगात्मक और श्लिष्ट

योगात्मक निर्धारित किया। मैक्समूलर और ह्विटनी ने इसको सर्वथा मान लिया। श्लाइखर का सबसे महत्वपूर्ण कार्य आदिम आर्य भाषा का पुनर्निर्माण है। इसका उल्लेख आर्य परिवार की भाषाओं के विवेचन में मिलेगा। इसके ध्वनिसमूह, पद, वाक्य आदि सभी कुछ सिद्ध किए गए। इन्होंने इस अनुमानसिद्ध भाषा में एक कहानी भी लिख कर प्रकाशित की। अनुमान की भित्ति पर कोई भाषा खडी करना असंगत ही नहीं व्यर्थ का प्रयास है, क्योंकि भाषा के विकास की जटिलता इसके विरुद्ध पडती है। इसी कारण श्लाइखर की आदिम भाषा को उत्तरकालीन भाषा-विज्ञानियों ने आगे नहीं बढाया।

गेओर्ग कुर्टिउस् (१८२७-८५) श्लाइखर के समकालीन थे और उन्हीं की तरह प्राचीन और नवीन युग के सन्धिकाल के। सौभाग्यवश श्लाइखर का देहान्त उस समय हो गया जब वह प्रसिद्धि और कीर्ति के उच्च शिखर पर थे, कुर्टिउस अपने दुर्भाग्य से कुछ साल और जीवित रहे और उन्हें प्राचीन युग के विद्वानों की तीव्र आलोचना देखनी और सहनी पडी। श्लाइखर की तरह कुर्टिउस् भी ध्वनि-नियमों के पालन के पक्षपाती थे पर नवीन युग के इस कथन का कि ध्वनि-नियम का कोई अपवाद नहीं हो सकता, इन्होंने प्रतिवाद किया। पदरचना में सादृश्य का भी वह उतना महत्व न समझते थे जितना नवयुगवाले। इसी काल में भिन्न-भिन्न भाषाओं पर अलग-अलग महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निकले। इनमें कुर्टिउस् की ग्रीक भाषा पर **वेस्टरगार्ड** व **बेनफई** की संस्कृत पर, **मिक्लोसिख व श्लाइखर** की स्लावी पर, तथा **ज़ेउस्** की केल्टी पर, ये कृतियाँ विशेष उल्लेख के योग्य हैं। **मैडविग** लैटिन और ग्रीक के ज्ञान के साथ-साथ, भाषाविज्ञान के मूलतत्त्वों पर विवेचन के लिए प्रसिद्ध हुए।

इस समय तक भाषाविज्ञानी भिन्न-भिन्न भाषाओं की छान-बीन कर-कर ही मूल तत्त्वों के निर्माण में व्यस्त थे, किसी को इतनी फुर्सत न थी कि इन तत्त्वों को जनता के सामने पेश करे और दिखाए कि ये लोग गहरे सागर से नये मोती निकाल कर लाए हैं।

इस काम की ओर **मैक्समूलर** (१८२३–१९००) अग्रसर हुए। इन्होंने १८६१ मे भाषाविज्ञान पर व्याख्यान दिए। य शीघ्र ही पुस्तकाकार प्रकाशित हुए और शैली की रोचकता और प्रसादगुण के कारण बडे लोकप्रिय साबित हुए। पढी-लिखी जनता का ध्यान इस विज्ञान की ओर जितना मैक्समूलर ने खीचा उतना और किसी ने नही। इस पुस्तक का अच्छा प्रचार हुआ। नया सस्करण १८९० मे प्रकाशित हुआ। इसमे ग्रन्थकार ने पिछले तीस वर्षो मे किए गए अनुसन्धानो का उल्लेख भूमिका मे किया है, और अधिकाश मे नवीन-युग के सिद्धान्तो को मान-सा लिया है। मैक्समूलर ने भाषाविज्ञान को विज्ञान सिद्ध किया पर वह इसे भूतविज्ञान आदि के समक्ष न ठहरा सके। तुलनात्मक व्याकरण से भी इसका भेद विशद रूप से उन्होंने दिखाया। भाषा का उद्गम, वर्गीकरण, विकास, विकास का कारण इत्यादि विषयो पर भी तब तक किए गए काम को सग्रहीत कर इन्होंने जनता के सामने उपस्थित किया। मैक्सम्लर प्रधान रूप से साहित्यिक ही थे और प्राच्य विद्याओ के उत्साही समर्थक। इनका ऋग्वेद का सस्करण और प्राच्य प्राचीन ग्रथो का पचास जिल्दो मे अँगरेजी मे अनुवाद, दोनो इनकी अमर कृति है। भाषाविज्ञानी यह गौण रूप से थे। इसी कारण भाषा-विज्ञान-व्याख्यान-माला मे यह अन्य साहित्यिको की तरह थोडा-बहुत बहक गए है।

ह्विटनी (१८२७-९४) प्रधान रूप से वैयाकरण थे और सस्कृत भाषा के विशेषज्ञ। यह मैक्समूलर के प्रतिद्वन्द्वी समझे जाते है। जितनी ख्याति मैक्समूलर को मिली, विशेषकर भारतवर्ष मे, उतनी ह्विटनी को नही। इसका ह्विटनी को आजन्म खेद रहा। इन्होंने मैक्समूलर के काल्पनिक विचारो की कडी आलोचना की। मैक्समूलर ने अन्य साहित्यिको की भाँति रोचक दृष्टात उपस्थित कर पढी-लिखी जनता को मुग्ध कर लिया था। उन्ही दृष्टातो की दुर्गत ह्विटनी ने अपने ग्रथो मे की। "भाषा और भाषा का अध्ययन" इस विषय का इनका ग्रथ १८६७ मे प्रकाशित हुआ और "भाषा का जीवन और विकास" १८७५

मे। मैक्समूलर के ग्रथ की अपेक्षा ये दोनो भाषाविज्ञान के तत्त्वो का अधिक सुन्दर और शुद्ध विवेचन करते है, पर दोनो की शैली मैक्समूलर की शैली से कम रोचक है। ह्विटनी का सस्कृत-व्याकरण भी अपने ढग का निराला है।

नवीन युग

कुछ बातो मे नवयुग के पथप्रदर्शक **स्टाइनथाल** (१८२५-'९९) थे। इनका प्रथम ग्रथ १८५५ मे प्रकाशित हुआ। इसमे व्याकरण, तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान के परस्पर प्रभाव की सुन्दर विवेचना थी। पर इस समय श्लाइखर का भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे बोलबाला था। उन्होने इस प्रकार के ग्रथो को नौसिखिए वैयाकरणो के ग्रथ कह कर उनकी खिल्ली उडाई। स्टाइनथाल ने सुदूर-पूर्व देश की चीनी आदि तथा नीग्रो आदि भाषाओ पर काम किया था, और निकटवर्ती आर्य-परिवार की भाषाओ का विवेचन पिष्टपेषण समझकर छोड दिया था। इस कारण भी यह प्रसिद्धि न पा सके। पर भाषा का अध्ययन मनोविज्ञान के सपर्क और सहायता से करना चाहिए, इस दृष्टि को सामने रखने से इनका काम महत्त्वपूर्ण है। **आस्कोली** ने **केन्टुम** और **सतम्** भाषाओ का भेद स्पष्ट रूप से उपस्थित किया।

प्राय १८७० के करीब भाषाविज्ञान ने ऐसी महत्ता प्राप्त कर ली थी कि मैक्समूलर, ह्विटनी आदि मनीषी उस पर गर्व कर रहे थे। उनका गर्व उचित भी था। इस विज्ञान के मूल सिद्धातो के अलावा तुलनात्मक व्याकरण के सहारे आदिम आर्य-भाषा का ढाँचा खडा हो गया था, अनुमानसिद्ध ही सही। और ग्रीक, लैटिन, सस्कृत आदि के प्राय ९० फीसदी शब्दो की व्युत्पत्ति निश्चित हो चुकी थी।

१८८० मे तालव्य-ध्वनि-नियम ढूँढ लिया गया जिसके सहारे आदिम आर्यभाषा के तृतीय श्रेणी के कवर्ग की ध्वनियो का सस्कृत मे कही तो कवर्ग, पर अन्यत्र चवर्ग, यह द्विधा विकास समझ मे आ

गया। इसलिए आदिम तीन मूल स्वर (अँ, एँ, ओँ) निश्चित हुए। यह उस धारणा के विरुद्ध हुआ। जिससे संस्कृत सर्वांश मे आदिम भाषा के सन्निकट समझी जाती थी। इस नई खोज के कारण स्वरक्रम के निष्कर्षो मे भी संशोधन करना पडा। और यह निश्चय भी कि धातु का मूल रूप ही मौलिक है और गुण वृद्धि वाले रूप उत्तरकालीन, बदलना पडा। आदिम आर्य-भाषा की धातु एकाक्षर थी यह विचार भी बदला। इसी समय वर्नर ने ग्रिम-नियम के अपवादो का सुर के प्रभाव के द्वारा समाधान किया।

अब तक जिन युवको का मजाक नौसिखिया कहकर उडाया जाता था और जो यह प्रतिपादित करते थे कि ध्वनि-नियमो मे अपवाद असंभव है क्योंकि ये अपवाद स्वयं किन्ही अवान्तर नियमो के अनुकूल है उनकी बात आदर से सुनी जाने लगी। इनमे **ब्रुगमन्, डेलब्रुक, ऑस्टोफ** और **हर्मन पाउल** प्रमुख है। इन युवको ने कुछ नई बातो पर बल दिया और पुरानी पीढी के अन्वेषको के कुछ उन कार्यो की उपेक्षा की जिनको वे भाषाविज्ञान की जड समझते थे। यहाँ पर इन बातो पर विचार कर लेना जरूरी है।

पुरानी पीढीवाले व्याकरण के नियमो पर बहुत बल देते थे और शब्दो की व्युत्पत्ति बताते हुए अपवादो को असगत न मानते थे। वे भाषा मे शब्द का अस्तित्व प्रमुख मानते थे। इन नए विद्वानो ने यह दृष्टिकोण बदल दिया। इन्होने सिद्ध किया कि भाषा के शब्दो को, बोलनेवाला संसर्ग से सीखता है और व्याकरणकार की तरह उसके सामने धातु और प्रत्यय नही रहते। वह पूर्व सीखे हुए शब्दो के आधार पर नए शब्दो का प्रयोग करता चलता है और निरन्तर उनको सादृश्य से ढालता रहता है। यदि कही विसदृश रूप मिले तो वे अपवाद नही हैं, गलत भी नही हैं। वे भी शुद्ध रूप है, केवल खोजना यह है कि वे किन अन्य पूर्व-स्मृत रूपो के वजन पर ढले और इनके सदृश न ढल कर उनके सदृश क्यो ढले। *किया* की जगह *करा* या *डालना* की जगह *पडवाना* गलत नही है, भाषा के विकास की दृष्टि से ये रूप भी ठीक है।

इस प्रकार सादृश्य का महत्त्व पदरचना मे अद्वितीय समझा जाने लगा।

इन्ही नए विद्वानो ने भाषा के दो अगो को अलग-अलग मानने की परिपाटी चलाई, ध्वनिजात बहिरग और अर्थ अन्तरग। ध्वनि-विकास को ऑस्टोफ ने शरीर-विज्ञान के अन्तर्गत माना और पद-विकास को मनोविज्ञान के। यद्यपि यह विचार गलत साबित हुआ तब भी दोनो के विकास के अन्तर पर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट हुआ। अर्थविज्ञान पर ब्रील का महत्त्वपूर्ण ग्रथ पेरिस मे १८८२ मे प्रकाशित हुआ।

इन्ही विद्वानो ने भाषा के बोले हुए रूप का महत्त्व दिखाया और यह सिद्ध किया कि व्याकरणो और कोषो मे केवल भाषा की विडम्बना मिलती है। इसी कारण बोलचाल की भाषाओ के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाने लगा। बोलचाल की भाषा का स्वय अध्ययन करने-वालो मे अँगरेज विद्वान **हेनरी स्वीट** का नाम उल्लेखनीय है।

नई पीढी के विद्वानो ने भाषा के उद्गम और वर्गीकरण को विज्ञान मे बहुत गौण स्थान दिया। पहले को उन्होने हल करना असभव समझा। पेरिस की भाषाविज्ञान-परिषद् जो आज भी इस विज्ञान की विवेचना के लिए अद्वितीय महत्त्व रखती है, उसने भाषा के उद्गम और सर्वजन-भाषा की सृष्टि इन दो प्रश्नो के विवेचन का अपने नियमो द्वारा ही प्रतिषेध कर दिया। भाषा के वर्गीकरण को भी इन विद्वानो ने कृपादृष्टि से न देखा। इन्होने बोलियो के मिश्रण की ओर ध्यान खीचा और दिखाया कि पदरचना अथवा ध्वनि-नियम के बहुत से अपवाद, बोलियो और भाषाओ के शब्दो के परस्पर आदान-प्रदान से समझ मे आ सकते है। इन्ही विद्वानो ने वाक्य-विज्ञान शाखा के अध्ययन पर भी बल दिया। यह शाखा अभी तक प्राय अछूती ही पडी थी। हर्मन ब्रुगमन और डेलब्रुक दोनो इस दिशा मे अग्रसर हुए। पाउल ने सामान्य भाषाविज्ञान के सिद्धान्तो की अद्वितीय गवेषणा की और उस पर सुन्दर ग्रथ लिखे। ब्रुगमन ने आर्य-परिवार की भाषाओ

की पदरचना कर कई जिल्दो मे अपना ग्रथ प्रकाशित किया जो अब भी श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। इन्ही दिनो भाषा की परिवर्तन-शीलता पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया और उसके कारण निर्धारित किए जाने लगे।

वर्तमान प्रवृत्तियाँ

जर्मनी के नवयुवक व्याकरण-पडितो का बोलबाला प्राय १८८० से आरम्भ होकर बीसवी सदी के पहले बीस साल तक रहा। धीरे-धीरे उनका प्रभाव शिथिल पडने लगा। इधर पिछले पच्चीस-तीस साल मे अमरीका, प्रशान्त महासागर के द्वीपो और अफ्रीका आदि की असाहित्यिक भाषाओ का विशेष अध्ययन किया गया है और फल-स्वरूप भाषा के उद्गम, वर्गीकरण इत्यादि प्रश्नो पर भी जिनको नवयुवक व्याकरण-पडितो ने अलग रख दिया था विचार किया जाने लगा है। आर्य परिवार की भिन्न-भिन्न भाषाओ पर स्वतत्र ग्रथ, तथा अन्य परिवारो की भाषाओ पर भी नए ग्रथ तैयार हुए है। बच्चे की भाषा के विकास को ध्यानपूर्वक देखा जा रहा है और उसके सहारे भाषा के विकास पर प्रकाश पड रहा है। मनोविज्ञान के प्रभाव की महत्ता सर्वथा स्वीकार कर ली गई है और अर्थविकास को उसी की मदद से समझा जा रहा है। ज्ञानतन्तुओ को उच्चारण के अवयवो का प्रेरक मान कर शरीरविज्ञान के अध्ययन की सामग्री लेकर ध्वनि-विज्ञान पर इधर पच्चीस-तीस साल के भीतर बहुत अच्छा काम किया जा सका है। इस विषय मे प्रयोगात्मक ध्वनि-विज्ञान की सफलता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शरीरविज्ञान के मनीषियो से लेकर **रोज़ापेल्ली** ने १८७६ मे ही कायमोग्राफ का ध्वनिविज्ञान मे प्रयोग शुरू कर दिया था और दन्तचिकित्सको से लेकर **ओकले कोट्स्** ने कृत्रिम तालु का प्रयोग १८७१ मे। कायमोग्राफ से ध्वनियो के घोषत्व, स्फोटकत्व, स्पर्शसंघर्षित्व, संघर्षित्व तथा अनुनासिकत्व का यथातथ्य ज्ञान हो जाता है। कृत्रिम तालु मे स्पर्श कहाँ हुआ इसका बिल्कुल

सही ज्ञान प्राप्त होता है। कायमोग्राफ द्वारा अंकित ध्वनियों को सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र की मदद से देखने से सुर का भी ज्ञान मिल जाता है।*

भाषाविज्ञान के अध्ययन का केन्द्र सौ डेढ़ सौ साल तक जर्मनी था। तत्पश्चात् वह केन्द्र पेरिस पहुँच गया, यद्यपि जर्मनी के बूड्ट, हिर्त, **लेस्कीन** आदि विद्वानों का काम पेरिस में किए गए **ब्रील, मेइए, वान्द्रियाज़, दउज़ा** आदि के काम से किसी हालत में नीचे दर्जे का नहीं है। अमरीका के कार्यकर्ताओं में **ब्लूमफील्ड,** सैपीर तथा स्तुर्तवों और पाइक के नाम विशेष उल्लेखनीय है। ध्वनिविज्ञान के विद्वानों में प्रसिद्ध जर्मन प्रोफेसर **स्क्रिप्चर** और अँगरेज **डेनियल जोंस** प्रमुख है। सामान्य भाषाविज्ञान तथा इंगलिश भाषा पर विशेष रूप से काम करने वाले डेनिश प्रोफेसर **ऑटो जेस्पर्सन** है। इन सभी विद्वानों ने बहुत से विद्यार्थियों को शिक्षा दी। देश-विदेश के विद्यार्थी इनकी 'उपासना' कर स्वदेश लौटे और अपनी-अपनी भाषाओं के अध्ययन में जुटे हुए है।

इन नवीन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त भाषाविज्ञान की कई नवीन शाखाएँ इधर हाल में विकसित हुई है। इनमें से प्रमुख है—सुरविज्ञान (Tonetics) भाषा का दार्शनिक स्वरूप-विवेचन (Metalinguistics) बोलियों का वैज्ञानिक अध्ययन (Dialectology) बोलियों का भौगोलिक वर्गीकरण (Linguistic Geography) तथा भाषा के मौखिक रूप को लिखित रूप में परिवर्तित करने का विज्ञान (phonemics)। इन सभी विशेष शाखाओं पर कार्य अधिकतर अमेरिका में हुआ है। मेटालिंग्विस्टिक्स को छोड़कर शेष सब को वर्णनात्मक भाषाविज्ञान (Descriptive Linguistics) कह कर भी पुकारा जाता है। सुरविज्ञान के अंतर्गत विभिन्न भाषाओं के सुर का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

---

*इस सबके विशेष विवरण के लिए इन पंक्तियों के लेखक का 'हिन्दुस्तानी' (प्रयाग) १९३१ की जिल्द में 'ध्वनिविज्ञान में प्रयोग' शीर्षक लेख देखा जाय। उसमें कायमोग्राफ और कृत्रिम तालु के चित्र और उनके प्रयोगों के भी चित्र दिए गए है।

भाषा के मौखिक प्रयोग मे सुर का व्यवहार अधिकाश देशो के निवासी करते है। चीनी भाषा मे सुर का महत्त्व सुपरिचित है। अन्य भाषाओ मे भी प्रधान अथवा गौण रूप से सुर के महत्त्व को पहचाना गया है। इस सुर के वैज्ञानिक विश्लेपण तथा उसे लिखित रूप देने मे कई महत्त्वपूर्ण विद्वानो ने सराहनीय कार्य किया है। सुर पर लिखी गई पुरानी पुस्तको के अतिरिक्त इधर एक नवीन ग्रथ तैयार किया है। कनेथ एल० पाइक ने जिसका नाम है 'इटोनेशन ऑफ अमेरिकन इगलिश।' भाषा के दार्शनिक विवेचन सबधी कुछ कार्य पहले भी हो चुका था। परन्तु इधर विशेष रूप से इस विषय पर गभीर चितन किया गया है। भाषा तथा विचार का पारस्परिक सबध, भाषा की अनित्यता, ध्वनि की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि आदि कुछ ऐसे विषय है जिन पर मेटालिग्विस्टिक्स के अतर्गत विचार किया जाता है।

१९वी शती के नवीन वैयाकरणो ने बोली का महत्त्व प्रतिपादित किया था। परन्तु इसके बावजूद अभी तक सभवत भाषा वैज्ञानिको को इतना अवकाश न मिल सका था कि वे भाषा की इन जीवित प्रणालियो का सम्यक् अध्ययन कर सकते। इधर विभिन्न देशो की बोलियो पर विशेष ध्यान दिया गया है। 'डाइलैक्टोलौजी' के अतर्गत किसी एक प्रदेश की जीवित बोली को लेकर उसे वर्णित किया जाता है उसके ऐतिहासिक विकास पर उतना बल नही दिया जाता। मुहाविरो तथा बिगडी हुई बोलियो को भी इस वर्ग के वैज्ञानिको ने उतने ही आदर से देखा है जितना कि किसी क्लैसिक भाषा को। बोली जाने वाली अँग्रेजी तथा लदन की कौकनी (cockney) बोली पर कई महत्त्वपूर्ण तथा रोचक ग्रथ लिखे गए है। 'अमेरिकन स्लाग' का भी भलीभाँति विवेचन हुआ है। इसके अतिरिक्त सामाजिक आर्थिक तथा जातिगत आधारो पर बनी बोलियो का भी अध्ययन किया जा रहा है। इस प्रकार "डाइलेक्टोलौजी" अथवा "बोली-विज्ञान" जीवित बोलियो को अधिक महत्त्व देता है, और इन बोलियो का विश्लेपण उनकी मानवीय पृष्ठभूमि मे करता है। 'लिग्विस्टिक ज्योग्रॅफी' वस्तुत

'डाइलैक्टोलौजी' से ही संयुक्त है। इसके अंतर्गत बोलियों की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन किया जाता है, और उसी के अनुसार उनके नक्शे बनाए जाते हैं। 'लिंग्विस्टिक एटलस' संबंधी यह कार्य अभी बहुत नहीं हुआ है, परन्तु जितना कुछ हुआ है, वह काफी महत्त्वपूर्ण है। फ्रांस में कुछ बोलियों के एटलस तैयार किए गए हैं। सबसे अधिक परिश्रमपूर्ण ढंग से न्यू इंग्लैंड का एटलस बनाया गया है। किसी देश की बोलियों के अध्ययन में तत्संबंधी एटलस कितने सहायक सिद्ध हो सकते हैं यह बताने की आवश्यकता नहीं है।

पिछले वर्षों में भाषाविज्ञान के क्षेत्र में सबसे अधिक ध्यान आकर्षित किया है ध्वनिग्राम-विज्ञान 'फोनीमिक्स' ने। इस विज्ञान की अभी तक पूरी-पूरी रूपरेखा भी तैयार नहीं हो पाई है। पिछली पीढ़ी के अमरीकी विद्वानों, विशेषतः ब्लूमफील्ड तथा एडवर्ड सेपीर ने 'फोनीम' अथवा ध्वनिग्राम का काफी गंभीर विश्लेषण किया था। इस चिन्तन की अपार संभावनाओं पर कुछ आधुनिक अमरीकी भाषा-वैज्ञानिकों ने 'फोनीमिक्स' की नींव रक्खी। 'फोनीमिक्स' वस्तुतः अलिखित भाषाओं को लिखित रूप देने का विज्ञान है। इसमें किसी भी प्राचीन अथवा नवीन बोली की ध्वनियों का तात्त्विक विश्लेषण करके उनमें से कुछ ध्वनिग्राम छाँट लिए जाते हैं। इन ध्वनिग्रामों को अंकित करने के लिए व्यवस्थित ढंग से कुछ लिपिचिह्नों का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार वर्णमाला के निर्माण के सिद्धांतों की सम्यक् विवेचना इस विज्ञान में होती है। के० एल० पाइक की 'फोनीमिक्स' शीर्षक पुस्तक मानो इस विज्ञान की इंजील है। इस धारा के अन्य प्रमुख चिंतक हैं—बर्नार्ड ब्लॉख, जी० एल० ट्रेगर तथा ग्लीसन। 'फोनीमिक्स' संबंधी अब तक के सभी महत्त्वपूर्ण प्रयोग अमरीका में हुए हैं।

आधुनिक युग में भाषा-विज्ञान के अध्ययन का केन्द्र जर्मनी तथा फ्रांस के पश्चात् इंग्लैंड होता हुआ, लगता है अमरीका पहुँच रहा है। पिछले वर्षों में भाषा-विज्ञान संबंधी नवीन कार्य अधिकतर अमरीका के विश्वविद्यालयों में संपन्न हुआ है। वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की तो

नींव ही अमरीकी विद्वानो के योग मे पडी है। नवीन युग के ये विद्वान् भाषा के उस रूप का वर्णन तथा विश्लेषण अधिक करते है, जिस रूप मे वह हमे मिली है, उसके ऐतिहासिक विकास-क्रम की खोज पर उनका ध्यान उतना नही है। जो भी हो, भाषाविज्ञान के इतिहास के आदि-युग तथा मध्य-युग मे ऐतिहासिक प्रणाली ही विद्वानो के चिंतन का आधार थी। परन्तु इस नवीन युग मे वर्णनात्मक प्रणाली का महत्त्व दिन प्रति दिन बढता जा रहा है। वस्तुत भाषाविज्ञान सबधी सम्यक् परिशीलन के लिए इन दोनो प्रणालियो का उचित समन्वय ही वाछनीय है।

इन नवीन दिशाओ के अतिरिक्त भाषाविज्ञान सबधी कार्य कुछ अन्य सबधित क्षेत्रो मे भी हुआ है। स्थानो तथा व्यक्तियो के नामो का अध्ययन भाषाविज्ञान पर आधारित होते हुए भी समाज विज्ञान, सास्कृतिक इतिहास तथा पुरातत्त्व आदि ज्ञान की अन्य शाखाओ को विकसित करता है। इग्लैड मे स्थान-नामो के अध्ययन को काफी प्रोत्साहन मिला है। विभिन्न क्षेत्रो मे इसके लिए अलग-अलग सघ कार्य कर रहे है, जिनकी शोध-सूचनाएँ उनके मुख पत्रो मे निकलती है। इनके विस्तृत वार्षिक विवरण बराबर प्रकाशित होते रहते है। इस प्रकार इस विषय से सबधित एक स्वतत्र साहित्य ही तैयार हो गया है।

इन महत्त्वपूर्ण उद्योगो से प्रेरित होकर हमारे यहाँ भी कुछ इस प्रकार का कार्य प्रारभ हुआ है। कुछ दिन हुए प्रयाग विश्वविद्यालय से एक थीसिस 'सयुक्त प्रात के हिन्दू पुरुषो के नाम' शीर्षक से प्रस्तुत किया गया था। स्थान-नामो के महत्त्व की ओर भी लोगो का ध्यान आकर्षित किया गया है। वस्तुत भारतीय विद्वानो को इस क्षेत्र मे अभी बहुत कुछ करना है। जो कुछ काम हुआ है उससे कुछ आशा तो बँधती है, परन्तु सतोष नही हो पाता। भाषाविज्ञान मे अधिकाधिक बढती हुई रुचि इस बात की ओर सकेत करती है कि इन नवीन दिशाओ मे भी हमारे देश के विद्वान महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकेगे।

भारत भाषाविज्ञान का आदि गुरु था। पर कालचक्र से यही नही हुआ कि उसकी पदवी खो गई बल्कि उसके विद्वानो की कृतियो

पर पश्चिम के मनीषियो का उचित ध्यान भी नही आकृष्ट हुआ। वर्तमान युग मे काम करने वालो मे सर्वप्रथम स्वर्गीय **रामकृष्ण गोपाल भडारकर** का नाम आता है। व्याकरणशास्त्र का विवेचन सस्कृत विद्या के केन्द्रो मे परम्परा से चला आया है। भडारकर ने देशी परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए यूरोपीय विद्वानो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो का भी गभीर अध्ययन किया और परिणाम-स्वरूप *विलसन व्याख्यान-माला* भारतीय जनता को १८७७ मे दे सके। सस्कृत विद्या के प्रगाढ पाडित्य के कारण यह ग्रन्थ कुछ बातो मे तत्कालीन अन्य भाषाविज्ञानियो की कृतियो से अच्छा ही है। इसी समय भारतीय भाषाओ के अध्ययन मे भारत मे कुछ यूरोपीय विद्वान लगे हुए थे। इनमे से सिन्धी के लिए **ट्रम्प**, द्राविडी के लिए **कैल्डवेल** और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन के लिए **बीम्ज** और **होयर्नले** के नाम प्रमुख है। इन्ही दिनो भारतीय सरकार के भाषा-सर्वेक्षण की जिल्दे **जार्ज ग्रियर्सन** की देख-रेख मे प्रकाशित हुई। ये सभी वृद्धजन पुरानी पीढी के मान्य विद्वान थे। इधर बीस साल मे **टर्नर** और **ज्यूल ब्लाक** ने सतत परिश्रम से भारतीय भाषाओ पर तुलनात्मक और ऐतिहासिक विवेचन किया है। **टर्नर** का *नेपाली कोष* व्युत्पत्ति-विज्ञान के क्षेत्र मे अपना सानी नही रखता। और **ब्लाक** का *मराठी का विकास* तथा *भारतीय आर्य भाषाएँ* दोनो ग्रथ अद्वितीय महत्त्व के है। भारत के वर्तमान भाषा-विज्ञान-सेवियो मे बहुतेरे इन्ही दो महानुभावो के शिष्य है। भारत के वर्तमान भाषाविज्ञानियो मे सर्वप्रमुख **सुनीतिकुमार चटर्जी** है। इनका बगाली भाषा के विकास के विषय का ग्रथ आज भी कई अशो मे कोष की महत्ता रखता है। चटर्जी महोदय केवल भाषाविज्ञानी नही है, इनकी गति पुरातत्व आदि अन्य कई विद्याओ मे भी अच्छी है। इस कारण यह भाषाविज्ञान को व्यापक दृष्टि से पढते-पढाते आए है। केवल भाषाविज्ञानी प्रसिद्ध है **डा० सिद्धेश्वर वर्मा**। इन्होने दर्दी भाषाओ और बोलियो की बहुत अच्छी खोज की है। इनके अलावा **कत्रे** (कोकणी), **धीरेन्द्र वर्मा** (व्रज), **बनारसीदास जैन** (पजाबी),

बानीकान्त काकाती (आसामी), **बाबूराम सक्सेना** (अवधी) **उदयनारायण तिवारी** तथा **विश्वनाथ प्रसाद** (भोजपुरी), **रामस्वामी ऐयर** (द्राविडी) आदि अपने-अपने क्षेत्रो मे लब्धप्रतिष्ठ हुए। अपने विश्वविद्यालयो मे सस्कृत और प्राकृत पर काम करने वाले बहुत से पडित है। इनमे से **प० ल० वैद्य** तथा **हीरालाल जैन** का नाम अपभ्रंश के लिए उल्लेखनीय है और प्राकृत के तुलनात्मक अध्ययन के लिए सुकुमार सेन का।

भारतीय विद्वान शायद अभी कुछ साल तक भाषाविज्ञान के मूल सिद्धान्तो पर कोई मौलिक कार्य न कर सके। सभी अपने-अपने सीमित क्षेत्र मे सलग्न है। यही क्या कम सतोष की बात है कि अपनी भाषाओ के बारे मे हमे अब विदेशियो की ओर टकटकी लगाने की जरूरत नही। मुख्य-मुख्य भाषाओ का सामान्य परिशीलन हो चुका है, पर बोलियो का अभी बाकी है। इसमे जितने ही अधिक युवक लगे अच्छा है। ग्रियर्सन का काम उस समय के लिए ठीक था हम उनके अनुगृहीत भी है। पर वह सामग्री सदोष है। जगली जातियो की भाषाओ को भी हमी को अध्ययन करना चाहिए। **बोडिग** आदि मिशनरियो का काम अच्छा है, पर जो काम भारतीय कर सकेंगे उसकी तुलना का वह नही ठहर सकता। हर्ष की बात है कि नवयुवक इस ओर आ रहे है।

भाषाविज्ञान के अध्ययन मे इधर अपने देश मे यथेष्ट प्रगति हुई है। लिग्विस्टिक सोसाइटी अरब् इडिया का कार्य लाहोर मे आज से पच्चीस साल पहले प्रारभ हुआ था। डा० बुल्नर के देहान्त के बाद यह सस्था शिथिल हो गई और कार्यालय को कलकत्ता उठा ले जाने पर कार्य ने जोर नही पकडा। अब डा० कत्रे के विशेष उद्योग से और पाँच साल तक राके फेलर फाउडेशन की मदद से यह सस्था ही केवल कार्यतत्पर नही हो गई बल्कि प्राय एक हजार नवयुवको को भाषा-विज्ञान का शिक्षण ग्रीष्म कालीन सत्रो द्वारा मिल चुका है। पूना का डेकन कालेज आज भाषा-विज्ञान के अध्ययन का सर्वपूर्ण केन्द्र है।

भारतीय भाषाओ का अध्ययन करते समय हमे अपनी प्राचीन

भाषाओ (संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश) का सहारा भूल से भी न छोडना चाहिए, विशेषकर संस्कृत का। संभव है कि वाक्यपदीय आदि प्राचीन ग्रंथो के परिशीलन से हमे कुछ ऐसे सुझाव मिले जिनके सहारे हम एक बार फिर पच्छिमी विद्वानो को कोई मौलिक चीज देकर उऋण और कृतार्थ हो सके।

भाषाविज्ञान ने भाषा-सम्बन्धी कुछ मूल तत्त्व पकड लिए है। प्राचीन और वर्तमान भाषाओ का विश्लेषण करने पर ही यह संभव हुआ है। पर अभी तक यह विश्लेषण चरम कोटि तक नही पहुँच पाया है। एक-आध सवालो के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मैक्समूलर ने पुरुष और स्त्री के उच्चारण के भेद का दिग्दर्शन कराते हुए कहा था कि पुरुष के स्वर-यन्त्र के तार स्त्री के तारो की अपेक्षा लम्बे होते है। संभव है, यह ठीक हो। बच्चो की वाणी मे एक प्रकार की कोमलता और मधुरता रहती है, यह लडकियो मे स्थिर रहती है पर लडको मे क्रमश (प्राय १६ वर्ष की अवस्था मे) समाप्त हो जाती है। पर दो बहिनो या माता-पुत्री, या भाई-भाइ या पिता-पुत्र की बोली मे एक विलक्षण समानता मिलती है और कभी-कभी हमको भ्रम होता है कि प्रीति बोल रही है या कीर्ति, या सुबोध बोल रहे है या सुधीर। इस समानता का क्या कारण है? यह समानता ध्वनिगुणो के विश्लेषण से नही ज्ञात होती। यह कौन चीज है? क्या कभी भी हम ज्ञान की उस कोटि को पहुँच सकेगे जब इस तरह के सवालो का समाधान कर सकेगे?

आदि मे एक भाषा थी या अनेक इत्यादि प्रश्नो का उत्तर देना हम लोगो के ज्ञान की वर्तमान अवस्था मे असंभव है। जब सृष्टि का आदि ही नही मिलता तब भाषा की बात क्या कही जाय? क्या कभी ऐसा भी हो सकेगा जब संसार के समस्त मनुष्य एक भाषा-भाषी हो जायँगे? इसका उत्तर यही है कि यदि यह संभव हो जाय कि मनुष्य भेद-भाव छोडकर देवता बन जायँ तो सर्वजन-भाषा का अस्तित्व भी संभव है। अभी तो यह सब स्वप्न-मात्र है पर स्वप्न ही सही मनन करने और उद्योग करने के लायक है।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

लिपि का इतिहास

मूलरूप से भाषा श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। अपौरुषेय श्रुति को छोड़कर अन्य सभी शब्द को सुनने के लिए वक्ता और श्रोता के समकालत्व और समदेशत्व की अपेक्षा होती है। ऐसी परिस्थिति में अपनी बात और भावना को यदि उत्तरकालीन या भिन्न-देशस्थ मनुष्य तक पहुंचाना अभीष्ट हो तो किसी अन्य उपाय का अवलम्बन करना चाहिए। मनुष्य अपने समय की विशेष घटनाओं की स्मृति छोड़ जाना चाहता है। उनका उल्लेख वह अपने पुत्र-पौत्रों से कर दे, और वे अपने नाती-पोतों से, तो परम्परा से स्मृति बाकी रह सकती है। पर सदा यह संभव नहीं कि उसके ये निकटस्थ सम्बन्धी उसके पास हों। यदि उसने कोई बात अन्तस्तल में छिपा रक्खी है और उसके बच्चे छोटे छोटे हैं तो वह अपनी बात की स्थिरता किस प्रकार छोड़ जाय? यदि वह उनको भी अपनी बात का भेद न बताकर दूरस्थ प्रेमीजन के पास भेजना चाहता है तो वह किस उपाय का अवलम्बन करे? आज जब लेख, पत्र, तार, टेलीफोन आदि साधन सभ्य मनुष्य को सुलभ हैं तब इस प्रकार के प्रश्नों पर विचार करना अनर्गल सा मालूम होता है। पर जब ये साधन नहीं मौजूद रहे होंगे तब क्या होता होगा?

लिपि आदि साधनों के रहने पर भी स्मृति आदि के लिए अन्य साधनों का भी उपयोग चल सकता है। हनुमान जी रामचन्द्रजी की मुद्रिका दिखा कर ही सीताजी को यह विश्वास दिला सके कि वह उनके स्वामी के दूत थे। दुष्यन्त ने अपने नाम की अंकित अँगूठी अभिज्ञान-स्वरूप शकुन्तला के पास छोड़ दी थी, ऐसा कालिदास का प्रतिपादन है। आज भी शादी-ब्याह के न्योते के रूप में सुपारी भेजने का देश में

रिवाज है। किसी भी मृत्यु की सूचना जिस चिट्ठी द्वारा दी जाती है उसका एक कोना फाड दिया जाता है। यदि किसी बात को याद रखना जरूरी है और उसे भूल जाने का अन्देशा है तो गॉठ बॉध ली जाती है। अपने देश मे वर्षगॉठ भी निश्चय ही स्मृति के साधनस्वरूप है। बच्चा कितने साल का हुआ यह बात डोरी मे डाली हुई गॉठो की सख्या से मालूम हो जाती थी। कुछ देशो मे विचित्र रेखाओ से खचित छडी को देखकर उन विभिन्न रेखाओ द्वारा स्मृति मे आई हुई बातो को दूत बता सकते थे।

इस प्रकार श्रोत्र-ग्राह्य शब्द का प्रतिरूप या उसकी सहायक कोई ऐसी चीज हुई जो नेत्रग्राह्य हो। इस विषय मे कुछ जातियो के प्रयत्न उल्लेखनीय है। पेरु मे कुइपु नाम की डोरियॉ होती थी। ये दो फुट से अधिक लम्बी होती थी। इनमे रग-बिरगे धागे बॅधे रहते थे। इन रगो और इन धागो मे पडी गॉठो मे विविध अर्थो का सकेत हो जाता था, सफेद धागे से 'चॉदी' या 'शान्ति' का अर्थ निकाला जाता था लाल से 'सोना' या 'युद्ध' का। इसी तरह मृगचर्म मे रग-बिरगे मोती, मूॅगे आदि चीजे बॉध कर विविध अर्थो का बोध कराया जाता था। यह तर्कीब भी उत्तरी अमरीका की कुछ जातियो मे प्रचलित थी। ये तर्कीबे सकेत-स्वरूप समझनी चाहिए, उसी प्रकार जैसे एक विशेष आकृति के अक्षरो से एक विशेष शब्द द्वारा किसी विशेष भाव का उद्बोध हो जाता है। भाव के ज्ञान के लिए सकेत के पूर्व ज्ञान की अपेक्षा अनिवार्य है। इस प्रकार सकेतो के लिए किसी विशेष शब्द के माध्यम की जरूरत नही। तथा विभिन्न जातियो मे युद्ध के लिए विभिन्न शब्द रह सकते है और तब भी लाल रग युद्ध का अर्थ बता सकता है।

इन स्मृति-चिह्नो की अपेक्षा मिस्र देश मे प्रचलित चित्रलिपि से भाव का व्यक्तीकरण अधिक आसानी से हो जाता था। दौडते हुए बछडे के पास ही पानी का भी चित्र, प्यास के भाव का उद्बोध कराता था। मनुष्य के चित्र मे निकली हुई पसलियो से दुर्भिक्ष का और ऑसू ढालती हुई ऑखो से दु ख का आभास मिलता था। चीन मे दो मिले

हुए हाथो से मित्रता का अर्थ समझा जाता था। इसी प्रकार सूर्य, वृक्ष साँप, भेड आदि के चित्रो से उन-उन चीजो ओर जीवो का बोध होता था। चित्र द्वारा स्थूल विषयो का व्यक्तीकरण सुलभ था, सूक्ष्म का अपेक्षाकृत कठिन। उदाहरणार्थ चीन देश मे सुनने का अर्थ दर्वाजे मे कान सटाए हुए मनुष्य के चित्र से किया जाता था।

यदि चित्रो द्वारा ही भावो का व्यक्तीकरण होता रहता तो भाषा-विभेद के रहते हुए भी एक जाति या देश के चित्रो मे दूसरी जाति या देशवाले भी उन्ही चिह्नो से उन भावो का बोध कर लेते। पहाड या समुद्र के चित्र से हिन्दी भाषा-भाषी को उसी प्रकार उन चीजो का बोध होता है जैसे अँगरेज या हब्शी को, यद्यपि इन तीनो की भाषाओ मे इन चीजो के लिए अलग-अलग शब्द हैं। पर चित्रो का खीचना आसान काम न था, समय भी काफी लगता था। धीरे-धीरे खराब खिचे हुए चित्रो से भी काम चलता रहा। होते होते ये चित्र अपने मूल-रूप से बहुत दूर हट आए। इन सकेतो को देख कर ही मूल-चित्रो का उद्बोध होता था और उनके द्वारा उन भावो का। चित्रो की स्थिति तक, ये चाहे कितने भी बुरे खिचे हुए हो भावो का उद्बोध अन्य भाषा-भाषियो को भी हो जाता था, पर अब सकेतो के कारण व्यक्तीकरण उन्ही तक सीमित रह गया जो उन सकेतो से अभिज्ञ थे।

इस प्रकार यदि आँख के भाव का बोध कराने के लिए आँख के चित्र के स्थान पर केवल बिन्दी रह जाय तो बिन्दी मे आँख का भाव केवल उसी को मालूम होगा जो उस सकेत से परिचित हो। चित्र तक तो भाव और चित्रसकेत मे, देखनेवाले को एक प्रकार का समवाय सम्बन्ध मालूम देता था, अब तो केवल ऐसा सम्बन्ध रह गया जो रूढि पर आश्रित था। उदाहरणार्थ चीन देश मे, पर्वत का भाव पहले ऐसे चित्र से व्यक्त किया जाता था जिसमे ऊँची-नीची कई चोटियाँ दिखाई पडती थी। धीरे-धीरे ऊपर एक छोटी-सी लकीर और मूल मे दो छोटी छोटी खडी लकीरो से ही पर्वत का भाव प्रकट किया जाने लगा। मनुष्य के चित्र मे पहले सिर, दो बाहे, धड और दो टाँगे स्पष्ट थी,

बाद को धड के लिए केवल एक खडी लकीर और उसके नीचे उसी से दोनो तरफ निकली हुई दो छोटी लकीरे ही दो टॉगो के स्वरूप रह गई। इसी तरह मिस्र देश मे शेरनी का भाव पहले उसके चित्र से प्रकट किया जाता था। बाद को होते-होते केवल इस L चिह्न से उसका बोध कराया जाने लगा।

जब रूढि द्वारा स्थापित इस प्रकार के सकेत विशिष्ट-भाषा-भाषी जाति या देश तक सीमित रह गए तब इन सकेतो से विशिष्ट शब्दो (ध्वनि-समूहो) का ही उद्बोध होना स्वाभाविक था। उदाहरणार्थ यदि हिन्दी *जुआ* शब्द के लिए एक ही सकेत हो तो 'द्यूत' और 'युग' दोनो के अर्थ का बोध करावेगा। ऐसी परिस्थिति मे कौन से अर्थ का अभिप्राय है, इसको जतलाने के लिए किसी और उपाय की जरूरत पड सकती है। चीनी भाषा मे लिपि की इस अवस्था के कारण समान अर्थ के बोधक दो शब्दो को पास-पास रखकर उनके सामान्य अर्थ का बोध कराया जाता है। इस प्रकार ये विशिष्ट सकेत चित्र से इतने दूर हट आए कि केवल विशिष्ट ध्वनि-समूहो (ध्वन्यात्मक शब्दो) का बोध कराने लगे। चीनी मे इसी प्रकार के एकाक्षर ध्वन्यात्मक शब्द है। और जब केवल सकेत रह गए तो सकेत विकसित होते-होते किसी भी परिवर्तन को स्वीकार कर सके। इस तरह प्रथम सम्पूर्ण बात या वाक्य का बोध करानेवाले एक चित्र, फिर वाक्य के विभिन्न स्थूल भावो के अलग-अलग चित्र, फिर इन चित्रो से विकसित हुए उनके उद्बोधक सकेत, और इनसे अक्षर, लिपि के विकास मे यह क्रम रहा।

चीनी आदि ऐसी भाषाओ मे जिनमे शब्द एकाक्षर हो, सकेतो का अक्षरो के स्थान पर प्रयोग मे आना समझ मे आता है। ई० पू० २००० तक चीन देश मे ऐसी स्थिति पहुँच गई थी। मिस्र मे भी इसी तिथि तक यह स्थिति हो गई थी कि ये सकेत चित्रो से दूर रूढि-ग्राह्य हो गये थे। मिस्री भाषा मे भी एकाक्षर शब्दो का बाहुल्य था। जब तक एकाक्षर शब्दो को जतलाने का अभिप्राय हो ये सकेत काम के थे।

चीनी भाषा के सवा चार सौ संकेत इसी प्रकार के है। पर उसमें अलग-अलग ध्वनियों के द्योतन का कोई उपाय नहीं है त के लिए संकेत है, पर त् और अ के लिए अलग-अलग नहीं। चीनी भाषा का काम चल गया, क्योंकि उसमें न उपसर्ग थे न प्रत्यय। सम्बन्ध-तत्त्व का बोध कराने के लिए भी अलग-अलग एकाक्षर शब्द थे, जिनके लिए संकेत पहले से मौजूद थे। पर मिस्री भाषा की अवस्था इससे भिन्न थी। उसमें एकाक्षर शब्दों के अलावा उपसर्ग, मध्य-विन्यस्त पद और प्रत्यय भी थे। *सोन्* (भाई), *सोन्-अ* (मेरा भाई) *सोन्-क्* (तेरा भाई), *सोन्-फ* (उसका भाई), *सोन्-उ* (कई भाई), *सोन्-त्* (बहिन) का बोध एक ही संकेत से करना असंभव था। ऐसी दशा में लिखने वाले की बुद्धि में अ-क् फ्-उ-न् आदि ध्वनियों का भान होना संभव था। एकाक्षर शब्दों के द्योतक संकेतों में क्या उपाय किया जाय कि इन भिन्न भावों का भी बोध हो सके? ध्वनियों का अलग-अलग भास, एक ध्वनि से आरंभ होने वाले संकेत एक ओर, और दूसरी ध्वनियों से आरंभ होने वाले अन्यत्र, इस विभाग से शुरू हुआ होगा। अनुमान है कि ऐसा संकेत जो किसी विशेष ध्वनि से आरंभ होता था, वह उस संकेत द्वारा द्योतित शब्द की आदिम ध्वनि के लिए भी काम में लाया जाने लगा। अलग ध्वनियों के लिए अलग संकेतों की जरूरत तो सोन्-क् आदि शब्दों के अस्तित्व से महसूस होती थी। इस प्रकार *अहोम्* (उकाब) का संकेत अ के लिए और *रो* (मुख) *लबोइ* (शेरनी) क्रम से ल् और र् के लिए प्रयोग में आने लगे। एक ही ध्वनि से आरंभ होने वाले कई संकेत रो रेत र आदि रहे होंगे। और आरंभ में ये सभी उस आदिम ध्वनि आदि के लिए प्रयोग में आते होंगे। बाद को वह संकेत जिसका भाषा के शब्द के लिए अधिक प्रयोग रहा होगा या जो अन्यों की अपेक्षा अधिक आसानी से बन सकता होगा, उसने उस ध्वनि-विशेष का द्योतन करने के लिए दूसरों पर विजय पाई होगी। मिस्री भाषा की पच्चीस ध्वनियों में किसी-किसी के लिए अनेक संकेत पाए जाते हैं। इस तरह मिस्र देश में ध्वनियों के लिए अलग-अलग

चिह्न (वर्ण) काम मे आए। कुछ काल तक साथ ही साथ चित्रात्मक और भावात्मक सकेत भी साथ-साथ चलते रहे, जैसा कि प्राचीन लेखो के अध्ययन से मालूम होता है।

चीन महादेश और मिस्र के अतिरिक्त लिपि का विकास, प्राचीन काल मे मेसोपोटैमिया मे सुमेरी जाति द्वारा किया गया। यहाँ भी शब्द-व्यक्तीकरण चित्र द्वारा ही पाया गया है। पर जहाँ मिस्र मे अधिकतर ये चित्र पत्थरो पर खुदे हुए मिले है, मेसोपोटैमिया के चित्र नरम ईंटो पर कीलो से खोदे जाते थे। तल की नर्मी के कारण केवल लाइने खिच सकती थी, गोलाई आदि के प्रदर्शन का कोई साधन न था। उदाहरणार्थ मछली का चित्र केवल तीन-चार लाइनो से खीचा जा सकता था। इस प्रकार ये चित्र आरभ मे ही सकेत से हो गए, और फिर भावो के व्यक्त करनेवाले। सामी पडोसियो ने इनको अक्षरात्मक बना दिया। बाद को ईरानी लोगो ने भी इनका प्रयोग करना शुरू किया, और इन्ही का एक रूप हमे दारा के पुराने कीलाक्षर लेखो मे मिलता है।

वर्तमान यूरोप की सभी लिपियाँ ग्रीक लिपि से विकसित हुई है। ग्रीक के पुराने लेख ई० पू० ९ वी सदी तक के मिलते है। ये थेरा द्वीप मे मिले थे। इनमे से कुछ दाहिनी ओर से बाईं ओर को और कुछ बाईं से दाहिनी ओर को लिखे गए है। इसके बाद उत्तरी मिस्र के अबूसिम्बेल स्थान पर मिले हुए ७ वी ई० पू० सदी के, और फिर कोरिन्थ और अथेन के ई० पू० छठी सदी के लेख है। ई० पू० चौथी सदी तक इन लेखो के दो विभाग, पूर्वी और पच्छिमी, मिलते है। उस समय के इधर के लेखो मे एकरूपता दिखाई पडती है। ग्रीक लिपि के वर्णो के नाम सामी है। रोम के उत्थान के पूर्व इटली और पास-पडोस के प्रदेशो मे एत्रुस्की भाषा बोली जाती थी। इसके कुछ पुराने लेख मिले है। इस लिपि के बारे मे विद्वानो का मत है कि यह इटली मे ९ वी सदी ई० पू० मे एशिया माइनर से आई। और एशिया माइनर मे इन्होने ग्रीस-देशवासियो से प्राप्त किया था। लैटिन के पुराने से पुराने लेख ई० पू० चौथी सदी के है। ये रोम मे मिट्टी के बर्तनो पर खुदे मिले है। यह

लिपि ग्रीक स्रोत की है, पर इस पर एत्रुस्की लिपि का भी प्रभाव स्पष्ट है। बाद को यही रोमन लिपि कहलाई। आरंभ में इसमें २३ वर्ण थे। बाद को १४वीं १५वीं सदी में इसमें २६ वर्ण हो गए जो आज तक कायम हैं। यूरोप के उत्तरी प्रदेशों की **रूनी** लिपि प्रचलित ग्रीक लिपि से संबंध नहीं रखती। विद्वानों का विचार है कि यह काले सागर पर बसे हुए किसी ग्रीक उपनिवेश से प्राय ई० पू० ६०० में ली गई। केल्टी की **ओघ** (५वीं सदी) लिपि रूनी में ही निकली है। स्लावी की **सिरिली** और **ग्लेगोलिथी** (९वीं सदी) का विकास तत्कालीन ग्रीक लिपि से माना जाता है।

आर्मीनी लिपि के लेख चौथी सदी ई० के मिलते हैं। कुछ विद्वान् इसे ईरानी स्रोत का और अन्य ग्रीक स्रोत का बताते हैं। ई० पू० पहले सहस्राब्द में एशिया माइनर में कुछ लिपियाँ वर्तमान थीं। ये अरमी की कोई पूर्वकालीन रूप समझी जाती हैं। **अरमी** के सबसे पुराने लेख प्राय ८०० ई० पू० के उत्तरी सीरिया के सिन्दिली नाम के स्थान में मिले थे। यह उत्तरी स्यामी की लिपियों में सर्वप्रमुख लिपि थी। इसी से **हेब्रू** लिपि निकली है। **अरबी** लिपि भी अरमी का ही एक रूप है। इसके ५वीं सदी ई० पू० तक के लेख मिलते हैं। ७वीं ८वीं ई० सदी में इसके दो रूप **कूफी** और **नस्खी** मिलते हैं। नस्खी रूप ज्यादा प्रचलित हो गया और वर्तमान अरबी लिपि उसी का विकसित रूप है। ईरान में हखमानी बादशाहों ने कीलाक्षर लिपि का प्रयोग किया था, पर सिकन्दर की विजय के उपरान्त अरमी आ गई। सासानी शाहंशाहों की लिपि **पहलवी** है।

भारत में सर्वप्रथम तिथि पड़े हुए लेख अशोक प्रियदर्शी के हैं। इनकी लिपियाँ **ब्राह्मी** और **खरोष्ठी** हैं। खरोष्ठी के लेख ई० पू० तीसरी सदी से लेकर तीसरी सदी ई० तक के मिलते हैं। ये भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में ही मिले हैं। ई० तीसरी सदी में खरोष्ठी चीनी तुर्किस्तान में भी पहुँच गई थी। खरोष्ठी अरमी का ही भारतीय रूपान्तर समझी जाती है। ब्राह्मी लिपि से ही वर्तमान भारत की सभी

लिपियाँ विकसित हुई है। कनिंघम, लैसेन और ओझा आदि विद्वान् इस भारत की स्वतन्त्र उपज समझते है, पर यूरोप के बूलर आदि बहुतेरे मनीषी इसे विदेशी (प्राय सामी) लिपि से ही विकसित बताते है। ब्राह्मी का विवेचन आगे किया जायगा।

वर्तमान यूरोप की लिपियो का मूल-स्रोत ग्रीक लिपि है, यह बात ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो गई है। उसके विषय मे सवाल उठता है कि ग्रीकवासियो को यह कहाँ से मिली ? क्या यह उन्ही की निजी चीज है ? विद्वानो का मत है कि लिपि ग्रीसवासियों की अपनी चीज नही है, उन्होने इसे फोनीशी व्यापारियो से लिया। यूरोपीय भाषाओ मे लिपि के लिए अल्फाबेट शब्द है, और इसमे प्रथम दो वर्ण *अल्फा* और *बेटॉ* का समावेश है। ग्रीक लिपि के ये दो वर्ण रोमन मे *ए* और *बी* नाम से पाये जाते है। *अल्फा*, *बेटॉ*, *गम्मॉ*, *डेल्टा* शब्द केवल सामी *अलेफ बेथ*, *गमेल* और *दालेथ* के रूपान्तर है। इन शब्दो का सामी अर्थ है (क्रमश बैल, मकान, ऊँट, कनात का दर्वाजा) ग्रीक मे ये निरर्थक है। अरबी मे मेम (पानी) आदि अन्य वर्णो के नाम भी इसी प्रकार सार्थक है। इन वर्णों के आदि रूपो से इन अर्थो का भाव भी झलकता है। ग्रीसवासियो ने इनको लेकर इनमे अपनी जरूरत के हिसाब से सशोधन कर लिये। सामी मे व्यजनो के लिए ही वर्ण थे। ग्रीसवालो ने अलेफ, हे, और *ऐन* को स्वरो के लिए इस्तेमाल कर लिया। सामी लिपि मे २२ ही वर्ण थे। ग्रीक लोगो ने न केवल इतना किया कि कुछ व्यजन-वाची वर्णो को स्वरवाची बना लिया, बल्कि कुछ ऐसी ध्वनियो के लिए जो उनकी भाषा मे थी पर सामी मे न थी, नए वर्ण गढ लिए। कुछ विद्वानो का यह विचार है कि लिपि वास्तव मे ग्रीक थी और ग्रीसवासियो से फोनीशी लोगो ने अपनाया। पर यह विचार तर्क की समीक्षा पर नही ठहरता। यह कहना कि इन वर्णो के नाम मूल-रूप मे ग्रीक निरर्थक शब्द है और फोनीशी लोगो ने इनको सार्थक कर लिया युक्ति-सगत नही जान पडता। इनकी मूल आकृति भी भावात्मक सकेतो का निर्देश करती है।

विद्वानो का बहुमत इस पक्ष मे है कि ग्रीक लोगो ने लिपि फोनीशी

लोगो से ली। इस फोनीशी लिपि का स्रोत क्या है ? इस सवाल के जवाब मे कई वाद उपस्थित किए गए है। कुछ लोग इसे मिस्र देश के भावात्मक सकेतो मे, कोई बेबल की कीलाक्षर लिपि से और कुछ क्रीट की मिनोआ लिपि से निकला हुआ मानते है। प्रो० पेटी नामक एक विद्वान् का मत है कि मिस्री, ग्रीक, फोनीशी, एशिया माइनरवाली और दक्खिनी सामी आदि सभी लिपियाँ भूमध्य सागर के आसपास के रहनेवाले लोगो के कुछ सकेतो से निकली है जिन्हे वहाँ व्यापारी काम मे लाते थे। इस मत का पोषण अन्य विद्वानो ने नही किया। ग्रीक लिपि को सामी से सम्बद्ध मानने मे सब से बडी कठिनाई यह जान पडती थी कि यह लिपि बाई ओर से दाहिनी ओर चलती है और सामी लिपियाँ दाहिनी से बाई, पर दक्खिनी सामी के कुछ लेख ६ ठी सदी ई० पू० के प्राप्त हुए है। नमे से बहुतेरे तो दाई से बाई ओर चलते है पर कुछ हल की जुताई की तरह दाई से बाई, बाई से दाई ओर फिर दाई से बाई ओर जाते है। इससे अनुमान किया जाता है कि सामी लिपियो मे दोनो ओर चलने की प्रथा थी। सामी लिपियो के उत्तरकालीन रूपो मे दाई से बाई ओर जाने का मार्ग निश्चित हो गया और ग्रीक आदि मे बाई से दाई ओर। सामी लिपि मे जेर, जबर, पेश आदि स्वर-सूचक चिह्न ई० चौथी सदी से लगने शुरू हुए।

सामी जातियो ने लिपि का प्रयोग मिस्र देशवासियो से सीखा, इस मत को अब प्राय सभी विद्वान् मानने लगे है, और सामी से, ऊपर निर्दिष्ट अन्य जातियो ने। अनुमान है कि ई० पू० प्रथम या द्वितीय सहस्री मे कुछ सामी जातियाँ मिस्र देश के दक्खिनी भाग के निवासियो के सम्पर्क मे आई और उन्ही से लिपि का व्यवहार सीखा।

लिपि की अवस्थाओ का विकास, वाक्य-निर्देशक सम्पूर्ण चित्र से भावात्मक चित्र, इन चित्रो से भावात्मक सकेत मात्र, फिर इन सकेतो से उद्‌बोधित शब्दो के प्रथम अक्षरो से अक्षरात्मक लिपि और उनसे ध्वन्यात्मक लिपि, दर्जा-बदर्जा इस प्रकार मालूम होता है। उत्तरी अमरीका के मूलनिवासियो की लिपियाँ, मिस्र की और चीन की लिपियाँ

तथा प्राचीन सुमेरी आदि की अक्षर लिपियाँ बहुत काल तक भावात्मक संकेतो की अवस्था की रही है। चीनी लिपि अब भी अक्षरात्मक है यद्यपि जापान वालो ने इसे अपने लिए ध्वन्यात्मक भी बना लिया है लिपियो मे ध्वन्यात्मक लिपि ही सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है।

भारतीय लिपि सामग्री

भारत मे इधर मोहनजोदडो और हडप्पा मे जो ईसवी सन् से पूर्व कई हजार वर्ष पहले की सामग्री मिली है उसमे भी कुछ लेख जहाँ-तहाँ अकित है। ये ऐसी लिपि मे है जो ब्राह्मी या खरोष्ठी से मेल नही खाती और उससे सर्वथा भिन्न है। विद्वानो का बहुमत इस पक्ष का है कि यह सारी सामग्री ऐसी सभ्यता की द्योतक है जिसका वैदिक आर्य सभ्यता से कोई सम्बन्ध नही। लिपि के सम्बन्ध को सुमेरी से जोडने का उद्योग हुआ है। इस सामग्री के अलावा हैदराबाद रियासत के पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष प्रो० यजदानी ने १९१७ मे खुदाई कराते समय प्रागैतिहासिक काल के कुछ मिट्टी के बर्तन प्राप्त किए थे जिन पर कुछ लेख अकित है। इन लेखो की लिपि भी ब्राह्मी से भिन्न है।

इतिहासिक काल की सामग्री मे अशोक के शिला-लेखो के पूर्व के केवल दो छोटे-छोटे लेख मिले है, एक अजमेर जिले के बडली (बर्ली) गाँव मे और दूसरा नैपाल की तराई मे पिप्रावा नाम के स्थान मे। "पहला एक स्तभ पर खुदे हुए लेख का टुकडा है, जिसकी पहली पक्ति मे *'वीर (ा) य भगव (त)'* और दूसरी मे *'चतुरासिति'* व (स) खुदा है। इस लेख का ८४ वाँ वर्ष जैनो के अन्तिम तीर्थंकर वीर (महावीर) के निर्वाण सवत् का ८४ वाँ वर्ष होना चाहिए। यदि यह अनुमान ठीक हो तो यह लेख ई० पूर्व (५२७–८४) ४४३ का होगा। इसकी लिपि अशोक के लेखो की लिपि से पहले की प्रतीत होती है। इसमे *'वीराय'* का *'वी'* अक्षर है। उक्त *'वी'* में जो *'ई'* की मात्रा का चिह्न है वह न तो अशोक के लेखो मे और न उनसे पीछे के किसी लेख मे मिलता है, अतएव वह चिह्न अशोक से पूर्व की लिपि का होना चाहिये,

जिसका व्यवहार अशोक के समय तक मिट गया होगा और उसके स्थान में नया चिह्न व्यवहार में आने लग गया होगा। दूसरे अर्थात् पिप्रावा के लेख से प्रकट होता है कि बुद्ध की अस्थि शाक्य जाति के लोगों ने मिल कर उस स्तूप में स्थापित की थी। इस लेख को बूलर ने अशोक के समय से पहले का माना है। वास्तव में यह बुद्ध के निर्वाण-काल अर्थात् ई० पूर्व ४८७ के कुछ ही पीछे का होना चाहिए। इन शिला-लेखों से प्रकट है कि ई० पूर्व की पाँचवीं शताब्दी में लिखने का प्रचार इस देश में कोई नई बात न थी।" (गौ० ही० ओझा कृत प्राचीन लिपि-माला पृ० २, ३)।

भारत में लिपिज्ञान की प्राचीनता

ओझाजी ने ऊपर उल्लिखित ग्रन्थ में भारतवर्ष में लिखने के प्रचार की प्राचीनता के पुष्कल प्रमाण दिये हैं। बौद्ध त्रिपिटक में जहाँ-तहाँ लिखने के उल्लेख आए हैं। ब्रह्मजालसुत्त में बच्चों के खेल *अक्खरिका* का उल्लेख है। "इस खेल में खेलने वालों को अपनी पीठ पर या आकाश में (अंगुलि से) लिखा हुआ अक्षर बूझना पड़ता था।" लिखने की कला का उल्लेख अन्य-सूत्र-ग्रन्थों में भी मिलता है। त्रिपिटक के अधिकांश अंश का संकलन बुद्ध भगवान के निर्वाण के बाद ही हो गया था और यद्यपि इसमें बाद को कई बार संशोधन हुए पर सामग्री की दृष्टि से यह ई० पू० ५ वीं सदी के इधर की चीज नहीं। 'अक्षरों' का प्रयोग बच्चों के खेल में भी होने लगा हो, यह अवस्था लिपि के आविष्कार के सैकड़ों साल बाद ही संभव है जब लिखने की कला का काफी प्रचार हो चुका हो।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में *लिपि, लिबि, ग्रन्थ* शब्दों का प्रयोग तथा *लिपिकर* और *यावनानी* शब्दों के बनाने के नियम पाए जाते हैं। *यवनानी* का अर्थ कात्यायन और पतंजलि ने 'यवनों की लिपि' किया है। पाणिनि ने स्वरित के चिह्न का भी उल्लेख किया है। अष्टाध्यायी से यह भी पता चलता है कि "उस समय चौपायों के कानों पर स्रुव, स्वस्तिक

आदि के और पाँच तथा आठ के अको के चिह्न भी वनाए जाते थे और उनके कान काटे तथा छेदे भी जाते थे।"

ऊपर भाषाविज्ञान के इतिहास का विवेचन करते समय हम देख चुके है कि भारतवर्ष मे ध्वनियो और पदो के उच्चारण और रचना की चर्चा ब्राह्मण काल और उपनिषद् काल मे काफी पाई जाती है। छान्दोग्य उपनिषद् मे 'अक्षर' शब्द मिलता है और ईकार, ऊकार और एकार सज्ञाएँ। तैत्तिरीय उपनिषद् मे वर्ण और मात्रा का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण मे ॐ अक्षर को अकार, उकार और मकार वर्णो के सयोग से वना हुआ वतलाया है। ये सभी ग्रन्थ यास्क और पाणिनि के पहले के माने जाते है। ऋग्वेद मे गायत्री, उष्णिक् आदि छन्दो के नाम मिलते है। अथर्ववेद म एक जगह छन्दो की सख्या ११ लिखी है और तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक आदि सहिताओ मे कई छन्दो और उनके पादो के अक्षरो की सख्या तक गिनाई है।

लिखना न जाननेवाला जनसमुदाय अपनी भाषा के व्याकरण का सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विचार कर ले और छन्दो का भी विश्लेषण कर ले परन्तु बिना लिखने की कला की मदद के, यह सभव नही प्रतीत होता।

भारतीय आर्य अको का लिखना जानते थे इस बात के तो और भी जोरदार सबूत है। ऋग्वेद मे हजार अष्टकर्णी गायो के दान का उल्लेख आता है। यहाँ अष्टकर्ण शब्द का यही अर्थ सभव है कि जिनके कर्ण पर आठ का अक अकित था। प्राचीन ग्रथो मे अयुत, प्रयुत आदि सख्याओ के नाम आए है जिनका ज्ञान लिखने के बिना सभव नही। समय के मुहूर्त, क्षिप्र आदि सूक्ष्म विभाग को भी लेख की मदद के विना समझ पाना असगत ही लगता है।

श्रुति को मौखिक सम्प्रदाय से स्थिर रखने के उपाय के कारण यह समझ लेना कि लिखने की कला का अज्ञान था, ठीक नही। आज भी कितनी ही चीजो को याद कर रखने का चलन है, यद्यपि लिखना भी साथ साथ मालूम है। बूलर इस अनुमान को मानते है कि वैदिक समय मे भी लिखित पुस्तके मौखिक शिक्षा की मदद के लिये काम मे लाई

जाती थी। यहाँ ताडपत्र, भोजपत्र आदि लिखने की सामग्री प्राचीन काल से ही प्रकृति ने प्रचुर मात्रा में दे रखी थी और ई० पूर्व चौथी सदी मे रूई से कागज बनाया जाने लगा था।

इस विवरण मे यही एक निष्कर्ष सभव है कि भारतीय आर्य लोगो को लिखने की कला काफी प्राचीन काल से मालूम थी। यदि ऋग्वेद के अन्तिम मडल के सूक्तो को ई० पू० १२०० का भी मान लिया जाय तो उस समय भी यह कला भारतीयो को ज्ञात थी।

खरोष्ठी की उत्पत्ति

भारतवर्ष की प्राचीन लिपियाँ ब्राह्मी और खरोष्ठी है। अशोक के शहबाजगढ़ी और मनसेहरा वाले लेख खरोष्ठी म है। अशोक के पूर्व का इस लिपि का कोई लेख नही मिलता। अशोक के पूर्व इस लिपि का एक-एक अक्षर ईरानी सिक्को पर मिलता है जो ई०पू० चौथी सदी के माने जाते है। अशोक के पीछे भारत मे यह लिपि बहुधा विदेशी राजाओ के ही सिक्को और शिलालेखो मे पाई गई है। इस लिपि के लेख ब्राह्मी के लेखो की अपेक्षा बहुत थोडे है। प्राय यह सभी भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश और पजाब मे ही पाए गए है, शेष भाग मे ब्राह्मी के लेख है। खरोष्ठी दाई से बाईओर को चलती है। इसके ११ अक्षर (क, ज, द, न, ब, य, र, व, ष, स, ह, समान उच्चारणवाले अरमइक अक्षरो से बहुत कुछ मिलते हुए है। अनुमान है कि "ईरानियो के राज्यत्वकाल मे उनके अधीन के हिन्दुस्तान के इलाको मे उनकी राजकीय लिपि अरमइक का प्रवेश हुआ हो और उसी से खरोष्ठी लिपि का उद्भव हुआ हो।" अरमइक में केवल २२ अक्षर थे। स्वरो की अपूर्णता थी और ह्रस्व और दीर्घ मात्राओ के भेद का अभाव। भारतीय भाषाओ की जरूरत के अनुसार यहाँ उसमे आवश्यक सशोधन और परिवर्धन कर लिए गए और वह राजकीय और व्यापारी काम-काज की लिपि बना ली गई। इस सशोधन के कर्त्ता शायद कोई खरोष्ठ नाम के आचार्य रहे हो। यह भी सभव है कि तक्षशिला मे इसका प्रादुर्भाव हुआ हो। इस लिपि का

प्रचार पजाब मे तीसरी सदी ई० तक थोडा बहुत बना रहा। तब मे यह यहाँ से सदा के लिये चल बसी।

ब्राह्मी की उत्पत्ति

इस लिपि के लेख इस देश मे पाँचवी सदी ई० पू० से मिलते हैं। भारत मे यही सर्वश्रेष्ठ समझी जाती रही है। जैनो के पन्नवणासूत्र मे और समवायगसूत्र मे १८ लिपियो (बभी, जवणालिया, दोसापुरिया, खरोष्ठी आदि) के नाम मिलते हैं। ललित-विस्तर मे ६४ लिपियो के नाम आए है, जिनमे प्रथम ब्राह्मी और द्वितीय खरोष्ठी है। शुद्धता और सपूर्णता की दृष्टि से ब्राह्मी और खरोष्ठी मे आकाश-पाताल का अन्तर है।

ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के बारे मे विद्वानो के मत दो विभिन्न धाराओ मे बहे है, एक पक्ष विदेशी उत्पत्ति को प्रश्रय देता है, दूसरा इसको भारत की ही उपज मानता है। विदेशी उत्पत्ति माननेवाले विद्वानो मे बहुत मतभेद है।

(क) विल्सन, प्रिंसेप, आफ्रैड मूलर, सेनार्ट आदि ने ब्राह्मी की उत्पत्ति ग्रीक लिपि या फोनीशी लिपि से मानी थी। सेनार्ट का अनुमान था कि सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतीयो ने ग्रीको से लिखना सीखा। कस्ट का कहना है कि एशिया के पश्चिम भाग मे रहनेवाले फोनीशी व्यापारियो का भारत से वाणिज्य-सम्बन्ध था, उन्ही से भारतीयो ने लिपिज्ञान प्राप्त किया होगा।

(ख) डीके का विचार है कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति असीरी कीलाक्षरो से किसी दक्खिनी सामी लिपि के द्वारा हुई है। कुपेरी नाम के एक फ्रेंच विद्वान का अनुमान था कि भारतीय लिपि चीनी लिपि से निकली होगी। परन्तु असीरी या चीनी लिपि को ब्राह्मी का उद्गम मानने के पक्ष मे अब कोई विद्वान नही है।

(ग) विल्यम जोन्स, वेबर, टेलर, बूलर आदि विद्वानो ने ब्राह्मी की उत्पत्ति सामी के किसी न किसी (उत्तरी, दक्खिनी) रूप से बतलाई

है। उत्तरी सामी लिपि के अरमी रूप का सम्बन्ध ईरान से हो गया था, इसको सभी मानते है। उसी ओर से यह भारत भी पहुँची होगी, ऐसा अनुमान किया जाता है। बूलर उत्तरी सामी से ही ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते है। उन्ही के मत को अब विदेशी उद्‌गम माननेवाले विद्वान अधिक श्रेय देते है।

खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति सभी लोग विदेशी स्रोत से, सो भी उत्तरी सामी से, समझते है। उसी से ब्राह्मी लिपि भी निकली हो जो खरोष्ठी से सर्वथा भिन्न है, और सो भी करीब-करीब एक ही समय मे, यह बात गले नही उतरती। खरोष्ठी के वर्ण अधिकतर लम्बी और तिर्छी लकीरो के है, विकार की स्थूलता ऊपर के भाग मे पाई जाती है, नीचे के भाग मे केवल दो वर्णो मे। उनमे गोलाकार कोई रूप नही है। वर्णो की आकृति और कद नियमबद्ध से नही है। ये वर्ण दाई से बाई ओर चलते है। ब्राह्मी मे नियमित लकीरे और गोल आकार है। इनमे विकार नीचे के भाग मे पाया जाता है, ऊपर के मे कम। वर्णो की आकृति सुन्दर और सुगठित है। स्वर-चिन्ह बहुधा ऊपर की ओर बेडी पाई से सूचित किए गए है। यह बाई से दाई ओर चलती है। दोनो मे समानता का केवल एक लक्षण है, दो व्यजनो के बीच के स्वर की स्थिति। पर यह समानता स्पष्ट ही खरोष्ठी मे ब्राह्मी की नकल है। खरोष्ठी को लेखको और व्यापारियो की लिपि और ब्राह्मी को सुशिक्षित समाज की लिपि बतला कर विभिन्नता का समाधान नही हो पाता। एक ही जनसमुदाय एक ही स्रोत से लेकर, लिपि के रूपो मे इतने मौलिक भेद नही करता। प्रत्येक अक्षर मे एक की दूसरे से कुछ तो समानता रहती।

सामी से ब्राह्मी की उत्पत्ति खोजते समय बूलर ने मनमानी अटकल लगाई है। कहा है कि भारतीयो ने कितने ही वर्णो को उलट दिया जिससे ऊपर का हिस्सा नीचे हो गया, कितनो मे कोने निकाल दिए है और रुख बदलने मे बहुतो की आकृति बदल गई। इस प्रकार की असगत कल्पना करके तो कोई भी लिपि किसी अन्य लिपि से निकाली जा सकती है। सम्बन्ध स्थापित करने के लिए समान ध्वनि के लिए

समान सकेत होने चाहिए। खरोष्ठी के सामी से उधार लिए हुए २२ अक्षरो मे से आठ (च, द न, प, ब, र, व श) उसी की तरह है, नौ (क, ख, ग, ज, म, य, ल, ष, ह) कुछ न कुछ मिलते-जुलते है, और किन्ही अविद्यमान रूपो की कल्पना नही करनी पडती। ब्राह्मी के वर्णो मे से केवल एक (ग) की कुछ समानता है, पाँच (अ, त, थ, ल, श) वर्णो मे बहुत खीचतान करने से कुछ समानता झलक सकती है, और शेष बिल्कुल भिन्न है। खरोष्ठी के स्वर एक ही सामी अक्षर (अलिफ) पर निर्भर है। पर ब्राह्मी मे अलग अलग सकेतो से ही स्वरो का बोध कराया गया है। ध्वनियो का सूक्ष्म मे सूक्ष्म विवेचन कर लेनेवाला आर्य ब्राह्मण इस प्रकार अपनी लिपि मे स्वर और व्यजन का भेद न दिखा सकता और अधपढा खरोष्ठी व्यापारी या लेखक इस ध्वनिविज्ञान के सिद्धान्त को अपनी लिपि मे समाविष्ट कर लेता, यह तर्क उपहासास्पद ही हो सकता है।

टेलर दक्खिनी सामी से ब्राह्मी की उत्पत्ति मानते है। वह ब्राह्मी व को सामी य, से, घ को सामी ख से ज को ष से, छ को क से निकला हुआ कहते है। इस प्रकार तो टेलर की निज भाषा की लिपि को देवनागरी से निकाला जा सकता है, और शायद कुछ अधिक सफल तर्को के द्वारा!

असल बात तो यह है कि ब्राह्मी लिपि "भारतवर्ष के आर्यो की अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वाङ्ग सुन्दरता से चाहे इसका कर्त्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पडा चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणो की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो" और चाहे ब्रह्म (ज्ञान) की रक्षा के लिए सर्वोत्तम साधन होने के कारण इसको यह नाम दिया गया हो। इस देश मे इसकी विदेशी उत्पत्ति का सूचक कोई प्रमाण नही मिलता। सिकन्दर के समय से ग्रीक, चीनी, अरबी आदि कितने ही विदेशी यात्री आए, किसी ने यह न कहा कि यहाँ की लिपि विदेशी है। ब्राह्मी के इस देश की उपज होने के पक्ष मे एडवर्ड टामस, डासन और कनिंघम का मत है। इस पक्ष के समर्थन का पथप्रदर्शन श्रद्धेय मनीषी गौरीशकर

हीराचन्द ओझा ने किया था। डा० तारापुरवाला का विचार है कि ब्राह्मी लिपि का आदि रूप हैदराबाद में पाए गए प्रागैतिहासिक काल के बर्तनो पर के सकेतो को समझना चाहिए। वह पेट्री के इस मत का कि मिस्र, ग्रीस और अरब आदि की लिपियाँ पूर्ववर्ती व्यापारी सकेतो से निकली है, चित्रलिपि आदि से नही, समर्थन करते है और समझते है कि उसी प्रकार ब्राह्मी लिपि भी स्वतत्र भारतीय सकेतो से विकसित हुई है। पर दोनो मे इतना कम साम्य है कि ब्राह्मी को हैदराबाद सकेत चिह्नो से निकालना क्लिष्ट कल्पना ही होगी। जब तक ब्राह्मी लिपि से मिलते-जुलते ई० पू० पाँचवी सदी से पहले के कोई लेख न मिले तब तक ब्राह्मी के पूर्वरूप के बारे मे कुछ नही कहा जा सकता। इतना निश्चय है कि किसी भी ज्ञात विदेशी लिपि से नही निकली।

पिप्रावा, बडली और अशोक की लिपि मे परस्पर कोई स्पष्ट अन्तर नही है परन्तु अशोक के समय के बहुत पीछे वाले भट्टिप्रोलु के स्तूप के लेखो की लिपि में पिप्रावा, बडली, अशोक की लिपि से बहुत कुछ भिन्नता पाई जाती है। इससे अनुमान होता है कि यह दक्षिण की लिपि उत्तर के लेखो की लिपि से नही निकली और उत्तरी तथा दक्खिनी दो लिपिभेद किसी पूर्ववर्ती ब्राह्मी लिपि के परकालीन रूप है। सभव है कि यह दक्खिनी लिपि वही हो जिसका नाम ललितविस्तर मे द्राविड लिपि आया है। भट्टिप्रोलु का स्तूप मद्रास प्रान्त के कृष्णा जिले मे पाया गया है। जैनसूत्रो और ललितविस्तर मे उल्लिखित अन्य लिपियो के लेख अभी तक नही मिले, इसलिए उनके बारे मे कुछ नही कहा जा सकता।

ई० पू० ५०० के निकट से ई० ३५० तक के लेखो को सामान्य नाम ब्राह्मी दिया जाता है। इसके बाद ब्राह्मी लिपि के लिखने के दो प्रवाह दिखाई देते है, उत्तरी और दक्खिनी। उत्तरी शैली का प्रचार प्राय विन्ध्यपर्वत के उत्तर मे और दक्खिनी का उसके दक्खिन मे रहा है। उत्तरी की नीचे लिखी लिपियाँ है।

१ **गुप्त लिपि**—इसका प्रचार ई० चौथी पाँचवी सदी मे रहा।

गुप्तवंशी राजाओ के लेख इसी मे है, इसलिये इनका यह नाम रक्खा गया है।

२ **कुटिल लिपि**—यह गुप्त लिपि से निकली और इसका प्रचार छठी से नवी सदी ई० तक रहा। इसके अक्षरो और विशेषकर स्वरो की मात्राओ की कुटिल आकृति के कारण इसको यह नाम दिया गया है।

३ **नागरी**—उत्तर मे इसका प्रचार ई० नवी सदी के आस-पास से मिलता है पर दक्खिन मे आठवी सदी से ही आरभ होकर १६ वी सदी के पिछले भाग तक मिलता है। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से बँगला लिपि निकली। नागरी से ही कैथी, महाजनी राजस्थानी और गुजराती लिपियाँ भी निकली है। दक्खिन मे इसको नदिनागरी कहते है।

४ **शारदा**—इस लिपि का प्रचार भारत के उत्तर पच्छिमी भाग (पजाव कश्मीर) मे रहा। ८ वी सदी तक वहाँ कुटिल लिपि का प्रचार था। बाद को उसी से शारदा बनी। शारदा का सबसे पुराना लेख १० वी सदी ई० का समझा जाता है। इसी लिपि से वर्तमान कश्मीरी और टाकरी लिपियो की उत्पत्ति हुई और गुरुमुखी के अधिकतर अक्षर भी इसी से निकले है।

५ **बँगला**—इसका विकास नागरी लिपि से १० वी सदी ई० के आस-पास हुआ। इससे **नैपाली**, वर्तमान **बँगला**, **मैथिली**, और **उड़िया** लिपियाँ निकली है।

उत्तरी के अतिरिक्त ब्राह्मी के अन्य रूप निम्नलिखित है।

१ **पश्चिमी**—यह लिपि काठियावाड, गुजरात, नासिक, खानदेश, हैदराबाद, कोकण, मैसूर आदि के लेखो मे ५ वी से ९ वी सदी तक मिलती है। पाँचवी सदी के आस-पास इसका कुछ-कुछ प्रवेश राजपूताना और मध्य भारत मे भी पाया गया है। पच्छिमी प्रदेश मे मिलने के कारण ही इसका यह नाम रक्खा गया है।

२ **मध्यप्रदेशी**—यह लिपि मध्यप्रदेश हैदराबाद के उत्तरी भाग, और बुदेलखड मे, ५वी से लेकर ८वी सदी ई० तक मिलती है। इस

लिपि के अक्षरो के सिर चौखूँटे या सदूक की आकृति के होते है जो भीतर मे बहुधा खाली पर कभी-कभी भरे हुए है।

३ **तेलगू-कन्नडी**—यह लिपि बबई प्रान्त के दक्खिनी भाग मे, हैदराबाद राज्य के दक्खिनी हिस्से मे, मैसूर मे तथा मद्रास प्रान्त के उत्तर-पूर्वी हिस्से मे ५वी सदी ई० में मिलती है। १४ वी सदी तक इसके कई रूपान्तर हुए। इसी से वर्तमान तेलगू और कन्नडी लिपियाँ निकली, इससे यह नाम पडा।

४ **ग्रन्थलिपि**—यह लिपि मद्रास मे पाई गई। ७ वी से १५ वी सदी तक कई रूपान्तर होते होते इससे वर्तमान ग्रथलिपि बनी और उससे वर्तमान मलयालम् और तुलु लिपियाँ निकली। मद्रास के जिन हिस्सो मे तमिल लिपि का प्रचार है, वहाँ भी सस्कृत के ग्रथ इसी मे लिखे जाते है, इसी से शायद इसका यह नाम पडा।

५ **कलिगलिपि**—इसके लेख ७ वी से ११ वी सदी तक मिलते है। प्राचीन लेख मध्यप्रदेशी लिपि से और पिछले नागरी, तेलगू, कन्नडी और ग्रथलिपि से मिलते है।

६ **तमिललिपि**—७ वी सदी से बराबर आज तक तमिल ग्रथ इसी लिपि मे मिलते है। इसके अक्षर अधिकतर ग्रन्थलिपि से मिलते-जुलते है। वर्तमान तमिललिपि इसी से विकसित हुई है। तमिल का ही घसीट का एक रूप बट् टेळुत्तु है। इसका १४ वी सदी तक प्रचार रहा।

नागरी लिपि

नागरी लिपि की प्रभुता भारतवर्ष मे ८ वी सदी से इधर बराबर रही है। इस उत्तरी लिपि का सर्वप्रथम प्रयोग दक्खिन मे मिला यही इसका प्रमाण है। आज सस्कृत के ग्रथो को लिखने और छापने के लिए सर्वत्र और मराठी तथा हिन्दी भाषाओ के लिए सर्वथा इसी का व्यवहार होता है। नैपाल की यही राजलिपि है। मिथिला और बगाल मे भी इसका आदर है। भारत की यही राष्ट्रलिपि है।

नागरी लिपि मे बराबर विकास होता रहा है। १०वी सदी की लिपि मे "अ, आ, घ, प, म, य, ष, स के सिर दो हिस्सो मे विभक्त मिलते है, पर ११वी सदी मे ये दोनो अग मिलकर सिर की एक लकीर बन जाते है और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लम्बा रहता है जितनी कि अक्षर की चौडाई होती है।" ११ वी सदी की नागरी, वर्तमान नागरी से मिलती-जुलती है और १२ वी सदी से वर्तमान रूप स्थिर-सा मिलता है, केवल इ और घ की आकृति मे पुरानापन नजर आता है और ए, ऐ, ओ औ की मात्राओ मे कुछ अन्तर पाया जाता है। पिछले सौ साल मे छापे की सुविधा ने सयुक्त व्यजनो के ऊपर-नीचे के सम्मिलित रूपो (च्च, क्क, क्व) आदि को हटाकर (च्च, क्क, क्व) आदि आगे-पीछे लिखे हुए रूपो को प्रश्रय दिया है।

वर्तमान नागरी लिपि मे वर्णो का अकन ध्वनियो के क्रम से होता है, केवल इ की मात्रा (ि)और रेफ (र्) अपवाद है। उ, ऊ, ऋ की मात्राएँ (ु, ू, ृ) वर्णो के नीचे और ए, ऐ, ओ, औ, की (े, ै, ो, ौ,) मात्राएँ वर्णों के ऊपर लिखी जाती है। जिन व्यजनो (ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ, द, ह) मे खडी पाई स्पष्ट अन्तिम अश नही है, उनमे सयुक्त व्यजनो को ऊपर नीचे लिखने का क्रम अब भी जारी है। रकार के तीन रूप (र, र्, ्र) मिलते है। ख का कभी कभी र व से विभ्रम हो जाता है। ह्रस्व ऍ, ऑ के लिए व्यतिरिक्त वर्ण और मात्राएँ नही है। इन त्रुटियो की ओर विद्वानो का ध्यान गया है और इन्हे दूर करने का उद्योग किया जा रहा है।

नागरी नाम की व्युत्पत्ति का अभी तक निश्चय नही हो सका है। इसका नागर ब्राह्मणो या नागर अपभ्रश से सबध होना सन्दिग्ध ही है। दक्खिन मे इसे नन्दिनागरी कहते थे, इससे नन्दिनगर नाम की किसी राजधानी का आभास मिलता है। शाम शास्त्री ने एक "लेख मे यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि देवताओ की मूर्तियाँ बनने के पूर्व उनकी उपासना साकेतिक चिह्नो द्वारा होती थी जो कोई त्रिकोण तथा चक्रो आदि से बने हुए मन्त्र के, जो 'देवनगर' कहलाता था, मध्य मे

लिखे जाते थे। देवनगर के मध्य लिखे जानेवाले अनेक प्रकार के साके-तिक चिह्न कालान्तर मे उन-उन नामो के पहले अक्षर माने जाने लगे और देवनगर के मध्य उनका स्थान होने से उनका नाम 'देवनागरी' हुआ।" यह नही कह सकते कि यह कल्पना कहाँ तक ठीक है।

उर्दू और रोमन

ब्राह्मी लिपि से विकसित लिपियो के अलावा, हमारे देश मे उर्दू और रोमन लिपियाँ भी वर्तमान है और दोनो दो विभिन्न राज-सत्ताओ की सूचक है। उर्दू लिपि अरबी के फारसी रूपान्तर मे आवश्यक भारतीय ध्वनियो के लिए सकतो का समावेश करके बनी है। इसमे दो गुण है, द्रुतगति और दाईं से बाईं ओर चलना। इसलिए लिखने मे सहूलियत होती है। पर इसमे पूर्व लिखित अश के आँखो से छिप जाने की भी सभावना रहती है। द्रुतगति के कारण स्पष्टता मे बहुत कमी आ जाती है और कभी-कभी कुछ का कुछ पढ लिया जाता है। दो कथित गुणो के होने पर भी उर्दू लिपि मे कई दोष है। स्वरो को अकित करने का कोई साधन नही। यदि जेर, जबर, पेश के चिह्न लगावे तब भी भारतीय भाषाओ के सभी स्वर अकित नही हो पाते और विभ्रम रह जाता है। अच्छी लिपि मे एक ध्वनि को अकित करने के लिए एक ही सकेत होना चाहिए। उर्दू मे एक-एक ध्वनि के लिए तीन-तीन, चार-चार वर्ण है (स के लिए से, स्वाद और सीन, त के लिए ते, तोय, ह के लिए छोटी हे और बडी हे, ज के लिए जाल, जे, ज्वाद, जोय)। इन वर्णो के प्रतिरूप अरबी भाषा मे ध्वनियाँ अलग-अलग है, परन्तु उर्दू मे नही। इन अपूर्णताओ के रहते, उर्दू नागरी के मुकाबिले म नही ठहर सकती। इस लिपि का व्यवहार अब सिन्ध, पश्चिमोत्तर प्रदेश, तथा पजाब मे विशेष और सयुक्तप्रान्त के पश्चिमी भाग मे थोडा बहुत है, अन्यत्र पिछली सदी की फारसी सस्कृति से आक्रान्त कतिपय मनुष्यो मे ही यह सीमित है। भारत मे यह घट रहा है।

रोमन विगत राजतन्त्र की राज-लिपि थी और अभी चल रही है।

इसका विशेष गुण इसकी ध्वन्यात्मकता है (देवनागरी आदि लिपियाँ अक्षरात्मक हैं)। भारतीय भाषाओं को अंकित करने के लिए सुनीति कुमार चटर्जी ने इंडो-रोमन नाम का, रोमन का ही एक संशोधित रूप उपस्थित किया है। पर इसके भारतीय जनता द्वारा स्वीकृत होने की कोई संभावना नहीं जान पड़ती। भारत की राष्ट्रलिपि देवनागरी है। रोमन अथवा उर्दू रियायत के तौर पर थोड़े दिन और भले ही चला दी जायँ।

उन्तीसवाँ अध्याय

विविध भाषापरिवार

वर्णन की सुविधा के लिए ससार की भाषाओ को चार चक्रो मे बॉटा जाता है—(क) उत्तरी और दक्खिनी अमरीका, (ख) प्रशात महासागर के द्वीप, (ग) अफ्रीका और (घ) यूरोप-एशिया। इस अध्याय मे पहले तीन चक्रो की भाषाओ का विवेचन किया जायगा।

अमरीका चक्र

इस चक्र के अतर्गत अमरीका महाद्वीप के सभी (उत्तरी, दक्खिनी और मध्य) भागो के मूल निवासियो द्वारा बोली जाने वाली भाषाएँ आती है। ईस्वी १५वी सदी के अत मे यूरोप से एक जहाज भारतवर्ष की खोज करता हुआ, भ्रम से चक्कर खाकर यहाँ पहुँच गया और तभी से यहाँ के मूलनिवासियो का नाम 'इडियन' पड गया। अनुमान है कि कोलम्बस के समय समस्त मूलनिवासियो की सख्या चार-पॉच करोड रही होगी, जो अब घटते-घटते डेढ करोड रह गई है। यूरोपीय साम्राज्य का यही प्रभाव प्रशान्त महासागर के द्वीपो के और अफ्रीका के मूल-निवासियो पर भी पडता रहा है। इन लोगो मे लिखने का कोई रिवाज नही था। विशेष घटनाओ की याद, रग-बिरगी रस्सियो मे गाँठे बाँध कर रक्खी जाती थी। पत्थरो, घोघो पर तथा चमडे आदि पर भी कुछ भाँति-भाँति के चित्र और निशान बने मिलते है पर इनका कोई अर्थ नही निकलता। और जो निकलता भी होगा उसे मूलनिवासी बताते नही। तथापि नहुअत्ल और मय भाषाओ मे अब लिपि मिलती है। मय भाषा की पुस्तको मे बहुधा साथ ही साथ स्पेनी भाषा में अनुवाद भी मिलता है

तुलनात्मक व्याकरण के, और बहुधा अन्य व्योरेबार ग्रन्थो के अभाव मे इन भाषाओ के विपय मे विशेप विवरण नही दिया जा मकता। इनमे क्लिक और महाप्राण ध्वनियाँ मिलती है। एसा अनुमान किया जाता है कि इन मूलनिवामियो की जातियाँ इधर उधर आती जाती रही हे और एक-दूसरी पर आविपत्य पाती रही है। इमीलिए भाषा-सबधी सामान्य लक्षणो के माथ साथ विशेपताओ का बडा भारी घोल-मेल मिलना है। कभी-कभी कोई कोई बोली इतनी जालिम माबित हुई है कि उसने जीती हुई जातियो की बोलियो को वर्बाद ही कर दिया है। कोलम्बस के आगमन के पहले, दक्खिनी अमरीका मे इका नाम के माम्राज्य की राजभाषा कुइचुआ थी। स्पेनी विजेताओ ने इसी को मूलनिवासियो के वीच ईसाई धर्म के प्रचार के मा-यम के रूप मे इस्तेमाल किया। इसी प्रकार विस्तृत क्षेत्र मे होने के कारण गुअर्नी-तुपी का भी प्रयोग ईसाई पादरियो ने धर्म-प्रचार के लिए किया। परस्पर जय-पराजय के प्रभाव-स्वरूप ही करीब और अरोवक भाषाओ की स्थिति है जिसका उल्लेख ऊपर (पृ० १६२ पर) किया जा चुका है। अरोवक जाति पर करीब जाति ने विजय प्राप्त कर ली और उसके पुरुषवर्ग को या तो बीन बीन कर मार डाला या दूर भगा दिया। स्त्रियो को रख लिया। ये बराबर अरोवक ही बोलती रही। बाद की पीढियाँ भी इसी प्रकार दोनो भाषाए अब तक बोलती चली आ रही है और पुरुषवर्ग की **करीब** पर ही स्त्रीवर्ग की **अरोवक** का प्रभाव पडता दिखाई देता है।

इन भाषाओ के बारे मे अभी विशेष अनुसधान नही हो पाया है तब भी इनको कई परिवारो मे बॉट सकते है। अनुमान है कि इन परिवारो की सख्या सौ सवा सौ के करीब है। प्राय इन सभी भाषाओ मे एक सामान्य लक्षण प्रश्लिष्ट योगात्मक के रूप मे पाया जाता है। इनमे बहुधा पूरा पूरा वाक्य ही एक लम्बे शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है। मस्कृत की तरह विभिन्न पदो को जोड कर यह समास के रूप मे नही होता बल्कि हर पद का एक-एक प्रधान अक्षर या ध्वनि लेकर सबको एक साथ मिला देते है। चेरोकी भाषा के पद *नधोलिनिन्* (हमारे लिए

डोगी लाओ) मे इसी प्रकार तीन शब्द *नतेन्* (लाओ), *अमोखोल्* (नाव, डोगी), और *निन्* (हम को) मिले हुए है। कभी कभी इस प्रकार एक दर्जन शब्द तक एक पद के रूप मे उपस्थित पाए जाते है और उन सभी शब्दो का पदार्थ एक साथ वाक्यार्थ के रूप मे श्रोता को मालूम हो जाता है। स्वतत्र शब्दो का प्रयोग इन भाषाओ मे बहुत कम है।

इस चक्र की सभी भाषाएँ जगली नही है। इन जातियो मे से किसी किसी ने साम्राज्य स्थापित किए। मेक्सिको के साम्राज्य का अत सोलहवी सदी मे यूरोप वालो ने पहुँच कर किया। वहाँ की **मय** और **नहुअत्ल** भाषाएँ सस्कार की हुई सी है और उनमे साहित्य भी मिलता है।

इस चक्र की भाषाओ का वर्गीकरण प्राय भूगोलिक आधार पर किया जाता है जो चाहे बिल्कुल यथातथ्य न हो तब भी सुविधा का है।

	देश नाम	भाषा नाम
उत्तरी अमरीका	ग्रीनलैंड	**एस्किमो**
	कनाडा	**अथबस्को** (समूह)
	सयुक्त राज्य	**अल्गोनकी** (आदि)
		नहुअत्ल (प्राचीन)
	मेक्सिको	**अजतेक्** (वर्तमान)
	युकतन	**समय**
दक्खिनी अमरीका	उत्तरी प्रदेश	**करीब, अरोवक**
	मध्य प्रदेश	**गुअर्नी तुपी**
	पच्छिमी प्रदेश	**अरौकन, कुइचुआ** (पेरु और चिली)
	दक्खिनी प्रदेश	**चको, तियरा देल् फूगो**

इसमे से **तियरा देल फूगो** भाषा और उसके बोलने वाले लोग दोनो, ससार मे सबसे अधिक सस्कृति-हीन माने जाते है। **एस्किमो** के बारे मे कुछ विद्वानो का मत है कि यह उराल-अल्ताई परिवार की है।

प्रशांत महासागर चक्र

इस चक्र की भाषाएँ प्रशान्त महासागर और हिन्द महासागर के समस्त द्वीपो मे, अफ्रीका के दक्खिन-पूरब मे स्थित मडगैस्कर द्वीप से लेकर चाइल के पच्छिम मे स्थित ईस्टर द्वीप तक फैली हुई है। इनके अतर्गत भाषा-समूहो के नाम बहुधा भूगोलिक नामो पर रक्खे गए है। इन सभी समूहो की पद-रचना और वाक्य-रचना मे विचित्र समानता मिलती है और ध्वनि-विभिन्नता भी ऐसी है जिससे भाषा की समानता मे कोई बाधा नही पडती। धातुएँ प्राय द्व्यक्षर होती है, बलाघात प्राय इनमे से प्रथम अक्षर पर दिया जाता है। अनुमान किया जाता है कि द्व्यक्षर धातु किसी समय एकाक्षर रही होगी। क्रिया मे उपसर्ग, प्रत्यय और मध्यविन्यस्त प्रत्यय मिलते है। सज्ञा मे न लिंगभेद होता है और न उसके रूप ही चलते है।

प्रशान्त महासागर द्वीप-चक्र मे बहुत-सी भाषाएँ है और उनके अन्तर्गत सैकडो बोलियाँ है। इनमे से बहुत कम साहित्यिक है, केवल मलाया (सुमात्रा, जावा) की भाषा मे कुछ साहित्य है। प्राय ये सभी भाषाएँ योगात्मक अश्लिष्ट आकृति की है, जो नही है और अयोगात्मक अवस्था को पहुँच गई है उनकी भी पूर्व अवस्था के योगात्मक होने के प्रमाण मौजूद है। सारे चक्र की भाषाओ को पाँच परिवारो मे विभाजित किया गया है—(१) **मलायाई** या **इडोनेशियाई** परिवार, (२) **मलेनेशियाई** परिवार, (३) **पॉलीनेशियाई** परिवार (४) **पापुआई** परिवार, (५) **आस्ट्रेलियाई** परिवार। इनमे से पहले तीन बडे परिवार है और बाकी दो छोटे। पहले तीन को कभी-कभी एक वृहत्तर परिवार, **मलाया-पॉलीनेशियाई** नाम से, माना जाता है और कभी-कभी पाँचो को यही **मलाया-पॉलीनेशियाई** नाम या **आस्ट्रोनेशियाई** नाम दिया जाता है। इन पाँचो का स्रोत एक ही है। पहले तीन आकृति के हिसाब से तीन विभिन्न अवस्थाओ मे है। मलाया भाषाएँ उपसर्ग और प्रत्यय जोडने वाली योगात्मक अश्लिष्ट अवस्था मे है।

सज्ञा की विभक्तियाँ उपसर्ग जोडकर बनती है। धातु के बीच मे भी प्रत्यय जोडा जाता है। धातु प्राय दो अक्षरो की होती है और उसमे एक या अनेक प्रत्यय बीच मे जोडे जा सकते है। फिलिप्पाइन द्वीप मे बोली जाने वाली **टगल** भाषा मे *सुलत्* का अर्थ है *लिखना।* इसी धातु से *मुनुलत* (तुमन्त रूप—लिखना), *सुगमुलत्* (लिखा) और *सिनुलतन्* (लिखा गया) शब्द बीच मे एक या अनेक प्रत्यय जोड कर बने है। मलेनेशियाई भाषाओ मे योगात्मक अवस्था का ह्रास और वियोगात्मक की वृद्धि स्पष्ट दिखाई देती है। इनमे कुछ मे उपसर्ग जुडते है और क्रियाओ के अन्त मे सर्वनाम जोड कर क्रियापद बनते है, पर अधिकाश मे स्वतन्त्र शब्दो से भाषा का काम चलता है। पालीनेशियाई भाषाओ को तो योगात्मक कहना अनुचित ही होगा क्योकि ये प्राय सम्पूर्णरूप मे वियोगात्मक अवस्था को पहुँच चुकी है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मलाया से पालीनेशिया तक पहुँचने मे, बीच की पापुआई भाषाओ के प्रभाव के कारण ही अयोगात्मक अवस्था हो गई है।

इन तीनो परिवारो का एक समान लक्षण अभ्यास है। उदाहरण के लिए मलयाई भाषा मे *रज* (राजा), *रज-रज* (बहुत से राजा), पॉलीनेशियाई की माओरी भाषा मे *हैरे* (जाना), *हैरे हैरे* (ऊपर नीचे चलना) हवाई की भाषा मे *हुलि* (ढूंढना) और *हुलि हुलि* अच्छी तरह ढूँढना। तीनो परिवारो का शब्द-समूह भी परस्पर सम्बद्ध है।

मलाया (इडोनेशियाई) परिवार की भाषाओ के बोलनेवालो की सख्या पॉच करोड से ऊपर है। इनमे से **मलाया** (मलाया और सुमात्रा मे), **जावी** भाषा (जावा के तीन चौथाई अर्थात् प्राय दो करोड लोगो की भाषा), **सुन्डियन** (जावा के बाकी एक चौथाई, कोई पौन करोड लोगो की भाषा), **दयक** (बोर्नियो की), **टगल** (फिलिप्पाइन की), **फारमोसी** (फारमोसा की) तथा **मलगसी** (जिसे **होवा** भी कहते है, मडगैस्कर की) मुख्य है। सुमात्रा और मडगैस्कर मे

३००० मील से भी ज्यादा का फासला है, तब भी इन दोनो की भाषाएँ समान और एक ही परिवार की है, यह बडे अचरज की बात है। न मालूम कितने हजार बरसो का इतिहास इनकी पृष्ठभूमि में है।

जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीप किसी समय भारत के उपनिवेश थे और इनमे सस्कृत भाषा का प्रभुत्व था। यहाँ के नगरो, व्यक्तियो आदि के नाम बहुधा सस्कृत के आश्रय पर बने मिलते है। **कवि** का वास्तविक अर्थ है 'कवियो की भाषा'। इस सारे प्रदेश मे भाषा के दो, रूप पाए जाते है—एक साहित्यिक, राजकीय और उच्चवर्ग का, दूसरा नीचे के वर्ग का। जावा की उच्चवर्गीय भाषा का नाम **क्रोमो** और निम्न वर्गवाली का **न्गोको** है। (देखिए पृ० १८९)। कवि साहित्यिक भाषा है जिसके ई० ८०० तक के पुराने लेख मिलते है, यह अब प्राचीन रूप मे ही मिलती है। सामान्य रूप से कह सकते है कि इडोनेशियाई भाषाओ मे व्यजनो की स्थिरता वर्तमान है। सस्कृत, अरबी, पुर्तगाली, डच, फारसी, द्राविड और चीनी आदि भाषाओ के शब्द इन भाषाओ मे पाए जाते है। और दो दो भाषाओ के शब्दो का अजीब घालमेल है जैसे *शपथ-सगमग* (शाप), *जवाहर-मनिकम* (रत्न)। सुमात्रा, जावा, बाली मे सर्वत्र और जावा मे विशेष रूप से सैकडो व्यक्तियो के और बीसियो स्थानो के नाम सस्कृत से बने हुए मिलते है—*सोएरकर्त* (सूर्यहृकृत), *जोग्यकर्त* (अयोध्याकृत), *ब्रोर्मा* (ब्रह्मा), *बोनोसोबा* (वनसभा), *बिरपोएस्तक* (वीर पुस्तक), *बोएदिदर्म* (बुद्धिधर्म), *जसविदग्द* (यशोविदग्ध), *सोकर्नो* (सुकर्ण)। गनती मे दशम नियम है। समभिहार के लिए कभी कभी शब्द का कई बार अभ्यास कर दिया जाता है, जैसे—*इगि* (बहुत) स *इगि-इगि-इगि-इगि* (बहुत बहुत अधिक)। लिपियाँ भारतीय (देवनागरी), अरबी और रोमन ही प्रयोग मे आती है।

मलेनेशियाई परिवार की भाषाएँ प्रशान्त महासागर के फीजी आदि छोटे छोटे द्वीपो मे बोली जाती है। इस परिवार की कुछ भाषाओ में एकवचन के अलावा द्विवचन और त्रिवचन भी है। इनमे फीजी

की भाषा मुख्य है और इसकी गठन मलाया भाषा मे बहुत मिलती है। गिनती किसी द्वीप मे चार पर, कही दस पर और कही कही बीस पर निर्भर है। लायल्टी द्वीप मे 'बीस' और 'मनुष्य' का द्योतक एक ही शब्द होता है क्योंकि मनुष्य के हाथ-पैरो मे मिलाकर बीस ऊँगलियाँ होती है। सर्वनाम का वाच्य पुरुष को समाविष्ट करने वाला एक रूप और व्यतिरिक्त वाला दूसरा रूप होता है।

पॉलिनेशियाई भाषापरिवार मे **माओरी** (न्यूजीलैंड की), **टोंगी**, **समोअई** तथा **हवाई** (हवाई द्वीप की) प्रधान है। दूसरो की अपेक्षा इस परिवार की भाषाओ के बोलने वाले लोग अधिक सभ्य है। भाषा के अध्ययन की दृष्टि मे भी इन भाषाओ का महत्त्व है। पॉलीनेशियाई भाषाए मलेनेशिया के पूरब और दक्खिन में पाई जाती हैं। समोआ कुक, न्यूजीलैंड, हवाई आदि द्वीपो की भाषाएँ इसी परिवार के अन्तर्गत है। पॉलीनेशी परिवार का इंडोनेशी (मलाया) परिवार मे घनिष्ठ सम्बन्ध है, पर पालीनेशी मे प्राय व्यजनो का लोप पाया जाता है, जैसे मलाया का *अकर* (जड), न्यूजीलैंड की माओरी भाषा मे **अक** और हवाई मे **अअ** पाया जाता है। इस परिवार में सयुक्त (मिश्र) स्वरो तथा सयुक्त व्यजनो का नितान्त अभाव है। गिनती दशम नियम की है। एकवचन, द्विवचन और बहुवचन होते है। सर्वनाम के भी मलेनेशिया की तरह दो रूप होते हैं। पॉलीनेशिया की जनसख्या निरन्तर कम होती जा रही है।

पपुआई परिवार की भाषाएँ मलाया और पॉलीनेशिया के बीच के न्यूगिनी आदि छोटे-छोटे द्वीपो की है और अधिकतर योगात्मक अश्लिष्ट आकृति की है। उपसर्ग और प्रत्यय जुडते है। उदाहरण के लिए न्यूगिनी की मफोर भाषा मे जस्नफ (मै सुनता हूँ), *ब-स्नफ* (तू सुनता है), *इ-स्नफ* (वह सुनता है), *सी-स्नफ* (वे सुनते है) ज-स्नफज (मै तेरी बात सुनता हूँ), *सि-स्नफि* (वे उसकी बात, सुनते है)।

आस्ट्रेलियाई परिवार की भाषाए आस्ट्रेलिया के सभी प्रदेशो

मे मूल निवासियो द्वारा बोली जाती है और एक ही स्रोत से निकली है। ये अन्त मे प्रत्यय जोडने वाली योगात्मक अश्लिष्ट आकृति की है इस कारण कुछ लोग इन्हे द्राविड भाषाओ से सबद्ध समझते थे। इस परिवार की **टस्मेनिया** भाषा अब समाप्त हो चुकी। और भाषाएँ भी जगली जातियो की है। यूरोपीय उपनिवेशो के कारण इन मूल निवासियो का जीवन सकटमय है और पशु-पक्षियो की तरह ये दिन-प्रति-दिन मौत के गड्ढे मे गिरकर विलुप्त होते जाते है। सारे आस्ट्रेलिया महाद्वीप की जन-सख्या अस्सी लाख है, इसमे ये मूल निवासी केवल पचास साठ हजार रह गए है।

अफ्रीका चक्र

इस महाद्वीप मे बुशमैन (गुल्म निवासी) परिवार, बाटू परिवार, सूडान परिवार तथा सामी-हामी परिवार की भाषाएँ बोली जाती है।

अमरीका चक्र की भाषाओ की अपेक्षा अफ्रीका चक्र के मूल-निवासियो की भाषाए अधिक उन्नत और समृद्ध है। इस चक्र मे समस्त उत्तर प्रदेश मे सामी भाषाओ का आधिपत्य प्राय दो हजार वर्षो से रहा है। और इधर दो-तीन सौ साल से दक्खिन के कोने पर और समस्त पच्छिमी किनारे पर यूरोपीय जातियो ने कब्जा करके इन मूलनिवासियो को महाद्वीप के भीतरी भागो की ओर खदेड दिया है। सभ्यता का प्रकाश लाने वाली इन सामी और यूरोपीय जातियो ने इन पूर्व निवासियो को भेड-बकरी से ज्यादा नही समझा। समस्त अफ्रीका मे ये आदि निवासी अब भी इस गई-गुजरी हालत मे करीब दस करोड के है। इससे अमरीका चक्र के डेढ करोड की तुलना से ही यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन अफ्रीका वालो मे अधिक स्थामशक्ति है। अनुमान किया जाता है कि पिछले चार-पॉच सौ सालो मे इन आदि निवासियो मे कोई मौलिक परिवर्तन नही हुए। आज अफ्रीका यूरोपीय साम्राज्य के चगुल मे है। विविध राष्ट्र लूट-खसोट कर रहे

है। बढिया बढिया उपजाऊ धरती छीन रक्खी है, सारा व्यापार हथिया लिया है। इस व्यापार के फलस्वरूप कुछ मिश्रित भाषाएँ, **नीग्रो इङ्गलिश, नीग्रोपुर्तगाली, नीग्रोफ्रेंच** आदि विशेष काम मे लाई जाती है। उत्तर और मध्य भाग मे **अरबी** का बोलबाला है। उसको छोड कर अफ्रीका की भाषा **हउसा** भी प्राय अधिकाश अफ्रीका क्षेत्र मे बोली और समझी जाती है। यूरोपीय भाषाएँ तो है ही।

बुशमैन परिवार—बुशमैन जाति के लोग दक्खिनी अफ्रीका के मूल निवासी समझे जाते है, इनकी बहुत-सी बोलियाँ है। ग्रामगीतो और ग्राम-कथाओ को छोड कर कोई साहित्य नही। आकृति की दृष्टि से ये भाषाएँ अत मे प्रत्यय जोडने वाली योगात्मक अश्लिष्ट अवस्था मे है। इनके कुछ लक्षण सूडान परिवार की भाषाओ से मिलते है और कुछ बाटू परिवार की जुलू भाषा मे। सभव है कि जुलू की ध्वनियो पर इस परिवार की भाषाओ का असर पडा हो। बुशमैन मे क्लिक ध्वनियाँ छ है—दन्त्य, मर्धन्य, पार्श्विक, तालव्य और ओष्ठ्य। इन भाषाओ मे लिंग पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर निर्भर न होकर प्राणिवर्ग अप्राणिवर्ग पर अवलबित है। इस बात मे द्राविड भाषाओ के चेतन और अचेतन लिंग से समता है। बहुवचन बनाने के बहुतेरे ढग है जिनमे अभ्यास मुख्य है।

होटेंटाट भाषाएँ भी बुशमैन के अन्तर्गत समझी जाती है, यद्यपि बुशमैन शायद अधिक प्राचीन है। होटेंटाट पर हामी भाषाओ का प्रभाव पडा है। अनुमान है कि किसी समय होटेंटाट जाति वाले बहुत दूर तक फैले हुए थे और हामी के निकट तक पहुँचे थे। होटेंटाट शब्द प्राय एकाक्षर होते है। तीन (एक, द्वि, बहु) वचन होते है। उत्तम पुरुष के द्विवचन और बहुवचन के सर्वनाम के दो रूप, वाच्य-समावेशक और व्यतिरिक्त पाये जाते है।

बाटू परिवार—ये भाषाएँ प्राय सारे दक्खिनी अफ्रीका मे भूमध्य रेखा के नीचे के हिस्से मे बोली जाती है। पूरब मे ५० डिगरी देशान्तर रेखा तक यही है। इनके दक्खिन पच्छिम मे होटेंटाट और बुशमैन है,

और उत्तर मे सूडान परिवार की विभिन्न भाषाएँ। होटेंटाट के उत्तर मे इनके बोलने वाले अन्ध महासागर तक फैले हुए है। इस परिवार मे करीब १५० भाषाएँ है जो तीन समूहो मे बॉटी जाती है —

पूर्वी—प्रधान भाषाएँ **काफिर** और **जुलू**

मध्यवर्ती—प्रधान भाषा **सेसुतो**

पच्छिमी—प्रधान भाषा **कॉगो**

इन भाषाओ मे कोई साहित्य नही। जजीबार और पडोस के समुद्र तट की भाषा **स्वाहिली** मे अरबी लिपि मे लिखे कुछ लेख मिले है। इसके अलावा इन भाषाओ का ज्ञान हमे पादरियो की बनाई रोमन लिपि मे लिखी किताबो मे ही मिलता है। अनुमान है कि बाटू ने पूर्ववर्ती होटेंटॉट को मार भगाया और अब अँग्रेजी, डच आदि का स्वय शिकार बन रही है।

बाटू भाषाएँ परस्पर सुसबद्ध है और योगात्मक अश्लिष्ट आकृति की है। इनका प्रधान लक्षण उपसर्ग जोडकर पद बनाने का है, अत मे भी प्रत्यय जोडकर पद बनाए जाते है पर उपसर्गो की अपेक्षा कम। उदाहरण के लिए काफिर भाषा मे *तन्द-अ* (प्यार), *तन्द्-इस* (प्यार कराना), *तन्द्-अन* (परस्पर प्यार करना), *तन्द्-इसन* (परस्पर प्यार कराना), *तन्द्-एक* (प्यार किया जाना) इस तरह के पदो मे और उराल-अल्ताई अथवा द्राविड परिवार की भाषाओ की रचना मे कोई अन्तर नही दिखता। परन्तु साधारण रीति उपसर्ग जोडने की है, जैसे काफिर मे ही सम्प्रदान कारक का अर्थ कु उपसर्ग से निकलता है—*कुति* (हमको), *कुनि* (उनको), *कुजे* (उसको), बहुवचन—*अब-न्तु* (बहुत से आदमी), *उमु-न्तु* (एक आदमी), *न्गब-न्तु* (आदमियो से)। बाटू भाषाओ मे एकवचन के लिए भी उपसर्ग लगता है। काफिर मे *उम्-*, *उ-*, *इलि-*, *इन्-*, *इसि-*, *उलु-* से एकवचन और इन्ही के वजन पर क्रम से *अब-*, *ओ-*, *इ-*, *अम-*, *-इजिन*, *इजि-* से बहुवचन का बोध होता है। बाटू भाषाओ का दूसरा प्रधान लक्षण ध्वनि-सामजस्य है, यथा—

उमुन्तु वेतु ओंसुच्ले उयबोनकल सिमुतन्द

(आदमी हमारा सुन्दर लगता है हम उसे प्यार करते हैं)

अबन्तु वेतु अबच्ले बयबोनकल सिबतन्द

(आदमी हमारे सुन्दर लगते हैं हम उन्हे प्यार करते हैं)

यहाँ एकवचन के उपसर्ग उमु के वजन पर और शब्दो मे भी सामजस्य के लिए *व्*, *ओंसु-*, *उय-*, *मु-* उपसर्ग लगे है और बहुवचन मे **अब-** के वजन पर *ब्-*, *अब-*, *बय-* और *ब-* लगाए गए है। यह ध्वनि-सामजस्य उपसर्ग के अनुकूल होता है और उराल-अल्ताई परिवार के स्वर-सामजस्य से भिन्न है। बाटू भाषाओ का तीसरा लक्षण लिंग का नितान्त अभाव है—सर्वनामो मे भी नही मिलता।

बाटू भाषाएँ सुनने मे मधुर होती है। सभी शब्द स्वरात होते है। सयुक्त व्यजनो का अभाव-सा है, केवल अनुनासिक के बाद ही व्यजन का सयोग होता है, या *य्*, *व्* के साथ। इसीलिए अन्य भाषाओ से उधार लिये शब्द भी बदल जाते है—अँ० *क्राइस्ट* > बॉ० *किरिसित*। स्वर-विभिन्नता से अर्थ-विभिन्नता बहुधा प्रकट की जाती है, जैसे—*हॉफिर्नल्ला* (बॉधना), किंतु *होंफिर्नाल्ला* (खोलना)।

सूडान परिवार—इस परिवार की भाषाएँ अफ्रीका महाद्वीप मे भूमध्यरेखा के उत्तर मे बराबर पच्छिम से लेकर पूरब तक फैली हुई है। इनके उत्तर मे हामी परिवार की भाषाएँ है। इस परिवार मे कुल ४३५ भाषाएँ हैं जिनमे से केवल पाँच-छ ही लिपिबद्ध पाई जाती है। मुख्य भाषाएँ नीग्रोसेनेगल समूह की **वाई**, नीग्रोकमेरून की **मोसे** और **कनूरी हाउसा** तथा **प्यूली** है। **नूबी** के काप्टी लिपि मे लिखे हुए चौथी से सातवी सदी तक के लेख मिलते है। इन भाषाओ की आकृति मुख्य रूप से अयोगात्मक है। एकाक्षर धातुओ के अस्तित्व और उपसर्गो और प्रत्ययो के नितान्त अभाव के कारण चीनी भाषाओ की तरह यहाँ भी अर्थ का भेद सुरो द्वारा मालूम होता है। शब्दो मे लिंग नही होता, ज़रूरत पडने पर नर और मादा के बोधक शब्दो द्वारा लिंग

दिखाया जाता है। बहुवचन का भाव साफ-साफ इन भाषाओ मे नही झलकता। उसका बोध कही अन्य पुरुषवाचक सर्वनाम (हिन्दी वे, उन्हे के समानार्थक) को सज्ञा के साथ रख कर कराया जाता है, और कुछ भाषाओ मे स्वर की मात्रा दीर्घ कर देने से भी (जैसे *रोर*—जगल औह *रोर*—बहुत से जगल) हो जाता है। वाक्य ज्यादातर एक सज्ञा और एक क्रिया के छोटे-छोटे होते है, जैसे 'वह जहाज से समुद्र मे कूद पडा' इस वाक्य का बोध तीन वाक्यो 'वह कूदा, जहाज छोडा, समुद्र मे गिरा' मे कराया जायगा। सूडान भाषाओ मे एक तरह के मुहाविरे होते है जिन्हे ध्वनिचित्र, शब्दचित्र या वर्णनात्मक क्रिया-विशेषण कह सकते है। उदाहरण के लिए **ईव** भाषा मे जो धातु का अर्थ चल*ना* होता है और इससे कई दर्जन मुहाविरे बनते है, जैसे *जोकक* (सीधे चलना), *जोत्यत्य* (जल्दी-जल्दी चलना), जोसिस (छोटे-छोटे कदम रखकर चलना), *जो त्यो त्यो* (लम्बे आदमी की चाल चलना) *जो लुमो लुमो* (चूहे आदि छोटे जानवरो की तरह चलना)।

सूडान परिवार मे चार समूह है—**सेनेगल** भाषाएँ, ईव भाषाएँ, मध्य अफ्रीका समूह, और नील नदी के ऊपरी हिस्से की बोलियाँ। इनमे पहले समूह की **बोलोफ़** और दूसरे की **ईव** मुख्य है।

सूडान और बाटू दोनो परिवारो मे कुछ समान लक्षण पाए जाते है। दोनो मे सज्ञाओ को विभिन्न गणो मे विभक्त करते है। इस गण-विभाग के अभाव मे सज्ञा और क्रिया का भेद केवल शब्द के वाक्य मे स्थान से ही मालूम होता है। सुर भी दोनो मे प्राय मिलता है।

सामी-हामी परिवार—इजील मे दिए गए आख्यान के अनुसार हजरत नौह के सबसे बडे पुत्र सेम एशिया के दक्खिन-पच्छिम भाग के बहुत-से लोगो—अरब, असीरिया और सीरिया निवासियो—के आदि-पुरुष थे। यहूदी लोग भी इन्ही के भाईबन्द थे। सेम के छोटे भाई हेम अफ्रीका के बहुतेरे देशो के निवासियो—मिस्रवालो, फोनीशियम, इथियोपियन कन्नानाइट आदि लोगो —के आदि पुरुष माने जाते है।

इन्ही दो भाइयो के नाम से इस परिवार के दोनो भागो के नाम पडे है। हामी भाग की भाषाएँ सारे उत्तरी अफ्रीका मे फैली हुई है और इन भाषाओ को बोलनेवाली कुछ जातियाँ दक्खिन और मध्यवर्ती अफ्रीका मे भी घुसती चली गई है। सामी भाग की भाषाएँ मुख्य रूप से एशिया मे बोली जाती है पर उसकी प्रधान भाषा अरबी ने सारे उत्तरी अफ्रीका मे भी घर कर लिया है। पच्छिम मे मोरक्को से लेकर पूरब मे स्वेज़ तक तथा सारे मिस्र मे यही सर्वेसर्वा है। अल्जीरिया और मोरक्को की राजभाषा अरबी ही है। कार्थेज, तथा हब्श देश मे सामी परिवार की भाषाएँ बहुत प्राचीन काल से रही है। हब्शी राजभाषा सामी है। और कई सामी भाषाएँ और बोलियाँ यहाँ बोली जाती है।

कुछ भाषाविज्ञानी हामी को सामी से विभिन्न परिवार की मानते है पर दोनो मे साम्य के लक्षण इतने जबर्दस्त है कि इनको अलग-अलग परिवार न मानना ही ठीक होगा। दोनो के सर्वनाम एक ही स्रोत से निकले है यह स्पष्ट और विवादहीन है सज्ञा के बहुवचन के प्रत्यय दोनो मे एक ही से है और उनका उदगम समान है, -त प्रत्यय दोनो मे स्त्रीलिंग का बोध कराता है। दोनो मे लिगभेद भी पाया जाता है और क्रियापद बनाने मे दोनो मे काल की अपेक्षा क्रिया की सपूर्णता-अपूर्णता का अधिक महत्व है। इन महत्वपूर्ण लक्षणो के कारण दोनो को एक ही परिवार के दो भाग मानने के पक्ष मे भाषाविज्ञानी अधिक है। सामी परिवार का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण त्रि-व्यजनधातु और स्वरव्यत्यय से रूपनिर्माण, हामी मे नही पाया जाता। पर इसका समाधान इस बात से हो जाता है कि दोनो हजारो बरस पहले अलग हुई। सम्भव है कि मिस्र आदि देशो की मूल भाषाओ के प्रभाव क कारण हामी मे यह महत्वपूर्ण लक्षण हट गया हो।

इस परिवार के हामी भाग के पाँच मुख्य लक्षण है —

(१) पद बनाने के लिए उपसर्ग और प्रत्यय दोनो लगाये जाते है। पदरूप देने के लिए सज्ञाओ मे उपसर्ग लगते है और क्रियाओ मे प्रत्यय। प्रेरणार्थक, समभिहार आदि प्रक्रियाएँ मौजूद है और सस्कृत के आत्मने-

पद के वर्जन की भी प्रक्रिया है। समभिहार में धातु के अभ्यास के आधार पर रूप बनते हैं—जैसे सोमाली भाषा में *लब्* (तह करना) *लब् लब्* (बार-बार तह करना), *गोइ* (काटना) *गोगोइ* (टुकड़े-टुकड़े कर देना), *गल* (भीतर जाना), *गलि* (भीतर रखना)।

(२) क्रिया के काल का बोध उतना नहीं होता जितना कार्य के पूर्ण हो जाने या अपूर्ण रहने का—एक में परिणाम तक पहुँच हो जाती है दूसरी में नहीं।

(३) आर्यभाषाओं की तरह लिंगभेद पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर निर्भर न होकर कुछ और ही आधार पर आश्रित है। सामान्यरूप से यह कह सकते हैं कि बड़े और शक्तिशाली जीव और पदार्थ (तलवार, बड़ी मोटी घास, बड़ी चट्टान, हाथी, नर हो या मादा, आदि के बोधक शब्द) पुल्लिंग में तथा छोटे और निर्बल जीव और पदार्थ (चाकू, छोटी घास, पत्थर, खरगोश आदि के बोधक शब्द) स्त्रीलिंग में होते हैं। लिंगों का भेद शब्द की प्रथम ध्वनि में होता है—पुल्लिंग कण्ठ्य से और स्त्रीलिंग दन्त्य से। उदाहरणार्थ **गल्ल** भाषा में **कक** (तेरा) **तते** (तेरी), **सोमाली** में पुल्लिंग के पूर्व **कि** अव्यय लगता है और स्त्रीलिंग के पूर्व ति।

(४) हामी की केवल एक भाषा (**नामा**) में द्विवचन मिलता है अन्यों में नहीं। बहुवचन बनाने के भी कई ढंग हैं। अनाज, बालू, घास आदि छोटी चीजों को समूह-स्वरूप, बहुवचन में ही रखा जाता है और यदि एकत्व का विचार करना होता है तो प्रत्यय जुड़ता है, जैसे **लिस** (आँसू ब० व०), **लिस्** (एक आँसू), **बिल्** (पतिंगे), **बिल** (एक पतिंगा)।

(५) हामी भाषाओं का एक विचित्र लक्षण बहुवचन में लिंगभेद कर देना है। इस नियम को **ध्रुवाभिमुख** कहते हैं, जैसे **सोमाली** में *होयोदि* (माँ), (स्त्री०) *होयो इन-कि* (माताएँ), (पुं०) *लिबिहिह* (शेर) (पु) *लिबिसह्योदि* (बहुत से शेर) (स्त्री०)। बहुत में शेर स्त्रीलिंग में और बहुत-सी माताएँ पुल्लिंग में।

हामी भाषाओ मे विभक्तिसूचक प्रत्यय नही पाए जाते। सज्ञा और विशेषण के वचन और लिग का भेद करने के लिए तथा मध्यम और अन्य पुरुष का बोध कराने के लिए प्रत्यय जोडे जाते है—जैसे **मिस्री** मे *सोन्* (भाई), *सोन* (भाई ब० व०), *सोन्त* (बहिन), *उश्रोन्क्* (तू० पुं० है) *उश्रोन्त्* (तू स्त्री० है,) *उश्रोन्फ* (वह पुं० है), *उश्रोन्फ्* (वह स्त्री० है)।

हामी भाषाएँ परस्पर काफी भिन्न है पर सर्वनाम, तू स्त्रीलिंग आदि, एकता-सूचक लक्षण है ही। हामी की मुख्य प्राचीन भाषाएँ **मिस्री** और **काप्टी** थी। मिस्री भाषा के लेख छ हजार वर्ष पूर्व तक के मिलते है। इसके दो रूप थे, एक धर्मग्रथो का और दूसरा जनसाधारण का। जनसाधारण की मिस्री की ही एक भाषा काप्टी है जिसके ई० दूसरी से ८वी सदी तक के लिखे लेख और ग्रथ, विशेषकर ईसाई-मत-प्रचारक ग्रथ,मिलते है। यह१६वी सदी तक बोलचाल मे थी, अब केवल साहित्य मे पाई जाती है। वर्तमान भाषाओ मे हब्श देश की **खमीर** पूर्वी अफ्रीका के **कुशी** समूह की, सोमालीलैंड की **सोमाली**, और लीबिया की **लीबी** (या बबर) प्रसिद्ध है। वर्तमान काल की मिस्री भाषा गठन मे बडी सीधी-सादी है। उनकी धातुएँ (मूल शब्द) कुछ एकाक्षर और कुछ अनेकाक्षर है। विभक्तियो के लिये प्रत्यय नही जुडते।

कुछ भाषाविज्ञानी बुशमैन भाषावर्ग को भी (लिगभेद के लक्षण के कारण) हामी परिवार मे शामिल करते है पर यह ठीक नही।

सामी-हामी परिवार की सामी शाखा का विचार अगले अध्याय मे किया जायगा। यूरोप और एशिया मे उराल-अल्ताई, चीनी, सामी, काकेशी, द्राविड तथा आर्य परिवारो के अलावा कुछ असबद्ध भाषाएँ भी है। इन सबका भी विवेचन अगले अध्याय मे होगा।

तीसवाँ अध्याय

यूरेशिया के भाषापरिवार

सामी समूह

सामी भाषाओ के मुख्य लक्षण ये है —

(१) अर्थतत्व का बोध करानेवाला शब्द का भाग धातुरूप, त्रिव्यजनात्मक होता है। यह तीनो व्यजन तथा उनका क्रम स्थिर रहता है। इन व्यजनो मे स्वर जोडकर पद बनाए जाते है। इस प्रकार सबध-तत्व का काम प्राय सर्वाश मे इन स्वरो द्वारा ही लिया जाता है। उदाहरणार्थ —

क़त्ल् (मारना), क्त्ब् (लिखना) द्र्ब् (चोट पहुँचाना), व्ज्द् (पा जाना), क़तूल् से क़तल (उसने मारा), कुतिल (वह मारा गया), (य-) क्तुलु (वह मारता है), *क़ातिल्* (मारनेवाला,) क़त्ल् (बैरी), *क़िताल्* (परस्पर वध), *मक़तूल्* (मारा हुआ) आदि।

(२) सबध-तत्त्व का भाव इन स्वरो के अलावा उपसर्ग और प्रत्यय जोडकर भी प्रकट किया जाता है। प्राय क्रिया के रूपो की सिद्धि करने के लिए इनका इस्तेमाल होता है। उदाहरणार्थ अरबी भाषा मे *अक्तब* (प्रेरणार्थक, उसने लिखवाया), *तक्तब* (उसने परस्पर लिखा), *इन्कतब* (लिखा गया), *इक्ततब* (उसने दूसरे से बोला हुआ लिखा), इस्तक्तब (उसने किसी से लिखने को कहा)।

सामी भाषाओ मे एक-एक ही उपसर्ग और प्रत्यय जोडा जा सकता है, आर्य परिवार की भाषाओ की तरह प्रत्ययो और उपसर्गो के ढेर के ढेर एक धातु के साथ नही लगाए जा सकते।

(३) सामी भाषाओ मे लिग-भेद होता है और स्त्रीप्रत्यय

(-त् या अत्) जोडकर स्त्रीलिंग शब्द बनता है। उदाहरणार्थ असीरी भाषा मे *मलक* (राजा), *मलकत्* (रानी), अरबी मे *इब्न्* (बेटा) *बिन्त्* (बेटी)। इसी *त* का यहूदी भाषा मे विकास *थ*>ह मिलता है और अरबी मे ह (*मलकह्*)।

(४) आर्य भाषाओ के समास के वजन की कोई चीज सामी भाषाओ मे नही मिलती। समास-सी कोई जरा-सी चीज व्यक्ति वाचक सज्ञाओ (*बेन्-जमिन मलिक-ह-इजराएल*) मे मिलती है। यहाँ पदक्रम आर्य भाषाओ से बिल्कुल उलटा है, यह स्पष्ट दीखता है।

(५) सज्ञा की तीन विभक्तियाँ प्राचीन सामी भाषाओ मे मिलती है—कर्त्ता, कर्म और सबध (जैसे अब्द्, अब्दी, अब्दा) जो प्रत्यय जोडकर बनती थी। पर वर्तमान भाषाओ मे ये लुप्त-सी है। अब उपसर्ग जोडकर काम निकाला जाता है। प्राचीन सामी मे एक-वचन, द्विवचन और बहुवचन भी प्रत्यय जोडकर बनते थे।

(६) सामी भाषाओ मे दो काल होते है—एक पूर्ण दूसरा अपूर्ण। सज्ञा या विशेषण मे सर्वनाम जोडकर क्रिया का बोध कराया जाता है—अपूर्ण मे उपसर्ग-स्वरूप और पूर्ण मे प्रत्यय-स्वरूप *त-क्तुलु* (वह मारती है), *न-क्तुलु* (हम मारते है) किन्तु *कतल्-अत्* (उसने मारा), *कतल्-ना* (हमने मारा)। मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष की क्रिया मे लिंग-भेद भी किया जाता है—*कतल* (उस पुं० ने मारा), *कतलत्* (उस स्त्री ने मारा), *यक्तुलु* (वह मारता है) *तक्तुल* (वह मारती है), *कतब्त* (तू मर्द ने लिखा), *कतब्ते* (तू औरत ने लिखी)।

सामी भाषाएँ परस्पर एक-दूसरी से बहुत भिन्न नही है। क्रमबद्ध त्रिव्यजनात्मक भाग ने भाषा को एक स्थिरता-सी प्रदान कर दी है, यद्यपि अस्थिर स्वरो के कारण भाषा सयोगावस्था मे बराबर वियोगा-वस्था की ओर बढती रही है। कुछ शब्दो मे धातु त्रिव्यजनात्मक नही मिलती (*कुल*—बोली; *काल*—वह बोला)। पर प्राय ऐसे सभी शब्दो मे त्रिव्यजन से धातु द्विव्यजन हुई है, ऐसा अनुमान किया जाता है (क् व् ल्>क् ल्)। तब भी कुछ शब्दो (यथा, अब्ब-

पिता, ई० न्—बेटा, य० जाद्—हाथ) मे ध्वनिविकास भी धातु की द्विव्यजनात्मकता का कारण नही दे सकता।

ससार की भाषाओ मे सामी भाषाएँ बडे महत्त्व की है—इनकी महत्ता यदि कम है तो केवल आर्य भाषा-परिवार से। वस्तुत आर्य चीनी और सामी यही तीन भाषा-परिवार ससार की सभ्यता के हजारो वर्षों से माध्यम रहे है।

सामी परिवार को पहले दो वर्गों मे बॉट सकते है—(क) पूर्वी और (ख) पच्छिमी। और फिर पच्छिमी को उत्तर-पच्छिमी और दक्खिन-पच्छिमी मे।

पूर्वी सामी की भाषा अक्कदी प्राचीन बैबिलोनिया (बावेरु) और असीरिया मे बोली जाती थी। इसका इतिहास ३८०० ई० पू० तक का मिलता है। प्रो० मेयस के मतानुसार इसका सस्कृत भाषा का-सा महत्त्व है। बावेरु के पतन (५२६ ई० पू०) के बाद अरमी भाषा ने अक्कदी का स्थान ले लिया।

उत्तर-पच्छिमी वर्ग की प्राचीन भाषाए **फोनीशी, यहूदी** और **अरमी** रही है। **फोनीशी** के लेख १०० ई० पू० तक के मिलते है। एशिया के भूमध्य सागर के किनारे इसका निवासस्थान था। यहॉ से यह उत्तरी अफ्रीका मे पहुँची। इसके बोलने वाले बडे व्यापार-कुशल थे और अनुमान है कि लिपि के प्रचार मे इनका अच्छा खासा हाथ रहा है। इस भाषा को अरमी ने समाप्त कर दिया। यहूदी फिलिस्तीन मे बोली जाती थी और उसका प्राचीन रूप हमे इजील के प्राचीन भाग से मिलता है। अनुमान है कि इसके कुछ अश ईसा से पूर्व एक हजार वर्ष तक जाते है। ई० पू० पॉचवी सदी मे इजील प्राचीन के भाग का सम्पादन हुआ जिसमे भाषा भी परिवर्तित हुई होगी। लेखो आदि के परीक्षण से पता चलता है कि अरमी उत्तरी मेसोपोटैमिया मे बोली जाती थी। यही से वह सीरिया और चैल्डिया मे फैली और करीब ८०० ई० पू० मे इस सारे प्रदेश की भाषा बन बैठी। इन तीन के अलावा इस वर्ग की भाषा **सीरी** भी है जो सीरिया

मे १००० ई० तक बोली जाती थी। तब अरबी ने उसे मार भगाया।

दक्खिन-पच्छिम वर्ग की सर्वप्रधान भाषा **अरबी** है। अरब देश के दक्खिन भाग के कुछ लेख ई० पू० आठवी सदी के मिलते है, और उत्तर भाग के दूसरी सदी तक के। पर इस देश की मध्य भाग की भाषा ही प्रमुख रही है। इस मध्यवर्ती भाषा के लेख, ग्रन्थ आदि ईसवी चौथी सदी के पहले नही जाते। मुहम्मद साहब और उनके धर्म इस्लाम के आविर्भाव के पूर्व, अर्थात् ई० सातवी सदी के पहले भी, इस भाषा मे अच्छा खासा साहित्य था। कुरानशरीफ इसी मध्यवर्ती अरबी मे है और उस ग्रन्थ की साहित्यिक खूबियो से अनुमान होता है कि इस्लामधर्म के प्रचार के पूर्व भी अरब मे साहित्य-सेवा होती थी। कुरानशरीफ ने अरबी मे अद्वितीय जोश भर दिया और उन्होने सारे ससार मे इस्लाम धर्म के प्रचार की ठानी। फलस्वरूप अरबी भाषा बहुत देशो मे फैल गई। अरबी आज सारे अरब, उत्तरी अफ्रीका और उत्तर-पच्छिमी अफ्रीका मे बोली जाती है। माल्टा मे भी यही बोली जाती है। एक समय स्पेन मे मूर लोग भी इसी को बोलते थे। फारसी, तुर्की और हिन्दुस्तानी की उर्दू शैली पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा है। विज्ञान और भूगोल सबधी, योरोपीय भाषाओ के बहुतेरे शब्द (*अल्जेबरा, सिफर, जीरो, मैगजीन* आदि) अरबी भाषा के है। बोलचाल की वर्तमान अरबी भाषा अयोगावस्था की, और बहुत सीधी सादी है। कुरान की भाषा का विकसित रूप होते हुए भी यह उस भाषा से भिन्न है, और केवल कुरान को पढने के लक्ष्य से अरबी सीखने वाले लोग वर्तमान अरब की विचारधाराओ से बहुत दूर रह जाते है।

अबीसीनिया (हब्श) देश की भाषा **हब्शी**, सामी ही की एक शाखा है, जो प्रागैतिहासिक काल मे लालसागर को पार कर वहाँ पहुची। गठन मे यह हामी और सामी के बीच की है। इसमे इजील का अनुवाद (**गीज** बोली मे किया हुआ) ईसवी चौथी सदी का मिलता है।

उराल-अल्ताई समुदाय

इस समुदाय की भाषाएँ बड़े विस्तृत भू-भाग मे फैली हुई है। वस्तुत क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से आर्य परिवार के बाद इसी का नम्बर आता है। ये भाषाएँ पश्चिम मे तुर्की हंगेरी और फिनलैंड से लेकर पूर्व मे ओखोटस्क सागर तक और दक्खिन मे भूमध्यसागर से उत्तर मे उत्तरी महासागर तक पाई जाती है। परिवार की भाषाओ मे जो परस्पर साम्य पाया जाता है वह इस समुदाय के भाषा-समूहो मे भी परस्पर नही मिलता, इसीलिए वर्तमान-कालिक भाषा-विज्ञानियो का विचार इनको दो अलग-अलग परिवारो मे बाटना है—(१) **उराल परिवार** और (२) **अल्ताई परिवार**।

अनुमान है कि उराल और अल्ताई दो पर्वत वे मुख्य स्थान थे जहाँ से इन परिवारो की अन्तर्गत भाषाएँ इधर-उधर फैली। उराल परिवार मे दो भाषा समूह (**फीनी-उग्री** और **समोयेदी**) तथा अल्ताई मे तीन (**तुर्की, मङ्गोली** और **तुगूजी**) माने जाते है। इन दोनो परिवारो मे दो तीन ऐसे लक्षण है जिनके कारण ही इनकी अन्तर्गत भाषाएँ एक सम्मिलित परिवार की समझी जाती थी—

(क) पदो की सिद्धि के लिए यौगिक प्रतिक्रिया सर्वत्र मिलती है। इसके द्वारा स्थायी मूल (धातु) मे एक या अनेक अस्थायी प्रत्यय एक के बाद एक जुडते जाते है। सभी समूहो मे यह प्रक्रिया है ही, पर कुछ मे अश्लिष्ट योगिक से भाषाएँ श्लेष की ओर बढती गई है।

(ख) स्वर की अनुरूपता सभी समूहो की भाषाओ मे मिलती है। इसके द्वारा प्रत्ययो के स्वर, धातु के स्वर के अनुरूप गुरु (भारी) या लघु (हल्के) कर दिये जाते है। तुर्की भाषा के उदाहरण यज् से यज्मक् और सेव् से सेव् मेक् पहले दिये गए है। पर स्वर की इस प्रकार की अनुरूपता कुछ इन्ही भाषाओ की विशेषता नही है, बाँटू परिवार मे भी यह मिलती है। और फिर यह अनुरूपता भी कुछ बहुत पुरानी नही है।

(ग) शब्दो मे सबध-वाचक सर्वनामो का प्रत्ययरूप जोडना भी इन भाषाओ की एक विशेषता है। पर यह भी सामी आदि भाषाओ मे पाई जाती है। कुछ विद्वान् सामी परिवार की प्राचीन भाषा अक्कदी को यौगिक होने के कारण उराल-अल्ताई समुदाय मे ला धरते है पर यह ठीक नही।

इसके अलावा इन दो परिवारो मे परस्पर शब्दकोष और ध्वनि-समूह का कोई साम्य नही मिलता। ऐसी परिस्थिति मे इनको अलग-अलग परिवार मानना ही युक्ति-सगत जान पडता है।

उराल परिवार मे फीनी-उग्री समूह मे सारे फिनलैड और स्वीडेन के उत्तरी भाग की **फीनी** (इसे **सुओमी** भी कहते है) और पास-पडोस की बोलियाँ है। वह वल्गा नदी के ऊपर और मध्यभाग के उभयतटवर्ती देशो मे बोली जाती है और कुछ साइबेरिया की ओबी नदी के तटवर्ती देश मे। इनके अलावा हगेरी की **मगियार** (हगेरी) भाषा भी इसी समह मे सम्मिलित है। फीनी मे १६ वी सदी से इधर बराबर साहित्य पाया जाता है और यह अब फिनलैड की महत्ता के साथ-साथ स्वय साहित्यिक महत्व प्राप्त कर चुकी है। शब्दकोष मे आर्य परिवार के बहुत से शब्द सम्मिलित है। मगियार मे १८ वी सदी से साहित्य मिलता है। फीनी भाषियो की सख्या आधे करोड से और मगियार भाषियो की एक करोड से कम है। इन दोनो भाषाओ पर जर्मन भाषा का बहुत बडा प्रभाव पडा है। न केवल शब्दावली ही काफी ले ली गई है, बल्कि पद रचना भी प्रभावित हुई है। इन भाषाओ मे लिगभेद बिल्कुल नही पाया जाता। फीनी-उग्री समूह की भाषाओ की परस्पर समानता यथेष्ट है। उदाहरणार्थ फीनी और मगियार के तीन शब्द ले ले—

फीनी	मगियार	अर्थ
कैसी	*केज*	हाथ
किवि	*को*	पत्थर
वेसी	*विज*	पानी

इसी परिवार के **समोयेदी** समूह मे कुछ बोलियाँ है जिनमे से कोई भी प्रमुख बन कर भाषा की सत्ता नही पा सकी। इन बोलियो के बोलनेवालो की सख्या केवल बीस-पच्चीस हजार है।

अल्ताई परिवार की भाषाओ की समानता के मुख्य लक्षण ध्वनि-साम्य, अक्षरनिर्माण-साम्य तथा शब्दावली-साम्य विशेष है, पदरचना की समानता अपेक्षाकृत कम। लिंग किसी मे नही मिलता। स्वर की अनुरूपता भी सर्वत्र मिलती है।

मगोली बोलने वालो की सख्या कोई तीस लाख है। चीन देश के उत्तरी भाग मे, मचूरिया का पश्चिम इनका स्थान है। १३ वी सदी तक के लेख मिलते है। साहित्य कोई महत्त्व का नही है। मगोल जाति १३ वी सदी मे चगेज खा के समय से उन्नति की ओर बढी थी पर शीघ्र ही उसकी गति रुक गई। तुगूजी बोलने वालो की सख्या कोई दस लाख ही है। इनकी बोलियाँ मचूरिया मे और साइबेरिया के मध्य भाग मे बोली जाती है, न कोई बोली प्रधान है और न कोई साहित्य। राज्य और साहित्य दोनो के प्रभाव से मगोली और तुगूजी दोनो का बडा गौण स्थान है, प्रधानता है चीनी भाषा की। अनुमान है कि जैसे मुडा भाषाएँ हमारे देश मे विलोप की ओर जा रही है, वैसे ही चीन मे मगोली और तुगूजी। दोनो गठन मे बडी सीधी-सादी है। कुछ विद्वान् तुगूजी के साथ जापानी को शामिल करके अलग ही भाषा-परिवार मानते है। चीन मे साम्यवाद के आधिपत्य के कारण भाषाओ की परिस्थिति कुछ बदल रही है।

अल्ताई परिवार का प्रमुख भाषासमूह **तुर्की** है, इसको **तुर्क-तातारी** भी कहते है। इसमे कुल २८ बोलियाँ है। तुर्की देश से लेकर पूर्वी साइबेरिया की लेना नदी तक इनका अस्तित्व है। इनमे लेना तटवर्ती याकूत, तुर्किस्तान की किरगिज, क्रीमिया के कोमक, रूसियो की **नोगाइर** और तुर्की देश की तुर्की प्रधान है। इन सब मे भी तुर्की प्रमुख है। इसकी साहित्यिक भाषा को **उस्मानली** कहते है। तुर्की समूह की बोलियो के बोलने वालो की सख्या कोई चार करोड है।

कोई-कोई लेख ८ वी सदी तक के मिलते है पर साहित्य-निर्माण १४वी सदी से आरम्भ होता है। इस्लाम धर्म के कारण १९ वी सदी तक अरबी और फारसी का तुर्की भाषा पर विशेष प्रभाव रहा। पर इधर प्रजातन्त्र-शासन के फलस्वरूप तुर्की मे जो जागृति हुई उसके कारण तुर्की ने स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त कर ली। और २० वी सदी मे मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व मे अरबी के शब्द बीन-बीन कर हटाए गए और उनका स्थान स्वदेशी शब्दो ने ग्रहण किया। इसके अलावा रोमन लिपि स्वीकार कर ली गई और अरबी लिपि निकाल भगाइ गई।

चीनी परिवार

इस परिवार की भाषाएँ चीन महादेश के बडे भारी हिस्से मे, अनाम (कोचिन चीन, कम्बोडिया, टोनकिन), थाई देश (स्याम) तिब्बत और ब्रह्मा मे बोली जाती है। बोलनेवालो की सख्या की दृष्टि से आर्य परिवार के बाद इसी का नम्बर है। इसमे कई भाषा-समूह है—(क) **अनामी** (ख) **थाई** (ग) **तिब्बती-ब्रह्मी** और (घ) **स्वय चीनी**। ये सभी समूह एक ही परिवार के माने जाते थे, पर अब कुछ विद्वानो को थाई और तिब्बती-ब्रह्मी के इसी परिवार के अगभूत होने मे सन्देह जान पडता है। चीनी परिवार की भाषाओ का मुख्य लक्षण पदो की एकाक्षरता और व्याकरण का अभाव है। पर अनामी की एकाक्षर सामग्री चीनी से बहुत कुछ भिन्न है। थाई और तिब्बती-ब्रह्मी मे कुछ शब्दो मे एकाक्षरता का अभाव है और उपसर्गो का अस्तित्व नजर आता है। थाई मे तो क्रिया की प्रक्रिया के भी कुछ लक्षण है। परन्तु हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ये दोनो भाषासमूह चिरकाल से भारतीय सस्कृति के प्रभाव मे आ गए है। ब्रह्मा और थाई देश की धर्मभाषा पालि है और तिब्बती मे भी ई० ७ वी, ८ वी सदी से ही सस्कृत और पालि भाषा के बौद्ध ग्रथो का प्रचुर प्रचार और अनुवाद होने लगा था जो कई सौ साल तक जारी रहा। अन्य समूहो मे चीनी का प्रभाव अक्षुण्ण रहा। ऐसी परि-

स्थिति मे बहुत सभव है कि थाई और तिब्बती-ब्रह्मी मे चीनी से जो भेद दिखाई देता है, वह भारतीय प्रभाव के कारण हो।

चीनी जनश्रुति के अनुसार चीनी धार्मिक और इतिहासिक साहित्य, कोई चार-पाँच हजार साल पुराना है और वह व्यवधान-रहित गति से चला आ रहा है। वहाँ इतिहास लिखे जाने की एक प्राचीन प्रथा चली आ रही है, इन इतिहासग्रन्थो को शुकिंग कहते है। इन ग्रन्थो का जगत्प्रसिद्ध दार्शनिक कनफूशियस ने ई० पू० छठी शताब्दी मे सम्पादन किया। बहुत सम्भव है कि उस समय पुरानी भाषा मे परिवर्तन कर दिए गए हो। तब भी इस साहित्य के द्वारा हमे थोडा-बहुत भाषा-सबधी विवरण मिल ही जाता है। पद्य तुकान्त होते थे, इसलिए ध्वनियो के विकसित हो जाने पर भी उनके प्राचीन रूप का आभास मिल जाता है। विकास तो अबाधगति से होता ही रहा है, उदाहरणार्थ प्राचीन *तित, तिप् तिक्* का वर्तमानकालिक उच्चारण क्रमश *यि, त, ये* पाया जाता है। साहित्य के कुछ ग्रथो को जाइल्ज ऐसे कट्टर यूरोपियन विद्वान् भी ई० पू० १८०० का अर्थात् कोई पौने चार हजार साल पुराना मानते है। तिब्बती मे ७ वी सदी से, ब्रह्मी मे ११ वी से और थाई मे १३ वी सदी मे लेख और ग्रथ मिलते है।

साहित्य की तरह चीनी लिपि बहुत पुरानी है। लिपि-विकास की दूसरी अवस्था (भावात्मक) से यह अभी आगे नही बढ पाई। इसमे प्रति शब्द के लिए एक अलग ही सकेत है। चीनी भाषा की एकाक्षरात्मकता और व्याकरण-हीनता ही शायद इस विकास के अभाव का कारण है क्योकि यदि लिपि ध्वन्यात्मक या वर्णात्मक होती तो भाषा मे विभ्रम की सभावना बढ जाती। चीनी लिपि के कारण विभिन्न भाषा-समूह जो इस परिवार के अतर्गत है एक दृढ सूत्र मे बधे हुए है। तिब्बती और ब्रह्मी की लिपियाँ भारतीय लिपियो से निकली है।

प्राचीन चीनी भाषा का काल १० वी सदी तक, मध्यकालीन का १० वी से १३ वी तक तथा आधुनिक का १३ वी से इधर माना

जाता है। भाषा के लक्षणो के हिसाब से पुरानी और नई भाषा मे कोई अन्तर नही दिखाई पडता। मुख्य लक्षण ये है—

(क) एकाक्षर शब्द

(ख) शब्दो का अर्थवान् और अर्थहीन मे विभाग

(ग) वाक्य मे शब्दो के स्थान का महत्त्व

(घ) सुरभेद का बाहुल्य

(ङ) व्याकरण का अभाव

चीनी भाषा की समस्त पूँजी उसके एकाक्षर शब्द है। **मन्दारी** बोली सर्वप्रधान है, उसमे कोई सवा चार सौ ही शब्द है, **कटूनी** (कैंटन की बोली) मे आठ-नौ सौ ही है। अन्य बोलियो मे इसी प्रकार कम या ज्यादा शब्द है। पर इनसे प्राय सौ गुने शब्दो की सिद्धि हो-जाती है। मन्दारी मे ही कोषसन्निहित बयालीस हजार शब्द है। सवाल उठता है कि इतनी कम पूँजी से इतने अधिक शब्द कैसे सिद्ध हो जाते है? उत्तर मनोरजक है। यदि केवल यही अक्षर ही होते तो बात असाध्य थी, पर साथ ही साथ है सुर-बाहुल्य और अन्य साधन। एक ही ध्वन्यात्मक शब्द येन् के चार अर्थ (धुँआ, नमक, आँख और हस) सुरभेद के ही कारण होते है। यह चार विभिन्न सुरो के कारण ही सभव है। ब का उदाहरण ऊपर (पृ० ७९ पर) दिया गया है। *हुओ* का एक सुर से अर्थ है 'भला' और दूसरे से 'प्रेम'। सुर के अलावा दूसरा साधन है—दो शब्दो को पास-पास रख कर उन दोनो के सामान्य अर्थ का बोध कराना। उदाहरण के लिए, *तओ* के अर्थ है 'सडक झडा, आच्छादन, अनाज आदि' और लू के 'सडक, घुमाव, रत्न, ओस आदि'। अब यदि सडक का बोध कराना हो तो *तओलु* कहने से अभिप्राय सिद्ध हो जायगा। येन् का अर्थ है 'आँख' पर और भी कई एक। अब यदि आँख का बोध कराना हो तो उसके साथ *चिंग* (आँख का तारा) रख कर आँख का अर्थ निश्चित कर लेगे। यदि येन् से नमक का बोध कराना हो तो पइ (बारीक) वा हेइ (मोटा) जोडकर अभिप्राय प्रकट कर देगे।

चीनी के शब्द **अर्थवान** और **अर्थहीन** इन दो विभागो मे बाँटे जाते है। अर्थहीन शब्द का कर्तव्य केवल इतना होता है कि अर्थवान् शब्द का सम्बन्धतत्त्व ज्ञात हो जाय या उसकी परिस्थिति निश्चित रूप से बता दे। अपने व्याकरण मे जो काम उपसर्ग, परसर्ग, समुच्चय-बोधक आदि शब्द करते है वही काम चीनी भाषाओ मे ये अर्थहीन शब्द देते है। उदाहरणार्थ *त्सि* (का), *य* (से), *यु* (को), *लि* पर *त्सुग* (से–अपादान), *तो* (बहुल), *शु* (सख्या)। पर इतना ध्यान रखना चाहिए कि ये अर्थहीन शब्द केवल यही काम नही करते। ये अर्थवान् भी होते है और तब इनका विशेष अर्थ भी होता है। उदाहरणार्थ *त्सि* का अर्थ है 'स्थान', *यु* का 'देना'। कब कौन शब्द अर्थहीन है और कब अर्थवान्, यह बात केवल उसके वाक्य मे इस्तेमाल होने पर मालूम होती है। अर्थवान् शब्दो के भी दो हिस्से है, **जीवित** और **मृत**। जीवित शब्द किसी क्रिया का बोध कराते है और मृत कर्म का। पर यह विभाग भी कोई बहुत निश्चित नही है।

चीनी मे कोई व्याकरण नही मिलता। हम अपने शब्दो को सज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि विभागो मे बाटते है और इस सज्ञा आदि से इनके विशेष-विशेष प्रयोगो का बोध कराते है। पर चीनी मे एक ही शब्द कभी सज्ञा, कभी विशेषण और कभी क्रिया आदि का अभिप्राय सिद्ध करता है और प्रकरण ही इसका निश्चय करता है। ऊपर (पृ० १५२ पर) *लओ लओ* का उदाहरण आया है। *त* का अर्थ प्रकरण के अनुसार 'बडा होना बडा, बडाई, बडाई से' हो सकता है। *स्सु* का अर्थ भी 'मरना, मृत, मार डालना' कोई भी प्रकरण के अनुकूल समझा जायगा। शब्द का वाक्य मे जो स्थान होता है वही प्राय इस बात का निश्चय करता है। कर्त्ता, क्रिया, कर्म यह पद-क्रम है। विशेषण विशेष्य के पहले रक्खा जाता है। उदाहरणार्थ *त जिन्* (बडा आदमी) पर *जिन् त* (आदमी बडा है) *न्गो त नि* (मै तुम्हे मारता हूँ) और *नि त न्गो* (तू मुझे मारता है)।

चीनी भाषाओ में सुर का जितना प्रयोग मिलता है, ससार की अन्य किसी भाषा म नही। किसी-किसी चीनी भाषा मे आठ सुर माने जाते है, मन्दारी मे छ वर्तमान है। ऊपर कह चुके है कि इस सुर-विभेद के कारण ही चार सवा चार सौ एकाक्षर शब्द प्रयोग मे चालीस पैतालीस हजार हो जाते है। यह सुर-विभेद चीनी मे प्राचीन काल से चला आता है। अनुमान यही है कि आज जो समानध्वन्यात्मक पर भिन्नार्थ-बोधक शब्द है वही किसी पूर्वकाल मे भिन्नध्वन्यात्मक रहे होगे और विकसित होते-होते समानध्वन्यात्मक हो गए है। इस विकास के समय से ही इस सुरविभेद का प्रादुर्भाव हुआ होगा। इसी तरह यह सभव है कि य भाषाएँ हमेशा से ही एकाक्षर नही है और न इस सपूर्ण अयोगावस्था की।

थाई समूह की कुछ बोलियाँ आसाम के पूर्वोत्तर भाग म और ब्रह्मदेश के कुछ भागो मे बोली जाती है। इनमे से **शान, आहोम** और **खाम्ती** मुख्य है। तिब्बती-ब्रह्मी समूह की बोलियाँ तिब्बत (भोट) और ब्रह्मदेश मे बोली जाती है। ऐसा अनुमान है कि इनका आदि विकासस्थान चीन महादेश का पश्चिमोत्तर भाग था। वहाँ से इनके बोलने वालो के पूर्वज ब्रह्मपुत्र और इरावदी आदि दक्खिन की ओर आने वाली नदियो के किनारे-किनारे आकर हिमालय के दक्खिन भाग, तिब्बत, भटान, आसाम और ब्रह्मदेश मे बस गए। यहाँ इनकी भाषा मे इतना अन्तर पड गया कि कुछ विद्वानो को इनके चीनी परिवार से सम्बद्ध होने मे ही सन्देह है। इस शाखा के मुख्य लक्षण ये है—

(क) प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक शब्दो का भेद, (ख) कुछ सर्वनामो मे द्विवचन और बहुवचन का अस्तित्व, (ग) उत्तम-पुरुष-वाची सर्वनाम के द्विवचन और बहुवचन मे दो-दो रूप, (घ) क्रिया के कुछ रूपो मे प्रत्ययो का प्रयोग ओर (ङ) ऊपर के सख्या-वाची शब्दो मे गिनती का दश पर निर्भर न होकर विशति (बीस) पर निर्भर होना। इनमे से कोई भी चीनी परिवार की अन्य शाखाओं मे

नहीं पाया जाता। पर ये सभी लक्षण मुंडा भाषाओं में पाए जाते हैं। और स्पष्ट ही तिब्बती-ब्रह्मा में एतद्देशी प्रभाव-स्वरूप हैं।

तिब्बती भाग की प्रमुख भाषा **तिब्बती** है। जैसा ऊपर कह चुके हैं तिब्बती में अच्छा खासा साहित्य है। इसके अलावा **लद्दाखी** आदि बहुतेरी बोलियाँ हैं। ब्रह्मी भाग की प्रमुख भाषा **ब्रह्मी** है तिब्बती-ब्रह्मी शाखा की १५६ बोलियाँ हैं और बोलनेवालों की संख्या डेढ़ करोड़ से ऊपर। भारत और ब्रह्मदेश में इतनी बोलियाँ बोली जाती हैं, बाहर की तो कितनी ज्यादा होंगी। इस बोली-बाहुल्य का कारण यही है कि इनका क्षेत्र पहाड़ी प्रदेश है जहाँ आदान-प्रदान के साधन बहुत कम हैं।

चीनी भाषा-समूह की मुख्य भाषा **मन्दारी** है। यह पीकिंग के आसपास बोली जाती है और इसी में विस्तृत साहित्य है। यही राज-भाषा है। इसमें कोई शब्द सघोष व्यंजन से नहीं आरम्भ होता और सभी शब्द किसी अनुनासिक व्यंजन (न्, ङ्, ञ्) में अन्त होते हैं। मन्दारी के अलावा फूकियन और कैंटन की बोलियाँ भी मार्के की हैं।

अनामी को कुछ विद्वान चीनी परिवार से अलग रखते हैं, और उसे थाई भाषा-समूह और आस्ट्री-एशियाई परिवार के बीच की अवस्था का मानते हैं। पर चीनी परिवार के मुख्य लक्षण अनामी में सर्वत्र पाए जाते हैं। चीनी लिपि में लिखे उसके आदि ग्रंथ, १५वीं सदी तक के मिलते हैं। दो सदियों के बाद यूरोपीय प्रभाव के कारण रोमन लिपि का इस्तेमाल होने लगा। सब बातों को ध्यान में रखकर **अनामी** को चीनी परिवार की ही एक शाखा मानना अधिक युक्ति-संगत है।

काकेशी परिवार

काले सागर और कैस्पियन सागर के मध्यवर्ती भूभाग में दो छोटे-छोटे भाषासमूह ऐसे हैं जो पड़ोस के सामी, उराल-अल्ताई या आर्य, किसी के अन्तर्गत नहीं हो सकते। ये हैं काकेशस पर्वत पर के

उत्तरी काकेशी और **दक्खिनी काकेशी**। पहले की बोलियो के भाषी कोई पाँच लाख और दूसरे के पन्द्रह लाख के करीब है। उत्तरी और दक्खिनी शाखाओ मे परस्पर काफी भेद है। उत्तरी शाखा मे व्यजनो का बाहुल्य और स्वरो की कमी है। दोनो मे पद-रचना की बेहद जटिलता है। इसका अनुमान इसी से हो सकता है कि **अवर** बोली मे सज्ञा की तीस विभक्तियाँ है, और **चेचेन** मे सज्ञा के छ लिग माने जाते है। क्रिया की प्रतिक्रिया मे इतनी जटिलता है कि धातु की खोज कर पाना टेढी खीर है, कौन मालूम कर सकता है कि **अर, उर,** *अइसर उन्द, अन्द, आ* इन रूपो मे धातु **अइ** (बनाना) है? उत्तरी काकेशी मे न कोई निजी साहित्य है न लिपि। दक्खिनी शाखा की प्रमुख बोली **जार्जी** है। इसमे १० वी सदी से इधर बराबर साहित्य मिलता है। इसकी लिपि भी स्वतत्र है।

विविध समुदाय

ऊपर कई भाषा-परिवारो का वर्णन हो चुका है। भारतवर्ष मे बोली जाने वाली भाषाओ के परिवारो (आर्य, द्रविड और आस्ट्री-एशियायी) का वर्णन अगले अध्यायो मे किया जायगा। पर इनके अलावा कुछ प्राचीन और कुछ अर्वाचीन भाषाएँ ऐसी है जो इनमे से किसी भी परिवार के अन्तर्गत नही होती। इनका भी यहाँ सक्षेप मे उल्लेख कर देना आवश्यक है। प्राचीन भाषाएँ (क) **सुमेरी,** (ख) **मितानी, कोत्सी, बन्नी, एलामाइट, हिट्टाइट-कप्पडोसी,** और (ग) **एत्रुस्कन** है तथा अर्वाचीन (प) **जापानी** (फ) **कोरियाई** (ब) **ऐनू** (भ) **हाइपर-बोरी** और (म) **बास्क**

(क) **सुमेरी**—इसके लेख ई० पू० ४००० तक के मिलते है। यह सामी से भिन्न है और अक्कदी (सामी की एक शाखा) जिसका विचार ऊपर कर चुके है उससे बिल्कुल अलग है। सुमेरी बोलनेवाले सभ्यता के शिखर पर पहुँचे हुए, बेबल के शासक थे और फारस की खाडी तक फैले हुए थे। कुछ विद्वान सिन्ध के तट पर की सभ्यता जो

मोहनजोदाडो और हडप्पा की सामग्री से प्रकाश मे आई है, उसका भी सम्बन्ध सुमेरी बोलने वालो से जोडते है। इन्होने अपने बाद आने वाले असीरी लोगो के पास काफी सामग्री अपने साहित्य और भाषा सम्बन्धी छोडी है। असीरी भाषा मे लिखे सुमेरी के कोष और व्याकरण तथा असीरी-अनुवाद समेत सुमेरी के कई ग्रथ भी अब मिलते है। ईसा के पूर्व कई हजार वर्ष तक इन लोगो की फलती-फूलती सभ्यता थी। ई० पू० ३०० तक जब अक्कदी सुमेरी को दूर भगा रही थी, तब तक भी सुमेरी, धर्म और साहित्य की भाषा रही। पर कालचक्र ने इसे हटा दिया। पदरचना के हिसाब से इसे योगात्मक कहना चाहिए। इसीलिए इसे उराल-अलताई परिवार मे सम्मिलित करते है, पर इस सम्बन्ध के लिए आवश्यक प्रमाण नही है।

(ख) **मितानी** आदि---मितानी के केवल कुछ व्यक्तियो के नाम तथा एक धार्मिक पुस्तक मिलती है। यह शायद दक्खिनी काकशी से कुछ सबद्ध है और फरात के उत्तरी तट पर बोली जाती थी। **कोस्सी** के कुछ नाम ही मिलते है तथा **वन्नी** के कुछ ई० पू० ८वी ९वी सदी के लेख। **एलामाइट** के २६०० ई० पू० तक के लेख मिलते है। **हिट्टाइट-कप्पडोसी** बोलियॉ, काले सागर के दक्खिन की ओर कप्पदोशिया प्रदेश मे बोली जाती थी। इनकी कई पुस्तके लेख आदि मिलते है। इनकी ध्वनि-सबधी और शब्दावली की समानता ऊपर की सभी प्राचीन भाषाओ से तथा सामी और आर्यपरिवार की भाषाओ से दिखती है। पर पदरचना की समानता आर्य-परिवार से विशेष है।

(ग) **एत्रुस्कन**---रोम के उत्थान के पूर्व यह भाषा इटली के उत्तरी और मध्य प्रदेश मे बोली जाती थी। इसके कुछ लेख तथा एक पुस्तक प्राप्त हुई है। इसका सम्बन्ध मध्यसागर के साइप्रस, क्रीट आदि द्वीपो तथा उस सागर के किनारे वाले एशिया के भाग की पुरानी भाषाओ से निश्चित है। आर्य-परिवार से यह बिल्कुल अलग है।

(घ) **जापानी**---जापानी भाषा मे बहुत अच्छा साहित्य है, और ८ वी सदी तक पुराना है। लिपि चीनी से सबद्ध है। यह छ करोड

जनता की भाषा है। टोकियो नगरी १९वी सदी मे राजधानी बनी, तभी से वहाँ की बोली को महत्त्व मिला। लिखित भाषा और बोलचाल की भाषा मे काफी अन्तर है और उच्चवर्ग और नीच वर्ग मे भी भेद है। पदरचना मे यह प्रत्यय जोडने वाली, श्लेष की ओर झुकने वाली भाषा है। बहुवचन को बहुधा अभ्यास करके व्यक्त करते है। सयुक्त व्यजनो का प्रयोग कम है। ध्वनिसमूह जटिल-सा है। कोरियाई भाषा से कुछ सम्बन्ध मालूम पडता है। इसको उराल-अल्ताई अथवा सुमेरी से सबद्ध करने के उद्योग निष्फल साबित हुए है। वर्तमान ससार की प्रमुख भाषाओ मे गणना पाने पर भी जापानी का अभी तक किसी भी परिवार से ठीक-ठीक युक्तिसगत सबध नही जोडा जा सका है।

(फ) **कोरियाई**—यह कोरिया मे बोली जाती है और इसके बोलने वालो की जनसख्या दो करोड के करीब है। इसका भी सबध अभी तक निश्चित नही हो सका है। सदियो तक चीनी प्रभुत्व के रहने के कारण इसमे चीनी शब्दो की बहुतायत है। १५ वी सदी तक यह चीनी लिपि मे लिखी जाती थी। उस समय इसकी अपनी लिपि बनी जो सस्कृत (देवनागरी) पर आश्रित है। यह भी प्रत्ययप्रधान श्लिष्ट भाषा है और जापानी से कुछ मिलती-जुलती है।

(ब) **ऐनु**—इसमे तीन बोलियाँ है। बोलने वालो की सख्या बीस-पच्चीस हजार है। साहित्य बिल्कुल नही है। जापान के उत्तर मे स्थित दो-तीन द्वीपो मे इसके बोलने वाले रहते है। यह भी योगात्मक अश्लिष्ट भाषा है।

(भ) **हाइपर-बोरी**—ये बोलियाँ साइबेरिया के उत्तर-पूर्व के कोने मे तथा उसके पडोस के दो-एक द्वीपो मे बोली जाती है। कई बोलियाँ है जो परस्पर असबद्ध-सी दीखती है।

(म) **बास्क**—आर्य भाषाओ से घिरी हुई यह अनार्य भाषा यूरोप मे पिरेनीज पहाड के आसपास बोली जाती है। इसके एक लाख चालीस हजार बोलने वाले फ्रास मे और छियासठ हजार स्पेन मे है। इसमे कई (कम से कम आठ) बोलियाँ है। ८वी सदी तक पुराने नाम

मिलते है, और १६ वी सदी से इधर थोडा बहुत साहित्य। आकृति अन्तयोगात्मक अश्लिष्ट है। ध्वनि-सामग्री प्रचुर है, और वाक्य-विन्यास जटिल। इस भाषा का सबध भी किसी प्रचलित भाषा परिवार से नही जुडता।

अगले अध्याय मे आर्येतर भारतीय भाषा-परिवारो का विवरण दिया जायगा।

इकत्तीसवाँ अध्याय

आर्येतर भारतीय परिवार

पूर्ववर्ती अध्यायो मे ससार की उन भापाओ का थोडा-सा विवरण दिया गया है, जो अपने देश की नही है। अपने यहाँ आर्य, द्रविड मुडा (आस्ट्री) तथा तिब्बती-चीनी परिवारो की भापाएँ भारतीयो द्वारा बोली जाती है। आबादी की १९३१ की रिपोर्ट के अनुसार भारत और ब्रह्मदेश (तब तक ब्रह्मा को अँगरेज सरकार ने हमसे जुदा नही किया था) दोनो मे मिलाकर एशिया के अन्य देशो, तथा अफ्रीका और यूरोप के महाद्वीपो की भापाओ के बोलने वाले केवल ६½ लाख से भी कम थे। और ये अधिकतर, भारतीय नही, भारत मे शासन व्यवसाय आदि तरह-तरह के कामो के लिए टिके हुए विदेशी ही थे।

तिब्बती-चीनी भाषाएँ बोलने वालो की सख्या डेढ करोड के कुछ ऊपर है। इन भापाओ का अस्तित्व प्राय ब्रह्मदेश और तिब्बत, भूटान मे है। ऊपर चीनी परिवार की भापाओ का विचार करते समय इनका उल्लेख किया जा चुका है। भारत मे इस शाखा की भाषाएँ जहाँ-तहाँ आसाम के उत्तरी और पूर्वी भाग मे बोली जाती है, इनके बोलने वाले जगलो और पहाडो पर रहते है। इनकी बोलियो का अध्ययन हाजसन आदि विदेशी विद्वानो ने किया है। नागा बोलियाँ प्रमुख है। विशेष विवरण ग्रियर्सन साहब के सर्वे मे मिलेगा।

ऊपर प्रशात महासागर की भापाओ का विचार करते समय **मलाया-पालीनेशिया** भाषाओं का उल्लेख आया है। इनका हिन्दी-चीनकी **मोन-ख्मेर** और भारत की **खासी** और **मुडा** भाषाओ से सबध है। मोन-ख्मेर जाति किसी समय हिदी-चीन को जीत कर उस पर राज्य करती

थी। अब तो थाई देश, ब्रह्मदेश और भारत के कुछ जगली भागो मे ही इनके बोलने वाले, आदि निवासियो के रूप मे, रहते है। भारत मे केवल आसाम के पूर्वी प्रदेश मे इनके बोलने वाले पाए जाते है। और आसाम मे ही मोन-ख्मेर भाषाओ से सबद्ध खासी, खासी पहाडियो पर, बोली जाती है। यह चारो ओर से तिब्बती-चीनी से घिरी हुई है। सदियो से यह मोन-ख्मेर भाषाओ से दूर पड गई है। तब भी इसकी शब्दावली और वाक्यविन्यास दोनो की मोन-ख्मेर से गहरी समानता है। मोन-ख्मेर और खासी के अलावा, अपने देश के एक विस्तृत भाग के जगली प्रदेशो मे मुडा भाषाभाषी रहते है। इन भाषाओ का थोडा अधिक विवरण देना जरूरी है—न केवल इस नजर से कि इनके बोलने वाले काफी बडे भूभाग मे फैले हुए है, बल्कि इस विचार से भी कि इनका इस देश की अन्य प्रमुख (आर्य, द्राविड) और अप्रमुख (तिब्बती-चीनी) भाषाओ पर विशेष प्रभाव पडा है। मोन-ख्मेर, खासी और मुडा शाखाओ को मिला कर आस्ट्री-एशियाई परिवार की भाषाओ के बोलने वालो की सख्या अपने देश मे करीब ५३ लाख है। जनसख्या साहित्य, सभ्यता आदि के हिसाब से आर्य (२५¾ करोड) और द्राविड (७¾ करोड) से इनका कोई मुकाबिला नही।

मुडा

नाम—मुडा शब्द इस भाषा-परिवार की एक भाषा मुडारी का है और उसका अर्थ है 'मुखिया, जमीदार'। मक्समूलर ने पहले-पहल इन भाषाओ को द्राविड परिवार मे भिन्न समझा और उन्होने इनको मुडा नाम दिया। इसके पूर्व इनको **कोल** कहते थे। पर यह शब्द अनुपयुक्त है, क्योकि कोल जाति के अन्तर्गत **ओराओ** भी है जो द्राविडी भाषा बोलते है। इसके अलावा सस्कृत मे कोल शब्द का अर्थ 'सूअर' है जिसका प्रयोग अपने ही निजी देशवासियो के प्रति करना अनुचित भी है। सथाली का कोल्हा (लोहार) तथा हिंदी के कोरी, कलार, कलवार करवल आदि इसी से सबद्ध है। तमिल मे **कल्लर** और **कन्नड**

मे कळ्ळस एक आदिवासी जातिविशेष का वाचक है जिनका पेशा चोरी और धानुष्कता है।

क्षेत्र—मुंडा भाषाएं विशेष रूप से छोटा नागपुर में बोली जाती हैं। इसके अलावा मध्यप्रदेश तथा उडीसा के कुछ जिलो मे, मद्रास के कुछ भाग मे, तथा पश्चिमी बगाल और बिहार के पहाडी और जगली प्रदेशो मे भी मुडा भाषा-भाषी रहते है। इसके अतिरिक्त हिमालय की तराई मे बिहार से लेकर शिमला पहाडी तक बराबर ये लोग पाए जाते हैं। मध्यप्रदेश और मद्रास में इनके चारो ओर द्राविड भाषाएँ है और उत्तर भारत में आर्य। ऐसा अनुमान है कि आदि मुडा भाषाभाषी भारत मे सर्वत्र फैले थे। बाद को आने वाले द्राविड और आर्य जनसमुदायो ने इनको खदेड भगाया और इन्होंने जगलो और पहाडो की शरण ली। हताश हो इन्होंने ऐसे पेशे अपनाए जिनका सभ्य समाज में सम्मान न था। और इनमे से जो जनगण तेज और सरकश थे, उन्होंने डाका, चोरी आदि कर के बसर करना आरभ किया। मुडा जाति की ही शाखा 'शबर' थी जिस का उल्लेख रामायण, कादबरी आदि ग्रथो में मिलता है।

प्रभाव—मुडा भाषाए आकृति मे योगात्मक अश्लिष्ट हैं। इनकी कुछ विशेषताओ का प्रभाव आर्य और द्राविड भाषाओ पर स्पष्ट है। तिब्बती-चीनी पर पडे हुए प्रभाव का उल्लेख ऊपर आ चुका है। मुडा में क्रिया-रूपो का बाहुल्य है। भोजपुरी, मगही और मैथिली, इन बिहारी बोलियो मे क्रिया की जटिलता, मुडा के ही प्रभाव का परिणाम जान पडती है। उत्तम पुरुष-वाची सर्वनाम के बहुवचन के दो रूप, एक वक्ता के साथ वाच्य (मध्यम पुरुष) को शामिल करके और एक उसको न शामिल करके, भी मुडा के प्रभाव से आए जान पडते है, जैसे हिन्दी की बोली मालवी मे *हम हाट जायँगे* और *अपन हाट जायँगे* मे भेद है और वह यह कि पहले वाक्य मे हाट जाने वालो मे जिस से बात कही जा रही है वह शामिल नही और दूसरे मे वह शामिल है। कोडियो मे चीजो को गिनना भी मुडा भाषाओ का ही स्पष्ट प्रभाव है।

भाषाएँ—सथाली और मुडारी भाषाओं का थोडा बहुत अध्ययन किया जा चुका है। इनके अलावा हो, कुर्क्, सवर आदि बोलियाँ भी हैं। शिमला की तरफ कनावरी बोली जाती है। सथाली, मुडारी आदि चार-पाँच को मिलाकर सामान्य नाम खेरवारी देते हैं। मुडा की कुल सात बोलियाँ हैं, और समस्त आस्ट्री परिवार की इस देश मे उन्नीस।

ध्वनिसमूह—मुडा मे स्वर तथा सघोष, अघोष, अल्पप्राण और महाप्राण व्यजन मौजूद हैं। महाप्राणत्व की मात्रा आर्य-भाषाओं की अपेक्षा अधिक मालूम पडती है क्योंकि आर्य भाषाओं के ऐसे शब्द जिनमे महाप्राण है, यदि वे मुडा मे ले लिए गए हैं तो वे ही यहा अल्पप्राण हो गए हैं। हिंदी के सभी स्वर, स्पर्श वर्ण (पाँचो वर्ग), य र ल व, ड, स, ह मुँडा मे पाए जाते हैं, पर इनके अलावा एक प्रकार के अर्धव्यजन क़, च, त, प भी हैं जिनका उच्चारण अपने व्यजनो से भिन्न हैं। इनके उच्चारण मे पहले अन्दर को साँस खींची जाती है, तब स्पर्श होता है और फिर स्फोट। इस स्फोट मे साँस कभी-कभी नासिका-विवर से भी निकल जाती है। सथाली के किसी शब्द के आदि मे सयुक्त व्यजन नही आता। द्व्यक्षर शब्दो मे यदि अंताक्षर दीर्घ और उसके पहले वाला ह्रस्व हो तो बलाघात अतिम अक्षर पर ही होता है, नही तो उसके पहले वाले पर।

व्याकरण—सज्ञा, क्रिया आदि शब्द-विभाग नही दिखाई पडता। शब्दार्थ प्रकरण के अनुकूल जाना जाता है। सम्बन्ध-तत्त्व का बोध अधिकतर अन्तयोग और मध्ययोग से होता है, तथा अभ्यास का भी सहारा लिया जाता है। उपसर्ग भी जोडे जाते हैं। उदाहरणार्थ—*अ* (प्रेरणार्थक) को *सेन* (जाना) मे जोड कर *असेन* (ले जाना), इसी प्रकार *अ-न्* (पिलाना) *प* (समूहवाचक) जोडकर *मझी* (मुखिया) से मपझी (मुखियागण), अथवा प- (परस्परवाचक) जोडकर *दल* (मारना) से *दपल* (आपस मे मारना-पीटना), -क- (समभिहार-र्थक) जोडकर *आल्* (लिखना) से *अकाल* (खूब लिखना)। मुडा

के शब्द एक-एक वस्तु और भाव का बोध कराने के लिए प्रयुक्त है परन्तु सामान्य भाव का बोध कराने वाले शब्दों की कमी है।

प्रकरण से ही पदविभाग का पता चलता है। जरूरत के अनुरूप, एक ही शब्द-रूप संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि का काम दे देता है। विभक्तियों का बोध परसर्गों से कराया जाता है। लिंग का बोध मूल शब्द में पुरुषवाचक या स्त्रीवाचक शब्द जोडकर कराया जाता है, जैसे *आडिया* कूल (बाघ), *एगा* कूल (बाघिन)। कोडा (लडका), कुडी (लडकी) आदि शब्दों में लिंग भेद दिखाई पडता है, पर ऐसे प्रयोगों की नितान्त कमी है और स्पष्ट है कि यह आर्य भाषाओं का प्रभाव है। चेतन और अचेतन का भेद अवश्य उपस्थित है।

इन भाषाओं में तीन वचन होते हैं। खेरवारी द्विवचन का प्रत्यय कीन् या कीड् है और बहुवचन का को या कु, जैसे—हाड (आदमी) *हाडकीन्* (दो आदमी), *हाड-को* (कई आदमी)। परसर्ग काफी हैं—ते (को, में, कारणवाचक से), रे (में, बीच में), *लगित*, *लगत* (लिए), *खान*, *खाच* (में अपादानवाचक), *टान*, *टाच* (निकट)। संबंध-वाचक परसर्ग, चेतन-संबंधी होने पर रेन् और अचेतन होने पर *अक्*, *अड्* रेअक्, रअड् आदि होता है और हिन्दी के विपरीत संबद्ध के अनुसार न बदल कर संबंधी के अनुसार बदलता है।

संथाली के संख्यावाची शब्द मिट (१) *बारेआ* (२) *पैआ* (३), *पोनेआ* (४), *मोडा* (५), *तरूइ* (६), एआए (७) इराल (८), आरे (९), गेल (१०), इसि (२०) है। ऊपर की संख्याएँ बीसियों से गिनी जाती हैं (*पोन इसि*—८०, पे इसि-६०)। दस और बीस के बीच में खन (अधिक) या कम (न्यून) को जोडकर काम चलाया जाता है, जैसे—*गेल खन पोनेआ* (१४), *बारेआ कम* *इसि* (१८)।

पुरुषवाचक सर्वनामों में भी द्विवचन और बहुवचन के हम और अपन के वजन के दो-दो रूप हैं *आप आदि*) और

सबधवाचक (जो, जिस आदि) के वजन के कोई सर्वनाम मुडा भाषाओ मे नही मिलते।

क्रिया ऐसी कोई अलग चीज नही। वही शब्द जो एक जगह सज्ञा-रूप आया है अन्यत्र क्रियारूप हो सकता है, मरड (बडा) हाड अ मरड अ (आदमी बडा है), हैं (हाँ) और उसमे केत परसर्ग जोडकर हैं केत-अ (हाँ कहा)। यह अ किसी क्रिया या व्यापार की भावात्मकता का बोधक है, और कुछ नही। क्रिया के रूप प्रत्यय जोड-कर सिद्ध होते है। किन्तु जब तक यह अ न जुडे तब तक क्रिया का वास्त-विक अस्तित्व नही प्रकट होता। उदाहरण के लिए, दल्-केत (मारा) का अर्थ दल्-केत-अ से सिद्ध होगा। सशयात्मक क्रियाओ मे यह अ नही जुडता, जैसे खजुक अलो-ए-दग (यदि पानी न बरसे) मे यह अ नही जोडा गया। सहायक क्रिया के रूप क्रियारूपो और भावात्मक अ के बीच मे डाल दिए जाते है। धातु का अभ्यास दो तरह किया जाता है (क) पूरी धातु को दुबारा लाकर, या (ख) धातु के प्रथम दो वर्णों को दुहरा कर। प्रथम का अभिप्राय उस धातु द्वारा निर्दिष्ट क्रिया का बार-बार करना और दूसरे का उसी क्रिया को खूब करना होता है, जैसे दल् (मारना) से दल्-दल् (बार-बार मारना) और ददल् (खूब मारना)। विशेषकर स्वर से आरम्भ होनेवाली धातुओ मे या बह्वक्षर धातुओ मे-क्-बीच मे जोडकर समभिहार (पौन पुन्य या भृशार्थ) का बोध कराया जाता है, जैसे अगु (ले जाना), अक्गु (बार-बार ले जाना या खूब ले जाना)। परस्पर-क्रिया का बोध -प- को बीच मे जोडकर और प्रेरणार्थक का अत मे-*ओची* लगाकर किया जाता है। इन प्रक्रियाओ के अलावा इन भाषाओ मे क्रिया का एक विशेष रूप होता है जिससे हिन्दी के *सुन रक्खो*, *ले रक्खो* आदि प्रयोगो का अभिप्राय प्रकट होता है, अर्थात् ऐसी क्रिया जिसका भविष्य मे कुछ काम पडे जैसे— *अजम-कक्मा* (सुन रक्खो)।

पुरुष के अनुसार क्रिया मे रूप-विभिन्नता नही होती। पर चेतन पदार्थो के विषय मे पुरुषवाची सर्वनाम अत मे जोड दिए जाते है

क्रिया-रूप मे प्रत्यय जोडकर उन सभी कालो और वृत्तियो का बोध कराया जाता है जो प्राय संस्कृत और हिन्दी मे मिलती है। इनके अतिरिक्त और कई प्रयोग है।

मुडा भाषाओ मे अव्यय स्वतत्र शब्द है जिनका अलग ही अर्थ है, जैसे *मैनसन* (लेकिन) का तात्विक अर्थ है 'यदि तुम कहो।'

मुडा भाषाओ का द्राविडी भाषाओ से मौलिक अतर है। द्राविडी मे अर्ध-व्यजन सी कोई चीज नही। सज्ञाओ का विभाग मुडा मे चेतन-अचेतन का होता है, द्राविडी मे विवेकी-अविवेकी उच्चजातीय और अजातीय का। मुडा मे गिनती बीस के क्रम से होती है। द्राविड मे आर्य की तरह दस के क्रम से। मुडा मे तीन वचन होते है, द्राविडी मे दो। मुडा मे मध्यविन्यस्त प्रत्यय होते है, द्राविड मे नही।

द्राविडी

नाम—भारत मे क्या जनसख्या और क्या साहित्य सभी बातो के विचार से द्राविडी भाषाओ का यदि गौणस्थान है तो केवल आर्य भाषाओ से। **दविड** शब्द सस्कृत **द्रविड** का रूपान्तर है। इसी शब्द का पालि रूप **दमिळ** महावश मे तथा यही जैन प्राकृत ग्रथो मे मिलता है। वराहमिहिर ने *द्रमिड* शब्द का प्रयोग किया है। ग्रीक ग्रथो मे *डमरिक, डेमिरिक* शब्द मिलते है। **तमिळ** शब्द दविड ही का अन्य रूप है।

सम्बन्ध—द्राविड भाषाओ की मुडा भाषाओ से विभिन्नता ऊपर दिखाई गई है। आर्य भाषाओ से भी ये प्राय हर एक बात मे भिन्न है। इनकी अश्लिष्ट योगात्मक अवस्था है। उराल-अल्ताई भाषाओ मे जैसी स्वर-अनुरूपता मिलती है वैसी यहाँ भी दिखाई पडती है। इसको मुख्यरूप से ध्यान मे रखकर कुछ विद्वानो ने इनका उराल-अल्ताई से परिवार-सबध जोडने का प्रयत्न किया है। मोहनजदाडो की खुदाई के बाद तो द्राविडी, सुमरी और मोहनजदाडो की सभ्यता को एक सूत्र मे बाँधने की भी कोशिश हुई है और यह भी प्रयत्न हुआ

है कि आस्ट्रेलिया की आस्ट्री भाषाओ से इनका सबध जोडा जाय। इस अतिसवाद को उपस्थित करने वाले विद्वानो का विचार है कि प्रागैतिहासिक काल मे लेमुरी महाद्वीप मौजूद था जो आज अरब सागर के नीचे पड गया है। और इसी पर इस भाषा-समुदाय के बोलने वालो के पूर्वज रहते थे। यदि यह अनुमान ठीक हो तो मडागास्कर द्वीप से लेकर प्रशान्त महासागर के द्वीपो तक की भाषाओ का एक ही सम्बन्ध होना समझ मे आ सकता है। ऐसी दशा मे उराल-अल्ताई या सुमेरी से द्राविड का कोई भी सबध नही ठहर सकेगा और यह विचार भी कि आर्यो की तरह द्रविड जन समुदाय भी भारत मे पश्चिमोत्तर दिशा मे आए और ब्राहुई भाषा-भाषी उनकी अन्तिम शाखा है, यह युक्तिसंगत न रहेगा। पर द्राविडी का आस्ट्री से सबध होना अत्यन्त अल्प आधार की भित्ति पर खडा है क्योकि जैसा ऊपर दिखा चुके है, दोनो मे काफी भिन्नता है।

भाषाएँ—द्राविडी की कुल १४ भाषाएं है। भाषा-विज्ञानी इनको चार वर्गो मे बॉटते है—(क) द्राविड (ख) मध्यवर्ती (ग) आन्ध्र (तेलुगू) और (घ) पश्चिमोत्तरी (ब्राहुई)। नीचे हर एक वर्ग की जनसंख्या दी जाती है—

(क)	द्राविड	४ करोड	१५ लाख
(ख)	मध्यवर्त्ती		३६ लाख
(ग)	आन्ध्र	२ करोड	६४ लाख
(घ)	पश्चिमोत्तरी		२० लाख

इनका अवांतर वर्गीकरण इस तरह किया जाता है—

- द्राविड
  - तमिळ
    - तमिळ
    - मलयालम
  - कन्नड
  - तुळु
  - कोडगु
  - टोडा
    - बडगा
    - टोडा
    - कोटा
- मध्यवर्ती
  - गोंडी
  - कुरुख (ओरांओं)
  - कुई (कंधी)
  - कोलामी
    - कुरुख
    - माल्टो
- आन्ध्र
  - तेलुगु
- पश्चिमोत्तरी
  - ब्राहुई

तमिळ—यह मद्रास (तमिलनाड) में और सिंहल (लंका) के उत्तरी भाग में बोली जाती है। इसके उत्तर में तेलुगु और पश्चिम में कन्नड और मलयालम हैं। समस्त द्राविडी भाषाओं में यह प्रमुख है। इसका साहित्य तीसरी सदी तक का मिलता है। बोलियों में परस्पर समानता बहुत अधिक है। स्टैंडर्ड भाषा के दो रूप हैं, शेन और कोडुन। शेन सभ्य समझी जाती है। कोडुन प्राय बोलचाल की है। तामिळ की मणिप्रवाल नाम की एक साहित्यिक शैली है, जिसमें संस्कृत शब्दों की प्रचुरता है और साथ ही साथ तमिल शब्द भी खूबसूरती से पिरोए हुए हैं। तामिळ साहित्य बहुत उच्चकोटि का है और बंगाली, हिन्दी, मराठी आदि आर्य भाषाओं का समकक्ष है।

मलयालम—तमिळ की ही एक शाखा समझी जाती है यह तामिल से ९ वीं सदी में अलग हुई। इसका क्षेत्र भारत का दक्खिन-पच्छिमी कोना है लक्षद्वीप में भी यह भाषा बोली जाती है शब्दावली

सस्कृत प्रचुर है, पर इस भाषा के मुसलमान भाषी (मोपला) इस सस्कृत-बहुल भाषा का प्रयोग नही करते। ट्रावकोर और कोचिन राज्यो की सरक्षा मे मलयालम साहित्य खूब फूला-फला और उन्नत हुआ है और प्राचीनता मे १३ वी सदी तक जाता है।

कन्नड—मसूर राज्य की भाषा है। इसमे भी अच्छा खासा साहित्य है। लिपि तेलुगू से मिलती है, (और ये दोनो ८वी सदी मे किसी पूर्वरूप से अलग अलग विकसित हुई है) पर भाषा तामिल से। पद्य की भाषा मे कृत्रिमता अधिक है। कई बोलियाँ है। इसके अभिलेख ५वीं सदी तक के पुराने मिलते है। समस्त द्राविडी भाषाओ मे यही सबसे पुराने है।

तुळु का क्षेत्र बहुत परिमित है। भाषा सुथरी हुई है पर कोई साहित्य नही। कोडगु, कन्नड और तुळु के बीच की है। बडगा, टोडा और कोटा नीलगिरी पहाड पर रहने वाले जगली लोगो की बोलियाँ है।

मध्यवर्त्ती समुदाय की भाषाएँ प्राय जगली जातियो की है। ये मध्यभारत म, तथा बरार से लेकर उडीसा और बिहार तक फैली हुइ है। बगाल के राजमहल जिले मे भी एक जगह गगातट पर इनक बोलने वालो का निवास है। इन बोलियो में कोई साहित्य नही। इनके बोलने वाले प्राय सब के सब द्विभाषाभाषी होते है क्योकि आसपास के आर्य भाषा-भाषियो से निरन्तर सम्पर्क रहता है। आर्य-भाषाओ की छाप इतनी गहरी पड रही है कि इनमे से कुछ छोटी-छोटी टोलियो की बोलियाँ मर-सी रही है और सभव है कि आगे-पीछे समाप्त ही हो जायँ।

गोडी—यह मध्यवर्त्ती वर्ग मे सबसे बडी है। गोड हिन्दी प्रान्त मे पाए जाते है। कुरुख (ओराओ) को मूलरूप से कर्णाट प्रान्त का बताया जाता है जो बाद को बिहार उडीसा मे छा गई। इसी की एक बोली माल्टो है। कुरुख भाषा-भाषियो का निवासस्थान वही है जो मुडा का है। दोनो परस्पर एक-दूसरे की भाषा समझते-बूझते है, और कुछ जन-समुदाय एक छोडकर दूसरी बोलने लगे है। कूई (कन्धी) का तेलुगू से सबध है इसके बोलन वाले उडीसा के जगलो मे रहते है।

कोलामी का क्षेत्र विदर्भ के दक्खिन-पच्छिम मे आन्ध्र राज्य मे है, और सबध तेलुगू मे। यहा वह आर्य परिवार की भीली भाषा के सम्पर्क मे है और लुप्त-सी हो रही है।

आन्ध्र प्रान्त की भाषा तेलुगू बडे महत्त्व की है। वर्तमान आन्ध्र राज्य की यही भाषा है। तेलुगू भाषा-भाषी बडे वीर और सभ्य रहे है। मुगल राज्यकाल मे बराबर यह उत्तर भारत मे सैनिकरूप से आते रहे। हिन्दी मे *तिलगा* शब्द सैनिक का पर्यायवाची है। द्राविडी भाषाओ मे तेलुगू वालो की सख्या सब से अधिक है। इस भाषा का साहित्य १०वी सदी तक का मिलता है। आधुनिक साहित्य भी बहुत अच्छा और तमिळ की टक्कर का है। सस्कृत से बहुतेरे शब्द तेलुगू मे स्वाभाविक रीति से ले लिए गये है। इस शब्दावली के कारण बगाली, हिन्दी आदि आर्य भाषाओ से इसका अन्य द्राविडी भाषाओ की अपेक्षा घनिष्ठ सबध है। भाषा मे बडा माधुर्य है।

बलोचिस्तान के बीच मे चारो ओर से इरानी भाषाओ से और एक कोने मे सिंधी से घिरी हुई द्राविडी परिवार की ब्राहुई भाषा है। इसके बोलने वाले सभी मुसलमान है, और मातृभाषा की विभिन्नता से शादी-ब्याह आदि सामाजिक व्यवहार मे कोई अतर नही पडता। परिणाम-स्वरूप ब्राहुई भाषा-भाषी ईरानी भाषा (बलोची या पश्तो) भी मातृ-भाषा सरीखी बोलते है। इस भाषा का इस परिस्थिति मे टिका रह जाना अचरज की ही बात है।

लक्षण—द्राविडी परिवार की भाषाओ के उच्चारण मे शब्द के अतिम व्यजन के उपरात एक अतिलघु अकार जोड दिया जाता है। तमिळ मे क, श त, प, ड के उपरान्त अतिलघु उकार सुन पडता है कन्नड और तेलुगू मे सभी शब्द स्वरात होते है और अतिम व्यजन के बाद उ बोला जाता है। पर बोलचाल की तेलुगू और कन्नड मे यह बहुत लघु सुनाई पडता है जैसे साहित्यिक गुर्रमु (घोडा), इन भाषाओ मे उराल-अल्ताई भाषाओ की सी स्वर-अनुरूपता भी पाई जाती है। सभी भाषाओं में और विशेष कर तमिळ में यह प्रवृत्ति है कि किसी

शब्द के आदि मे सघोष व्यजन नही आ सकता, और शब्द के मध्य मे आने वाला अकेला व्यजन या अनुनासिक व्यजन के बाद आनेवाला व्यजन सघोष होना चाहिए। इसी प्रवृत्ति मे स० दत तमिळ मे तदम् हो जाता है। यही प्रवृत्ति तिब्बती-चीनी मे पाई जाती हे।

सज्ञाओ का विभाग विवेकी और अविवेकी मे किया जाता है अथवा इन्ही को उच्च-जातीय और अजातीय कह सकते है। जरूरत होने पर पुल्लिग-स्त्री-लिग का भेद नर और मादा के बोधक शब्दो को जोडकर दिखाया जाता है। अन्य पुरुषवाची सर्वनामो मे ही पुं० स्त्री० भेद पाया जाता है और ये विशेषणो तथा सज्ञाओ मे लिग-भेद करने के लिए जोडे जाते हैं। ब्राहुई मे यह लिगभेद नही पाया जाता।

दो वचन होते हे। विभक्तिया परसर्ग जोडकर बनती है। पर ये परसर्ग सज्ञा के विकारी रूपो के अनतर आते है अविकारी के बाद नही। विशेषणो के रूप नही चलते। गिनती आर्य भाषाओ की तरह दस पर निर्भर है। कुछ विद्वानो का मत है कि भारत मे जो सोलह पर निर्भर (रुपए आने की) गिनती पाई जाती हे, वह भी द्राविड स्रोत की है।

उत्तमपुरुषवाची सर्वनाम मे *हम* और *अपन* के वजन के दो रूप बहुवचन मे होते है। सम्बन्धवाची सर्वनाम नही होता। कुरुख के ये सर्वनाम है—*ऍन* (मै) *एम्* (हम), *नीन्* (तू), *नीम्* (तुम), *तान्* (स्वय एकवचन), *ताम्* (स्वय बहुवचन)।

बहुत से शब्द सज्ञा और क्रिया दोनो होते है, जैसे ता० *कोन* (राजा), *कोन एन* (मै राजा हू)। कर्मवाच्य के अलग रूप नही होते। सहायक क्रिया से उनका बोध कराया जाता है। क्रिया के रूपो मे पुरुष का बोध कराने के लिये पुरुषवाची सर्वनाम का अन्तिम भाग जोडा जाता है। काल होते है, निश्चित और अनिश्चित, निश्चित भूत और निश्चित भविष्य तथा अनिश्चित वर्तमान या अनिश्चित भविष्य। क्रिया के निषेधात्मक रूप भावात्मक से भिन्न होते है। तिडन्त रूपो की जगह कृदन्त रूपो का अधिक प्रयोग होता है।

प्रभाव—भारत में आर्यों के आने के समय यहां मुंडा और द्राविड पहले से ही बसे हुए थे। प्रोफेसर चटर्जी के मत के अनुसार मुंडा जाति के लोग कश्मीर तक फैले हुए थे। यह कश्मीर के और भी पच्छिम में बोली जाने वाली **बुरुशस्की** को आग्नेय परिवार का समझते हैं। शिमला की पहाडी तक पर मुंडा की एक शाखा तो वर्तमान है ही। इसी प्रकार द्राविड भाषाओं का भी इस देश में आर्यों के प्रवेश के पहले प्रचार था। जब आर्य इनके संपर्क में आए होंगे तो स्वाभाविक ही है कि उनकी भाषा पर इनका प्रभाव पड़ा होगा। दुर्भाग्य से द्राविडी के बहुत पुराने लेख या ग्रन्थ नहीं मिलते, नहीं तो परस्पर संपर्क के परिणाम का अध्ययन अधिक स्पष्ट हो जाता। तब भी भाषा-विज्ञानियों का अनुमान है कि भारतीय आर्य शाखा में मूर्धन्य ध्वनियों का अस्तित्व और *र* और *ल* का व्यत्यय द्राविडी प्रभाव के ही कारण से है। परसर्गों का अस्तित्व और सो भी संज्ञा और सर्वनाम के विकारी रूप के बाद द्राविड प्रभाव को ही जतलाता है। हिंदी आदि भाषाओं के चेतन पदार्थवाची कर्म का अचेतन कर्म से भेद (*राधा ने कृष्ण को सराहा* पर *राधा ने मुरली चुराई*) भी द्राविड प्रभाव के कारण समझा जाता है। अन्य आर्य भाषाओं की तुलना में भारतीय शाखा में कृदन्त रूपों का तिङन्त की अपेक्षा अधिकाधिक प्रयोग भी इसी का द्योतक है। यह उत्तरोत्तर बढ़ता गया। ह्विटनी ने ऋग्वेद की क्रियाओं की तुलना भगवद्गीता की क्रियाओं से की है और इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि भगवद्गीता में तिङन्त रूपों का योग ऋग्वेद की अपेक्षा दसवां हिस्सा ही रह गया है। इसी प्रकार वर्तमान आर्य भाषाओं का सहायक क्रियावाला कर्मवाच्य तथा भविष्यकाल के रूप भी द्राविडी प्रभाव के ही परिणाम मालूम पड़ते हैं। शब्दावली का जो परस्पर आदान-प्रदान हुआ है, वह स्पष्ट ही है।

अगले अध्याय में आर्य-भाषाओं का विवेचन किया जायगा।

बत्तीसवाँ अध्याय

आर्य परिवार

इस परिवार की भाषाएँ मुख्य रूप से हमारे देश के अधिकाश मे, ईरान मे आर्मीनिया मे, प्राय सारे यूरोप महाद्वीप मे, सकल अमरीका महाद्वीप मे तथा अफ्रीका के दक्खिन-पच्छिमी कोने मे और आस्ट्रेलिया मे बोली जाती है। बोलने वालो की सख्या, क्षेत्र विस्तार, साहित्य आदि सभी बातों को देखते हुए इस परिवार का ससार के भाषापरिवारो मे सर्वप्रमुख स्थान है। वस्तुस्थिति तो यह है कि इसी परिवार की कुछ भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन मे भाषाविज्ञान का आविर्भाव हुआ।

नाम—इस परिवार का नाम सबसे पहले **इन्डोजर्मनिक** पडा। पिछले दो सौ वर्षों से जर्मन विद्वान बराबर इस विज्ञान के अध्ययन मे लगे रहे है। उन्होने स्पष्ट देखा कि ये परस्पर सबद्ध भाषाएँ एक ओर पूर्व दिशा मे भारत (हिन्द) मे बोली जाती है और दूसरे, पच्छिम छोर पर जर्मनी मे (ब्रिटेन आदि जर्मनी के पच्छिम वाले देशो मे ॲंगरेजी, डच आदि भाषाएँ जर्मनी शाखा की ही है)। स्वाभाविक ही था कि उन्होने इनका नाम इ० ज० रख दिया। पर आयर्लैंड और वेल्ज मे बोली जाने वाली केल्टी शाखा की भाषाए जर्मनी शाखा की नही थी, इसलिए इ० ज० नाम अनुपयुक्त समझा गया और इडो-केल्टिक सुझाया गया। यह नाम बिल्कुल न चल सका। परिवार की मुख्य भाषा सस्कृत के कारण **सस्कृतिक** भी सोचा गया, पर इस निश्चय के कारण कि सस्कृत सभी का आदिस्रोत नही है, यह छोड दिया गया। इजीली सम्प्रदाय के अनुसार सामी, हामी के वजन पर हजरत नौह के तीसरे बेटे जैफ के नाम पर **जैफाइट** भी रखने का विचार हुआ पर यह भी आगे न बढ सका इनके अलावा

दो नाम और पेश किए गए, **आर्य** और **इन्डोयूरोपियन**। इग्लैंड, फ्रांस आदि देशों के विद्वानों ने इ० यू० नाम पसंद किया और इसी का व्यवहार करते हैं। उनका कहना है कि भारत और यूरोप इन्हीं दो महादेशों में ये भाषाएँ गौरव को पहुँची इसलिए यह नाम ठीक है। पर जर्मनी वाले अब भी इ० ज० शब्द का ही प्रयोग करते हैं, उनका विश्वास है कि इ० ज० नाम का बहिष्कार उस नाम की अनुपयुक्तता के कारण इतना नहीं हुआ है जितना जर्मनी नाम तक के द्वेष के कारण। आर्य शब्द के व्यवहार के विरुद्ध यूरोप के विद्वान दो तर्क उपस्थित करते हैं—(१) इस नाम से इस परिवार की भाषाओं और उनके बोलने वालों की जाति का समकक्षत्व होता है अर्थात् यह भ्रम होता है कि इस परिवार की भाषाओं के बोलने वाले आर्यजाति के हैं (२) आर्य शब्द का व्यवहार इस परिवार की शाखा हिंद-ईरानी के लिए अधिक उचित है क्योंकि इन दोनों देशों वाले अपने को आर्य कहते हैं और इस शब्द का निरन्तर प्रयोग अपने साहित्य में पाते हैं। पहला तर्क बिलकुल लचर है। यदि सामी हामी आदि भाषाओं के नामों से सामी आदि जातियों के विषय में भ्रम नहीं पैदा होता तो आर्य नाम से ही क्यों होने लगा? दूसरे तर्क में कुछ सार है। अवश्य ही भारत और ईरान में आर्य शब्द, परम्परा से मौजूद है और हम उसका गौरव भी मानते हैं। ईरान ने तो इस गौरव का प्रत्यक्ष प्रमाण फारस शब्द का त्याग कर और *ईरान अइराण आर्याणाम्* को प्रयोग में लाकर दे दिया है। पर हिंदी-ईरानी के लिये आर्य शब्द का प्रयोग बहुत उचित नहीं। अन्य शाखाओं के नाम उन देशों के नाम पर रक्खे गए हैं जिनमें वे मुख्य रूप से उपस्थित हैं। इसलिए जब तक भारत और ईरान को प्राचीन आर्य देश न स्वीकार किया जाय, तब तक इस नाम के बारे में क्यों दूसरी नीति बर्ती जाय? यूरोप में भी आर्य शब्द का गौरव माना गया है। हिटलर उसी का दम भरता था। जर्मनी में प्राचीन आर्य चिन्हों (स्वस्तिक आदि) की पूजा होती रही। इसके अलावा **इन्डोयूरोपियन** नाम **बड़ा** भारी है। **आर्य छोटा** है और उच्चारण

मुण्डा, सामी हामी, चीनी बाँटू आदि की तरह। इसीलिए जेस्पर्सन ने भी इसे पसन्द किया है। हमारी समझ में हमें सम्पूर्ण परिवार के लिए आर्य, हिंद-ईरानी शाखा के लिए हि० ई० और ईरानी के लिए ईरानी तथा भारतीय के लिए भारतीय या भारतीय-आर्य शब्दों का यथा-समय व्यवहार करना चाहिए। साथ ही साथ हमें यूरोपीय विद्वानों द्वारा किए गए आर्य, इ० यू० और इ० जं० नामों के प्रयोग और अर्थ पर भी ध्यान रखना चाहिए।

आदिम भाषा

इस परिवार की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं का सूक्ष्म अध्ययन करके यह कल्पना की जाती है कि इन भाषाओं का मूल-स्रोत कोई आदिभाषा रही होगी। संस्कृत, अवेस्ता, ग्रीक और लैटिन के सबसे पुराने लेखों द्वारा इन भाषाओं का जो स्वरूप मिलता है उससे ही इस आदिभाषा की कल्पना हो सकी है। इन भाषाओं की परस्पर तुलना की गई, और फलस्वरूप यह मालूम हुआ कि आदिम आर्य-भाषा में अमुक-अमुक ध्वनियाँ रही होंगी, अमुक-अमुक सन्धि-नियम रहे होंगे, संज्ञा सर्वनाम आदि के रूप इस प्रकार चलते होंगे, क्रिया के ये रूप रहे होंगे, इत्यादि। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी।

संस्कृत *पितर*, ग्रीक *पतॅर*, लैटिन *पतॅर*, अँगरेजी *फॉदर*, अथवा सं० *प्र*, ग्री० *प्रो*, लै० *प्रा*, गाथी *फ्रा*, या सं० *नपात्*, लै० *नेपोस्*, ज० *नेफ्यू* आदि शब्दों को देखकर यह अनुमान किया गया कि आदिम भाषा में *प्* ध्वनि रही होगी। इन उदाहरणों से मालूम होता है कि सं० *प्*=ग्री० *प्*=लै० *प्*=जर्मन समूह वाली भाषाओं में *फ्*। यही ध्वनि नियम बना। पर शीघ्र ही देखा गया कि सं० *स्फ्य*, लै० *स्पोलिओ* से ही सम्बद्ध प्राचीन जर्मन भाषा में *स्पेहोन्* शब्द है और अँगरेजी में *स्पाड*। निश्चित किया हुआ ध्वनि-नियम गड़बड़ा गया क्योंकि इन जर्मनी भाषाओं के शब्दों में सं० *प्*, *फ्* के समकक्ष न मिल कर *प्* मिली और उसमें संशोधन की जरूरत पड़ी इसी तरह सं०

भ् (*भरामि*), ग्री० फ् (*फेरो*), लै० *फ* (*फेरो*) अँ० *ब्* (*बेयर*) की बराबरी सिद्ध हुई, और आदिम भाषा में *भ* के अस्तित्व का अनुमान किया गया। पर स० बन्ध्, और *बा*,उ की तुलना में स० *ब्*, अँ० *ब* के बराबर मालूम पड़ी, यद्यपि अन्य उदाहरणों से स० *भ्* की बराबरी अ० *ब्* से और स० *ब्* की बराबरी अँ० *प्* के साथ सिद्ध होनी थी। कुछ और उदाहरणों की समीक्षा करके अन्तिम निश्चय यह हुआ कि अँगरेजी आदि जर्मनी भाषाओं की *ब्* आदिम की *भ्* के ही बराबर है, जहाँ संस्कृत की *ब्* अँ० की *ब* के बराबर दिखाई देती है, वहाँ निश्चय ही आदिम भाषा में *भ्* रही होगी जो बाद को संस्कृत के निजी नियमों के कारण उसमें *ब्* हो गई। इसी से स० बन्ध् के आदिम भाषा के स्वरूप *भेन्ध* की कल्पना हुई। इसी तरह पहले इस आदिम भाषा में *अ*, *इ*, *उ* (*ह्रस्व*) और *आ*, *ई*, *ऊ* (दीर्घ) मूलस्वरों की कल्पना की गई थी, पर बाद को यह निष्कर्ष निकला कि स० और अवेस्ती में के *अ* के समकक्ष लै० ग्री० में तीन स्वर *अ*, *ए*, *ओ* मिलते हैं। वे तीनों आदिम भाषा में रहे होंगे जो हि० ई० में एक रूप (*अ*) में पाए जाते हैं। इस प्रकार परस्पर तुलना से निर्धारित आदि भाषा का स्वरूप कल्पित ही है, अनुमान-सिद्ध, इसके बारे में निश्चयपूर्वक यह कह देना कि उस आदि भाषा में फलां शब्द की जोड़ी का फलां रूप था, असंगत है। हम केवल इतना कह सकते हैं कि तुलनात्मक अध्ययन से हम अनुमान करते हैं कि अमुक रूप रहा होगा। परन्तु इतना निश्चितप्राय है कि यह आदिम भाषा अवश्य वर्तमान थी और इसी की शाखाओं के रूप में हमें प्राचीन और अर्वाचीन भाषाएँ प्राप्त हैं।

ध्वनियाँ—प्राचीन भाषाओं के तुलना-स्वरूप जो आदिम भाषा निश्चित की गई है, उसकी नीचे लिखी ध्वनियाँ थीं।

कवर्ग—	(१)	*क्ʼ*	*ख्ʼ*	*ग्*	*घ्ʼ*
	(२)	*क्*	*ख्*	*ग्*	*घ्*
	(३)	*क्व्*	*ख्व्*	*ग्व*	*घ्व*

तवर्ग—	त्	थ्	द्	ध्		
पवर्ग—	प्	फ्	ब्	भ्		
ऊष्म—	स्					
अन्त स्थ (व्यजन)	य्	र्	ल्	व्	न्	म्
अत स्थ (स्वर)	इ	ऋ	लृ	उ	न	म
स्वर (मूल ह्रस्व)	अ	ऍ	ऑ			
स्वर (मूल दीर्घ)	आ	ए	ओ			
स्वर (मिश्र ह्रस्व)	अइ	अऋ	अलृ	अउ	अन	अम
	ऍइ	ऍऋ	ऍलृ	ऍउ	ऍन	ऍम
	ऑइ	ऑऋ	ऑलृ	ऑउ	ऑन	ऑम
स्वर (मिश्र दीर्घ)	आइ	आऋ	आलृ	आउ	आन	आम
	एइ	एऋ	एलृ	एउ	एन	एम
	ओइ	ओऋ	ओलृ	ओउ	ओन	ओम
स्वर उदासीन	अ (ə)					

प्रथम श्रेणी के कवर्ग का उच्चारण तालुस्थान की गौण सहायता से किया जाता था और सभवत क्य् ग्य् ग्य् घ्य् सा रहा होगा। द्वितीय श्रेणी का उच्चारण वस्तुत कठ्य था जो अपने (वर्तमान हिंदी के) कवर्ग के उच्चारण से भिन्न था और अरबी क़् आदि के समान। तृतीय श्रेणी के उच्चारण मे ओठो की गौण सहायता ली जाती थी, इनके उच्चारण मे कवर्ग ध्वनि मुख्य और व् ध्वनि बहुत ही अल्प और गौण रहती थी। ऊष्म स यदि दो स्वरो के बीच मे आती थी तो उसका उच्चारण सघोष (ज़्) होता था। अनुनासिक ध्वनियाँ व्यजनरूप मे म् और न् ही थी, पर अनुमान किया जाता है कि प्रथम श्रेणी के कवर्ग वर्णो के पूर्व न् का उच्चारण ञ् और बाकी दो के पूर्व ङ होता होगा। यही न् और म् शब्दो मे विशेष स्थान पर आने की अवस्था मे स्वर-रूप न म हो जाते थे। इसी प्रकार य् र् ल् व् भी शब्द में अपनी स्थिति के अनुकूल स्वरूप (इ उ ऋ लृ) धारण कर लेते थे। आदिम

भाषा के *म न्* की जगह संस्कृत म अ मिलता है। आदिम भाषा में ये अन्तःस्थ वर्ण तीन प्रकार से प्रयोग में आते थे—

(क) व्यंजनरूप—(१) जब अन्तःस्थ वर्ण शब्द के आदि में किसी स्वर या स्वररूप से प्रयुक्त हुए अन्तःस्थ वर्ण के पूर्व आता था, या (२) दो स्वरों के बीच में होता था, या (३) किसी व्यंजन और स्वर के बीच में आता था, या (४) स्वर और उदासीन स्वर के बीच में आता था।

(ख) मिश्रस्वर के द्वितीय भाग के रूप में, यह अवस्था तब होती थी जब अन्तःस्थ वर्ण स्वर और व्यंजन के बीच में आता था।

(ग) स्वररूप—(१) जब शब्द के आदि में किसी व्यंजन के पूर्व आता था या (२) जब वह दो व्यंजनों के बीच में आता था। इनके अलावा (३) कुछ विशेष परिस्थितियों में शब्द के आदि वाला अन्तःस्थ वर्ण उसके बाद में स्वर होने पर भी, स्वयं स्वर हो जाता था।

संस्कृत में अन्तःस्थ वर्णों की यह तीन तरह की स्थिति प्रायः वैसे ही बनी हुई मिलती है, जैसी आदिम आर्य भाषा में थी, उदाहरणार्थ (क) *यज्, युवा, इयाज, मध्य* (ख) *एति, वेद गौः, अवोचम्* (ग) (*इदम्, दिक, उक्तम्, श्रुतम्, ऋक्ष, मृतम्, वृक* (ज० वुल्फ), *पृथु* (ग्री० प्लतुस), *शतम्* (लै० कन्टुम्), *गतम्, मति* (गा० मुनस्), *हतम्*।

इतना ध्यान रखना चाहिए कि इ, उ, ऋ, ऌ मूल रूप में स्वर न थे किन्तु स्वर-स्थानीय अन्तःस्थ वर्ण।

उदासीन स्वर का ठीक उच्चारण आदिम भाषा में क्या था इसका पता नहीं। यूरोप के विद्वान् इसको श्वा (ə hwa) कहते है। संस्कृत और अवेस्ती में इसको हम-इ रूप में पाते है (*पिता, जनिता*)। यही उदासीन स्वर, यदि स्वर-रूप से प्रयुक्त अन्तःस्थ वर्ण और तदनन्तर प्रयुक्त अन्तःस्थ वर्ण दोनों के बाद आता था, तो यह उदासीन स्वर और इसके पहले वाला अन्तःस्थ दोनों मिलकर दीर्घ अन्तःस्थ स्वर हो जाता था जिसको हम संस्कृत

मे इ, उ, ऋ रूप मिलते है, और दीर्घ म न के स्थान पर आ मिलता है।

आदिम भाषा मे दो या अधिक व्यजन एक साथ आ सकते थे पर दो या अधिक मूलस्वर (अ आ, ऍ, ए, ऑ, ओ) एक साथ नही। अन्तस्थ वर्ण (स्वर या व्यजन के रूप से अन्य व्यजनो या स्वरो) के साथ मे आ सकते थे। सानुनासिक स्वरो (अँ, आँ, ईं, आदि) का अभाव था। समीकरण आदि सन्धि-नियम भी अस्तित्व मे थे। सामान्यत दो व्यजनो के सयोग मे, यदि दूसरा सघोष हो तो दोनो सघोष और यदि दूसरा अघोष हो तो दोनो अघोष हो जाते थे।

पदरचना—आदिम आर्य भाषा के पद मे तीन अश हो सकते थे—धातु, पूर्वप्रत्यय, परप्रत्यय (सुप् तिङ्)। इन अशो मे से धातु तो प्रतिपद मे अवश्य होनी थी, और बहुधा परप्रत्यय भी परन्तु पूर्व-प्रत्यय एक या अनेक सख्या मे धातु और परप्रत्यय के बीच मे रह सकते थे। उदाहरणार्थ *दिश्* (दिशा), *भुक्* (खाने वाला) मे केवल धात्वश है और वैयाकरणो ने ऐसे पदो मे धातु के साथ सुप् प्रत्यय के अस्तित्व की कल्पना की है और फिर उसके तत्कालीन लोप की, *सरित्*, *विद्वस्*, *मनस्* आदि मे दो अश है धातु और पूर्वप्रत्यय, इनमे भी परप्रत्यय के अस्तित्व और लोप की कल्पना करनी पडी है। *दिश*, *भुजौ* आदि मे धातु और परप्रत्यय मौजूद है, और *स्वान*, *मनसा*, *गम्यमानम्* आदि मे तीनो अश। आदिम भाषा मे उपसर्ग अर्थात् शब्द के आरभ मे धातु से पूर्व जुडने वाले अश नही होते थे, सस्कृत अवेस्ती ग्रीक और आर्मीनी भाषाओ मे पाया जाने वाला अ-(*अगच्छत*, *अगमत* आदि वाला) अन्य शाखाओ मे नही मिलता, इसलिए आदिम भाषा मे उसका होना निश्चित नही है। सस्कृत *प्र*, *परा* आदि उपसर्ग-सज्ञा वाले शब्द वस्तुत स्वतत्र पद थे और प्राचीन (वैदिक) सस्कृत मे उनकी स्थिति क्रिया से दूर भी रह सकती थी। आदिम आर्यभाषाओ मे मध्यविन्यस्त-प्रत्यय भी प्राय नही थे। केवल रुधादि कुछ गणो मे धातु की ध्वनियो के बीच में कुछ प्रत्यय-सा दीखता है

जैसे (रुध् रुणध्)। सारांश यह कि आदिम भाषा के पद में बहुधा धातु और परप्रत्यय दो अंश होते थे, और यदि उन दो के बीच में कुछ आ सकता था तो पूर्वप्रत्यय, एक या अनेक।

पद के इन तीन अंशों में से कोई भी एकाक्षर या अनेकाक्षर हो सकता था, किंतु किसी भी अंश में एक से अधिक मूलस्वर (अ ए ओ, आ ए ओ) नहीं हो सकते थे। हाँ एक ही अंश में एक मूलस्वर के साथ उदासीन स्वर या अन्तःस्थ स्वर रह सकता था। धातु का सादा रूप या अभ्यास-प्राप्त रूप पदों में आता था। अभ्यास करने में पूरी धातु या उसका थोड़ा अंश दुहराया जाता था। इसके अलावा धातु के स्वर-क्रम के अनुसार कई रूप हो सकते थे, उदाहरणार्थ संस्कृत के कृत, करति, कारयति इन तीन पदों में से पहले में धातु का स्वर केवल अन्तःस्थ (ऋ) है मूल नहीं, दूसरे में ह्रस्व मूलस्वर है और उसके साथ अन्तःस्थ, और तीसरे में दीर्घ मूलस्वर और उसके साथ अन्तःस्थ। धातु का कौन रूप पद में प्रयोग में आएगा, इस बात का निर्णय उसके बाद आने वाले पूर्वप्रत्यय को देख कर किया जाता है। उदाहरणार्थ कर्तृवाचक तृच (*तेर्) प्रत्यय के पूर्व धातु का पूर्ण रूप आता था (कर्ता, नेता, श्रोता) किंतु निष्ठा क्त (तो) प्रत्यय के पूर्व धातु का संक्षिप्त रूप (कृत, नीत, श्रुत)। पद के तीन अंशों में से उसी अंश में कुछ विकार हो सकता था जो परप्रत्यय के तुरन्त पहले हो, उसके पूर्व अंश स्थिर रहते थे, उदाहरणार्थ जनि ता, जनिता-रम् जनि-त्रा, जनि-तु' आदि में जनि-स्थिर है, विकार केवल तृच् प्रत्यय में हो सका है जो परप्रत्यय के पूर्व है। इसी प्रकार जिगामिषु-, जिगमिषव जिगमिषुणा आदि रूप भी उदाहरण हैं। संस्कृत के वैयाकरणों ने पूर्वप्रत्यय के दो विभाग किए हैं, कृत् और तद्धित। कृत् केवल वे पूर्वप्रत्यय हैं जो धातु के अनन्तर ही आते हैं और तद्धित वे जो कृदन्त आदि सिद्ध रूपों के बाद। जिनको यहाँ परप्रत्यय की संज्ञा दी गई है उन्हें संस्कृत वैयाकरण सुप तिङ कहते हैं। इनमें से सुप् कृदन्त या तद्धितान्त शब्दों के बाद और तिङ क्रियार्थ धातु के आए

है। परप्रत्यय आदिम भाषा मे विभिन्न रूप का होता था, कोई केवल एक स्वर, कोई केवल एक व्यजन, कोई केवल अन्त स्थ कोई एकाक्षर या द्वयक्षर या कोई केवल शून्य।

सज्ञा के बाद लगनेवाले परप्रत्यय क्रिया वाले परप्रत्ययो मे बिल्कुल भिन्न पाए गए है इससे सिद्ध होता है कि आदिम आर्यभाषा मे सज्ञा और क्रिया मे मौलिक भेद था। सज्ञा और क्रिया दोनो मे तीन वचन (एक, द्वि, बहु) थे। क्रिया मे तीन पुरुषो का भेद था। आदिम भाषा मे सज्ञा की आठ विभक्तियाँ थी और तीन लिग। नपुसकलिग का भेद केवल प्रथमा, द्वितीया और सबोधन विभक्ति मे था, अन्यत्र उसके रूप पुल्लिग के ही होते थे। आदिम भाषा की क्रिया मे काल की विचारधारा गौण थी, क्रिया किस प्रकार की गई और उसका फल कैसा था और किसको मिला इत्यादि बातो का ज्यादा ध्यान था।

सज्ञा (विशेषण और सर्वनाम सहित) और क्रिया के अलावा आदिम भाषा मे क्रिया-विशेषण, उपसर्ग और समुच्चयादि-बोधक अव्यय थे। इन सबके रूप स्थिर मिलते है। पर अनुमान है कि ये सब भी पहले विकारी रहे होगे, धीरे-धीरे अविकारी हो गए। वैदिक सस्कृत मे *स्वस्तये, स्वस्तिना* आदि रूप मिलते है, उत्तरकालीन सस्कृत मे *स्वस्ति* अव्यय हो गया, वैदिक सस्कृत मे तुमन्त शब्द की विभक्तियाँ होती थी (*गन्तवे* आदि), उत्तरकालीन मे वह अव्यय-रूप ही मिलता है। आदिम भाषा के पद पर सामान्य नजर डालने से भी इतना पता चल जाता है कि उसमे अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व का पूरा घाल-मेल था, अधिकाश शब्दो मे दोनो को अलग करके रख देना टेढी खीर है। इससे सिद्ध है कि आदिम आर्य भाषा श्लिष्ट योगात्मक अवस्था की थी।

आदिम आर्यभाषा मे तीन बाते और थी, समास, स्वर-क्रम और सुर। सुर के अलावा बलाघात का भी अनुमान किया जाता है। सुर पद के किसी भी (धातु, पूर्वप्रत्यय या परप्रत्यय) अश मे हो सकता था दो या अधिक पदो का समास करके अन्तिम पद को छोड कर

बाकी के पदों में परप्रत्यय का अंश उड़ा दिया जाता था। पदरचना में स्वर-क्रम बड़ी सहायता करता था। आदिम आर्यभाषा के तीन मूल (*अ, एँ, ओं* ह्रस्व और दीर्घ *आ, ए, ओ*) के स्थान पर संस्कृत में केवल अकार (ह्रस्व और दीर्घ) मिलता है, इसे स्वरक्रम समझने में कठिनाई पड़ती है। पर संस्कृत में स्वयं गुण और वृद्धि के रूप में एक प्रकार का स्वरक्रम मौजूद है। आदिम भाषा में स्वरक्रम के मुख्य स्वर थे *ए ओं।* ग्रीक और लैटिन में तीनों मूलस्वर पाए जाते हैं। ग्रीक पदों में एँ वर्तमानसूचक और *ओं* भूतकाल-सूचक है। आदिम भाषा में मूलस्वर वर्तमान सूचक पदों में और शून्य (मूल-स्वर-राहित्य) बहुधा भूतकालवाची पदों में रहता था, *बिभर्ति*, भृत उदाहरण है। स्वरक्रम के अनुसार ही श्रु (*क्'लु) के ये विभिन्न रूप मिलते हैं—

आदिम	संस्कृत	आदिम	संस्कृत
**क्'लॅउ-*	*श्रो-(त्र)*	**क्'लाेव-*	
**क्'लॅव्-*	*श्रव्(अ)*	**क्'लोउ-*	
**क्'लेउ-*	*(अ-) श्रौ-(षीत्)*	**क्'लाेव्-*	
**क्'लेव्*	*(अ-) श्राव्-(इ)*	**क्'लु*	*श्रु-(त)*
**क्'लाेउ-*	*(शु) श्रो-(य)*	**क्'लव्*	**(शु-)श्रुव*

आदिम भाषा का पद स्वयं अपना सम्बन्ध अन्य पदों से सूचित कर देता था, इसलिए समास के अलावा अन्यत्र पदक्रम का महत्व नहीं के बराबर था। ऋग्वेद में नपुंसक बहुवचन के साथ एकवचन की क्रिया बहुत स्थलों पर आई है, ग्रीक भाषा में भी नपुंसक बहुवचन के साथ एकवचन ही की क्रिया लगाने का नियम है। इससे जान पड़ता है कि ऐसे स्थलों पर बहुवचन केवल एक समूह का ही द्योतक होता था।

सिंहावलोकन करने से आदिम आर्यभाषा में, श्लिष्ट योगात्मक अवस्था, परप्रत्ययों का बाहुल्य और उनके द्वारा संबंध-तत्व का बोधन, पद के तीन अंश, धातु का अभ्यास, उपसर्ग और मध्य-प्रत्यय का अभाव, **समास स्वर क्रम और सुर ये मुख्य लक्षण दिखाई पड़ते हैं**

मूल निवासस्थान—वर्तमान और प्राचीन आर्यभाषाओ की विज्ञानी तुलना से ही आदिम आर्यभाषा की पुन रचना हुई है। अनुमान है कि उस ममय जब वह मुसगठित भाषा के रूप मे थी और उमकी बोलियो मे परम्पग मार्के के कोई भेदक लक्षण नही पैदा हुए ये तव अर्यभाषा-भापी किसी एक स्थान पर रहते थे। यह स्थान कौन था इस सवाल का हल करने के लिए अनेक विद्वानो ने विविध वाद उपस्थित किए है। भारतीय आर्य-ग्रथो मे कही यह उल्लेख नही मिलता कि आर्य कही बाहर मे आए। भारतीय आर्य की कल्पना मे अपने देश के अलावा स्वर्ग, पाताल, देवलोक आदि का अस्तित्व अवश्य था। देवताओ का निवास मेरु पर्वत पर था, वहाँ प्रकाश और सुख का मर्वदा अस्तित्व, और अन्धकार तथा दु ख का नितान्त अभाव रहता था। भारतीय आर्य प्राचीनना के पुजारी थे, उनको पितरो पर उतनी ही श्रद्धा थी जितनी देवो पर। मभव ह कि इस देव-भूमि और पितृभूमि की कल्पना मे आर्यो के आदि देश की झलक हो। भारतीय विचारधारा के अनुमार आर्यों के आदि देश का प्रतिबिम्ब मभवत उनकी आदि सृष्टि की कल्पना मे भी छिपा हुआ हो। कहते है कि मनुष्य का प्रथम सृजन त्रिविष्टप (तिब्बत) मे हुआ। जो हो, मेरु पर्वत का हमे पता नही, तिब्बत मालूम है। वैदिक सहिताओ मे पुरानी ऋचाओ मे सप्तसिधु प्रदेश का और उनकी अपेक्षा अर्वाचीन ऋचाओ मे और पूर्व के प्रदेशो का उल्लेख मिलता है। इसी आधार पर सर्वश्री अविनाशचन्द्र दास और मम्पूर्णानन्द ने भारत के ही उत्तरी भाग को आर्यों का आदि देश माना है। स्वर्गीय लोकमान्य बाल-गगाधर तिलक ने कुछ ऋचाओ के भारी-भारी दिन और रात तथा उषाकाल के वर्णन के आधार पर उत्तरी ध्रुव प्रदेश को आर्यो का आदि देश ठहराया था।

आदिम आर्यभाषा, सस्कृत, अवेस्ती (तथा प्राचीन फारमी), ग्रीक, जर्मनी, लैटिन, केल्टी, स्लावी, बाल्टी, आर्मीनी, अरबेनी, तोखारी और हिट्टाइट इन सभी भाषाओ का आदि स्रोत समझी जाती है

इसलिए आदि आर्य भाषा-भाषियो के तथा उनके मूलस्थान के विषय मे विचार करते समय इन सब का ध्यान रखना चाहिए न कि केवल भारतीय आर्यों का। इन सबको उचित महत्व देकर कुछ यूरोपीय विद्वानो ने कुछ सुझाव पेश किए है। आज से प्राय सौ साल पहले मेक्समूलर ने मध्य एशिया को मूलस्थान माना था। पर उनकी धारणा के विरोध मे तुरन्त ही वाद उपस्थित किए जाने लगे और एशिया मे नही बल्कि यूरोप मे ही कही मूलस्थान माना जाने लगा। यूरोप के पूर्वी हिस्से का कोई प्रदेश (हंगेरी और रूस के बीच का प्रदेश, पूर्वी या दक्खिनी रूस, उत्तरी जर्मनी, स्कैंडेनविया, पोलैंड, लिथुएनिया आदि) आर्यों का आदि देश था यह वाद बहुत दिनो से चला आ रहा है। अपने देश को आर्य-मूलस्थान साबित कर देने मे देश-प्रेम और स्वजाति-प्रेम की कुछ अनुचित अधिकता भी किसी-किसी वाद की तह मे दिखाई पडती है। इतिहास म आर्य जाति का आविर्भाव अन्यो (मिस्री, सुमेरी, अक्कदी, असीरी, चीनी आदि) की अपेक्षा अर्वाचीन है। अनुमान है कि आदिम आर्यों का प्रथम सपर्क उत्तरी मेसोपोटैमिया की तत्कालीन सभ्य जातियो से, ईसा के पूर्व तेईसवी या बाईसवी सदी मे हुआ, ईसा पूर्व २००० वर्ष के आस-पास उनकी स्थिति मेसोपोटैमिया मे पाई जाती है। प्राय १४०० ई० पू० के बोगाज कोई लेख मे आर्यों का प्रथम सर्वथा स्पष्ट उल्लेख है। इसमे मितानी जाति के शासक-वर्ग *मर्यनि* (स० *मर्य*), तथा इन्दर (इन्द्र), *मित्तर* (*मित्र*), उरुवन (*वरुण*), *अरुन* (*अरुण*) और *नासातिय* (*नासत्य*) देवताओ का नाम आता है। इससे स्पष्ट है कि एशिया माइनर मे उस समय आर्य जाति की कोई शाखा उपस्थित थी और इसी से प्रसिद्ध विद्वान सर्जी के इस वाद को, कि एशिया माइनर ही आर्यजाति का मूल-निवासस्थान था, बहुत कुछ बल मिलता है। आदिम आर्य भाषा के शब्दो की सुमेरी आदि अन्य भाषाओ की तुलना और परस्पर आदान-प्रदान से यह निष्कर्ष उचित मालूम पडता है कि हमें आदि देश की खोज यूरोप मे न करके कही एशिया मे ही करनी चाहिए इस सम्बन्ध मे प्रो०

सुनीतिकुमार चटर्जी ने ब्रैंडेस्टाइन के वाद को श्रेय दिया है। ब्रैंडेस्टाइन का मत है कि उराल पर्वत का दक्खिनी प्रदेश ही आदिम आर्यों का मूल-निवासस्थान था।

वीरा—इस मूलनिवासस्थान पर रहने वाले सुसगठित आर्यों को भाषाविज्ञानियो ने* *वीरोस्* नाम दिया है। स० *वीर*, लै० उईर, जर्म० वेर, प्राचीन आइरी फेर, ये सब शब्द एक ही मूल-शब्द के उत्तर-कालीन रूप है। ये वीर सभवत अपना आदि निवासस्थान छोडने के पूर्व एक ही जाति के थे, गोत्र आदि के रूप मे इनकी टोलियाँ रही होगी। उराल पर्वत के दक्खिन मे विशाल मैदान है, यही पर अश्व जगलो मे पाया गया। वीरो ने उसे शिक्षा देकर पालतू बनाया और यही उनके वाहन का साधन बना। अनुमान है कि यही पर वीरो की एक शाखा जो बाद को ईरान और भारत के आर्यों के पूर्वज के रूप मे इतिहास मे आई, रहती रही और शेष वीर पच्छिम की ओर जाकर पोलैंड मे पहले-पहल बस गए। पर यह भी सभव है कि ईरानी और भारतीयो के पूर्वज आर्य, तथा हिट्टाइट शाखा के पूर्वज, दक्खिन काकेशस पहाड और मेसोपोटैमिया पहुँचे और वहाँ से ईरान। और ईरान से एक शाखा भारत के सप्तसिन्धु प्रदेश मे आ गई। यह सब ईसा पूर्व २५००–२००० मे हुआ होगा, ऐसा अनुमान है।

वीरो की सबसे बडी खूबी अश्व था। इसके महत्त्व का जो वर्णन ऋचाओ मे है वह गाय का नही। इसको लेकर जब वीर पच्छिम और दक्खिन की ओर बढे होगे तब उनके सामने अन्य जातियो का ठहरना असभव हो गया होगा। मेसोपोटैमिया आदि मे उस समय बैल (*उक्षा*), ऊँट और गदहे का इस्तेमाल था। ये घोडे के मुकाबिले मे ठहर नही सके।

ब्रैंडेस्टाइन महोदय का मत है कि वीर सूखी चट्टानो वाली पहाडियो पर रहते थे। वहाँ हरे भरे जगल नही थ, थे केवल कुछ गुल्म और बाँझ आदि वृक्ष। जगली रीछ, ऊदबिलाव, भेडिया, लोमडी खरगोश, चूहा आदि कुछ जानवरो से वीर लोग अनभिज्ञ थे। पालतू जानवरो मे घोडा भेड बकरी कुत्ता सुअर और गाय से परिचय था

गाय उन्हे सुमेरी जाति से मिली। सुमेरी मे गाय के लिए गुद् शब्द है। इसी से आर्य *ग्वाउस् शब्द का सबंध है। कुछ चिड़ियो और मछली आदि जलजंतुओ को भी जानते थे। पूरब वाली शाखा अपने नए निवासस्थान मे ई० पू० १५०० तक भली प्रकार बस गई थी। पश्चिम वाली शाखा पोलैण्ड मे बसी और उसके कुछ समुदाय बल्कान पहाड़ियो पर होते हुए ग्रीस पहुँचे और वहाँ तथा आस-पास के देशो मे वे ई० पू० १००० तक अच्छी तरह बसे पाए जाते है।

वीरो के विषय मे विद्वानो का अनुमान है कि पशुपालन और शिकार इनकी जीविका के मुख्य साधन थे। खेती बारी इन्होने दक्खिन के प्रदेशो मे आकर इन प्रदेशो के तत्कालीन मनुष्यो से सीखी। तभी इन्हे गाय और बैल का महत्व मालूम हुआ। इनके मूलस्थान मे फलो के वृक्ष भी न थे। फलो का अधिकाधिक प्रयोग भी इन्होने इन्ही जातियो से सीखा। वीरो मे समाज का संगठन पितृ-प्रधान था। बहु-विवाह की प्रथा न थी। कई कुल मिलाकर गोत्र बनता था। इनका दिमाग ऊँचे दर्जे का था। संगठन अच्छा था। स्त्री पुरुष के परस्पर व्यवहार मे यथेष्ट संयम था। स्त्री जाति का समुचित आदर था। कन्या का विवाह पिता, बड़े भाइ आदि की इच्छा और आज्ञा से होता था, स्वेच्छा से नही। धर्म के क्षेत्र मे, इनको अलक्षित दैवी सत्ता पर विश्वास था और इसकी विविध देवशक्तियो के रूप मे कल्पना की गई थी। पृथ्वी लोक के परे द्यौर्लोक दैवी शक्तियो का निवासस्थान था। द्यौ पिता, सवित्ता, पृथ्वी, उषा आदि देवताओ की संख्या परिमित ही थी, मिस्री और सुमेरी जातियो की तरह इनके देवी-देवता बहुतेरे न थे। स्पष्ट ही है कि इस तरह के सुसंगठित और संयमी, शरीर, मन और आत्मा के हृष्ट-पुष्ट वीर जहा भी गए वहाँ अपनी शक्ति की स्थापना कर सके और अपनी वाणी का प्रभुत्व अन्य वाणियो पर स्थापित कर सके।

आदिम की शाखाएँ

आदिम आर्यभाषा की शाखाएँ कब फूट निकली इसका निर्णय कर पाना असंभव है अनुमान है कि संगठित अवस्था में भी इसकी

बोलियाँ रही होगी। भिन्न भिन्न बोलियो वाली टोलियाँ (गोत्र) मूलस्थान मे, अलग अलग कोई किसी समय, कोई कुछ बाद, कोई उसके भी बाद चल निकली होगी। मूलस्थान से हट आने पर अन्य भाषा-भाषियो के सम्पर्क मे इनकी भाषा मे विकार की गति किसी-किसी स्थिति मे प्रबल और किसी मे क्षीण रही होगी। जब इस नजर से हम आर्य भाषाओ पर विचार करते है तो सस्कृत आदिम भाषा के सबसे अधिक निकट मालूम पडती है। यद्यपि तीन मूल स्वर (अ, ऍ, ऑ) इनमे एक रूप (अ) मे मिलते है और *म* *न* के स्थान पर भी अ पाया जाता है तब भी अन्य ध्वनियो की और पदरचना की आदिम भाषा से पर्याप्त समानता कायम रही है। आधुनिक आर्य भाषाओ का विवेचन करने से हमे पता चलता है कि सभी शाखाओ में विकास की एक ही गति नही रही है। उदाहरणार्थ फारसी, विभक्तियो और लिंगभेद की दृष्टि से बहुत कुछ आदिम भाषा से दूर हट आई है, अपेक्षाकृत जर्मनी भाषा नजदीक है। लिथुऐनी मे अभी कुछ बरस पहले तक द्विवचन मौजूद था, यद्यपि अन्य सभी भाषाओ मे वह कभी का समाप्त हो चुका।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् श्लाइखर ने आदिम भाषा से, शाखाओ की दूरी के अनुपात से, कब कौन शाखा अलग हुई इसका हिसाब लगाया था। उनका अनुमान था कि स्लावी-जर्मनी भाषाएँ एक तरफ अलग हुईं और दूसरी ओर ईरानी-हिन्दी-ग्रीक-इटाली-केल्टी। पहली की बाद को दो शाखाएँ हुई, और दूसरी की एक ओर ईरानी-हिन्दी शाखा जा पडी और दूसरी ओर ग्रीक आदि अलग-अलग हो गई। वर्तमान भाषाओ की स्थिति देख कर इस प्रकार निश्चयपूर्वक कह देना नितान्त असगत है क्योकि यदि शाखाएँ बिना अन्य भाषाओ के सम्पर्क मे आए हुए स्वतन्त्र रूप से विकसित होती तब तो ऐसे निष्कर्ष पर पहुचना ठीक होता, परन्तु भाषा के विकास की परिस्थिति बडी जटिल होती है। कितने ही भीतरी और बाहरी कारण आकर उपस्थित हो जाते है जो अनुमान के क्षेत्र को बिल्कुल सकुचित कर देते है।

पदरचना के हिसाब से हिट्टाइट, आदिम आर्यभाषा के निकट है पर ध्वनि-समूह, वाक्य-विन्यास और शब्दावली की दृष्टि से उससे दूर है। समय की नजर से वह आदिम आर्य से अन्यो की अपेक्षा निकट है तब भी अंतर बहुत अधिक है, इसी कारण से विद्वानो का मत है कि हिट्टाइट आदिम की समकक्ष रही होगी, सन्तान नही।

आर्य भाषाओ की परस्पर तुलना करके, पहले उनको दो समूहो मे बाँटा जाता है, एक का नाम **केन्टुम्** और दूसरे का **सतम्**। ऊपर (पृ० ३२० पर) आदिम भाषा की ध्वनियो पर विचार करते समय हमने देखा है कि प्रथम श्रेणी के कवर्ग का उच्चारण तालव्य गौण सहायता से होता था। ये कवर्ग ध्वनियां कुछ भाषाओ मे तो स्पर्श वर्ण रह गई है, लेकिन अन्य कुछ मे सघर्षी या स्पर्श सघर्षी हो गई है। केन्टुम् (centum) एक भाषा-समूह की प्रतिनिधि भाषा लैटिन का शब्द है और **सतम्** दूसरे समूह की प्रतिनिधि ईरानी का। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते है।

आ० आ०	ग्रीक	इटाली	कल्टी	जर्मनी	स्लावी	बाल्टी	ईरानी	भार०
*क'मतोम्	*हेकटोन*	*केन्टुम*	*केन्ट*	*हड्रेड*	*सुतो*	*शितस्*	*सतम्*	*शतम्*
*क्लनौस	*क्लेकोस्*	*इन्क्लुतुस्*		*क्लु-*	*स्लोवो*		*स्रव*	*श्रव*
*वोइका'स	*ओइकोस्*	*वीकुस्-*		*वीरस*	*विसि*	*विएश*	*वीस्*	*वेश*
*गोनु	*गोनु*	*गेनु'*		*क्नी*			*जानू*	*जानु*
*गेनोस्	*गेनोस*	*गनुस*		*किन्*			*जनु*	*जनुः*
*वेघ''	*ओखोस*	*हित्*	*अर्-वेन्*	*वेगन्*	*वेजों*	*वेझ*	*वजैति*	*वहति*

§ (२) **केन्टुम्** और **सतम्** समूहो का परस्पर एक और भेदक लक्षण है। आदिम भाषा के कवर्ग की तृतीय श्रेणी के उच्चारण मे ओठो की गौण सहायता ली जाती थी। इस गौण सहायता का अवशेष केन्टुम् भाषाओ मे अब भी मौजूद है पर सतम् भाषाओ से इसका लोप हो गया है उदाहरण के लिये नीचे कुछ शब्दो को देखा जाय

आ० आ०	ग्रीक	इटाली	जर्मनी	भारतीय	ईरानी
*क्वोतरोस्	पोतेरास्		व्हेदर	कतर	
*क्विद्	ति	क्विद्	व्हिट	चिद	
*ग्वीवोस्	बिओस	वीवास्	किउस	जीव.	जीवो
*घ्वीमोस्	थेमास्	फॉर्मुस्	वार्म	घर्म	गर्म (गरम)
*स्नेइग्व	निफ्	निवम्	स्नइवस	स्निग्ध	—

प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी ऐस्कोली ने १८७० ई० मे केन्टुम् और सतम् भाषाओ का विभेद स्पष्ट रूप मे विद्वन्मडली के सामने रक्खा था। कुछ समय तक केन्टुम् पच्छिमी शाखा और सतम् पूर्वी शाखा समझी जाती रही पर बीसवी सदी के आरभ मे तोखारी निकल पडी जो मध्य एशिया की होते हुए अर्थात् पूरब मे स्थिति रखते हुए भी केन्टुम् शाखा की है क्योकि उसमे कवर्ग की प्रथम श्रेणी सघर्षी वर्णो मे परिणत नही पाई जाती, यद्यपि तृतीय श्रेणी के कवर्ग से विकसित ध्वनियो मे ओष्ठ्य उच्चारण का अभाव है। इसलिए पूर्वी और पच्छिमी शाखाये समझना असगत है। इस द्विधा विभाग के अनुसार केल्टी, जर्मनी, इटाली, ग्रीक, हिट्टाइट और तोखारी केन्टुम् भाषाएँ है तथा अल्बेनी, स्लावी, बाल्टी, आर्मीनी और हिंद-ईरानी सतम् है।

यह बात निश्चय-पूर्वक नही कही जा सकती कि केन्टुम् और सतम् का भेद आदिम भाषा मे बोली-स्वरूप मौजूद था या नही। और यदि था भी तो आज जो शाखाएँ इनके अन्तर्गत है उन्ही के मूलरूपो (विशिष्ट बोलियो) मे ही था या और कही। आरभ से ही यह द्विधा विभाग मान लेना असगत बात होगी। उदाहरणार्थ जर्मनी और आर्मीनी दोनो शाखाओ मे आदिम ब्, द्, ग्, का क्रमश प्, त्, क्, का रूप पाया जाता है पर इनसे दोनो मे आदि काल के किसी सबध की कल्पना कर बैठना निर्मूल है। अगले अध्याय मे केल्टी आदि शाखाओ का विवेचन किया जायगा।

तेंतीसवाँ अध्याय

आर्य परिवार की शाखाएं

केल्टी

इस शाखा की भाषाएँ आज से दो हजार साल पहले आयर्लैंड, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस के कुछ भाग, बेल्जियम, स्विटजरलैंड, जर्मनी, स्पेन, इटली, ग्रीस आदि यूरोप के विस्तृत क्षेत्र में बोली जाती थी। पर अब ये आयर्लैंड स्काटलैंड और इग्लैण्ड के वेल्ज और कार्नवाल प्रदेशों में ही पाई जाती है। आयर्लैंड में जब तक अंग्रेजो का प्रभुत्व रहा तब तक अंगरेजी सर्वेसर्वा रही, पर देश की स्वतन्त्रता के साथ-साथ देश की अपनी भाषा आइरी (गैली) भी फिर काम में आने लगी है। गैली का साहित्य ई० पाँचवी सदी तक का पाया जाता है।

केल्टी मे आदिम क्व् कही प् रूप मे (पेंक्व पम्प) और कही क् रूप मे (कोइक्) पाया जाता है।

केल्टी की इटाली शाखा से काफी समानता है, प्राय उसी प्रकार की जैसी भारतीय और ईरानी की परस्पर है। मुख्य समानताएँ ये है—

(क) ओकारान्त पुलिंग और नपु० सज्ञाओ की षष्ठी (सम्बन्ध) विभक्ति का प्रत्यय -ई।

(ख) क्रियार्थक सज्ञा का प्रत्यय -शन् (-tion)

(ग) कर्मवाच्य की क्रिया।

केल्टी के तीन वर्ग माने जाते है—

(क) गौली (Gaulish)

(ख) गोइडेली (Goidelic)

(ग) ब्राथानी Brython c)

गोइडेली के अन्तर्गत आइरी, स्काटी और गेली है तथा ब्राथानी के वेल्श, ब्रेटन और कार्निश।

गोडी ओर ब्राथनी मे आदिम आर्य का क्‌ प्‌ मे (*पेंक्वे- पम्प) किन्तु गोइडेली मे क्‌ (*पेंन्वे कोइक) मे परिणत हो गया है।

इटाली

इस शाखा की प्राचीन भाषाओ मे से लैटिन अब भी वर्तमान है। इसी से रोमास भाषाएँ (स्पेनी, पुर्तगाली आदि) निकली है। पर लैटिन की समकक्ष अन्य प्राचीन भाषाएँ इस शाखा मे रही होगी। कुछ लेखो से पता चलता है कि ओस्की और उम्ब्री भाषाए ईसवी पहली सदी तक वर्तमान थी। इन दोनो मे आदिम क्‌ व्‌ - प्‌ हो जाता है, लैटिन मे क्‌ रहती है (स० अश्व', लै० ऍकुउस ओ० एपो)।

लैटिन राम की भाषा थी। और रोमन साम्राज्य के साथ-साथ सारे यूराप मे फैली। इसके लेख २५० ई० पू० तक के मिलते है। यह साम्राज्य कई सदियो तक कायम रहा। उस समृद्धिकाल मे कुछ देशो मे वहाँ की देशी भाषाओ को परास्त करके यही वहाँ की भाषा बन बैठी। साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर केन्द्र से सम्पर्क शिथिल पड गया और इन विभिन्न देशो की लैटिन भाषाओ ने अलग-अलग स्वतन्त्र भाषाओ की सत्ता प्राप्त कर ली। पर साहित्यिक लैटिन बराबर साहित्य और धर्मकृत्यो मे, सस्कृत की भाँति, काम मे लाई जाती रही और आज भी रोमन-कैथोलिक सम्प्रदाय की धार्मिक भाषा है। लैटिन मे ग्रीक की तरह का रूप-बाहुल्य नही है, पर प्राचीनता की प्रचुर सामग्री तब भी मौजूद है।

रोमास शब्द का वास्तविक अर्थ है रोम की। अन्य भाषाओ की तरह साहित्यिक लैटिन और बोलचाल की लैटिन मे आरभ से ही अन्तर पड गया था। ईसवी प्रथम शती के अन्त तक तो साहित्यिक भाषा अपना प्रभुत्व जमाए रही पर बाद मे बोलचाल की भाषा का वह दबाए न रख सकी। धार्मिक क्रान्ति और बर्बरो के आक्रमणो ने भी साहित्यिक लैटिन को क्षति पहुँचाई विभिन्न प्रदेशो की बोलचाल

की लैटिन उन-उन प्रदेशों में खूब जम गई और ८वीं शती ई० तक साहित्यिक लैटिन की पराजय सम्पूर्ण हो गई। इसी समय में इटाली अथवा रोमांस भाषाओं का आविर्भाव माना जाता है। इनमें लैटिन के पूर्व बोली जाने वाली भाषाओं के अवशिष्ट चिह्न नगण्य है।

शब्दों के आदि के व्यंजन प्राय अक्षुण्ण रह गए है पर मध्य के व्यंजनों में काफी परिवर्तन और विकास हुआ है। उदाहरणार्थ सभी रोमांस भाषाओं में -ब- का परिणाम -व- हो गया है। प्राय शब्दों के अन्त्य -म्-न् का सर्वत्र ह्रास है।

पदरचना में दो बातें मुख्य है—(क) संज्ञा और क्रिया के रूपों में विकार और (ख) संयोग से वियोग की ओर प्रवृत्ति। सभी भाषाओं से नपुंसक लिंग दूर हो गया है। संज्ञा और विशेषण के एक वचन में एक ही विभक्ति रह गई है। क्रिया के रूपों में भी बहुत परिवर्तन हो गया है।

वाक्य में पदों के स्थान का महत्व बढ़ गया है और कर्त्ता-क्रिया-कर्म यह क्रम प्राय निश्चित हो गया है। अव्ययों की संख्या बढ़ गई है तथा क्रियाओं के अधिक कालों और क्रिया-विशेषणों एवं उपसर्गों की अधिकता से भाषाओं में एक विशेष निश्चितार्थत्व आ गया है।

नीचे लिखी आधुनिक भाषाओं का विकास लैटिन से ही हुआ है।

इटाली—इटली सिसिली, और कार्सिका में बोली जाती है। वर्तमान इटली राज्य की राजभाषा है। ९६४ ई० तक के लेख मिलते है।

रुमानी—रुमानिया, ट्रांसिलवेनिया और ग्रीस के कुछ प्रदेश में बोली जाती है। इस पर स्लावी और तुर्की का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। साहित्य १६वीं सदी में आरम्भ होता है।

प्रोवेंशल—फ्रांस के दक्खिनी हिस्से में ११वीं-१३वीं सदी में बोली जाती थी और अब भी एक छोटे से प्रदेश में वर्तमान है। गठन में इटली और फ्रेंच के बीच की है। ११वीं सदी तक का साहित्य मिलता है

फ्रेंच—फ्रास की भाषा है। ८४२ ई० तक पुराने लेख मिलते है। पेरिस की बोली ही राजभाषा बनी और राजनीतिक प्रभाव के कारण पिछली सदी तक समस्त यूरोप की आधुनिक संस्कृति की भाषा बनी रही।

पुर्तगाली—पुर्तगाल की भाषा है। १२वी सदी तक का पुराना साहित्य है।

स्पेनी—स्पेन की भाषा है। इसका भी साहित्य १२वी सदी तक का मिलता है।

पुर्तगाल और स्पेन के यहूदियो की एक विशिष्ट भाषा सेफार्डी है। इसका ढाँचा स्पेनी है पर अन्य बहुतेरी बाते सामी।

इटली, पुर्तगाल, स्पेन, फ्रास आदि के साम्राज्य के साथ-साथ इन देशो की भाषाएँ अमरीका और अफ्रीका के इन देशो के उपनिवेशो मे जाकर फैली है।

ग्रीक

इस शाखा के अन्तर्गत प्राचीनकाल मे ही बहुत सी बोलियाँ थी। इनमे ई० पू० ७वी - ८वी सदी तक के लेख मिलते है और इधर तेरहवी शती (ई० पू०) के भी अभिलेख मिले है। होमर के महाकाव्य इलियड और ओडेसी तो ई० पू० १००० के माने जाते है। प्राचीन बोलियो मे ऐटिक और डोरिक प्रधान थी। जो बोली कई बोलियो के क्षेत्र मे सर्वसामान्य भाषा की सत्ता प्राप्त कर सकी उसे कोइनी (Koine) कहते थे। ऐटिक सर्वसामान्य भाषा के रूप मे ई० पू० चौथी सदी से आगे बराबर काम मे लाई जाने लगी। परिणामस्वरूप अन्य बोलियाँ मर-मरा गई। आधुनिक ग्रीक इसी ऐटिक से विकसित हुई है और ग्रीस मे तथा पास के समुद्रो के द्वीपो मे और आस-पास के देशो मे यत्र-तत्र बोली जाती है।

ग्रीक और सस्कृत की तुलना करने पर बहुतेरे समान लक्षण पाए जाते है। ग्रीक मे मूल स्वर सुरक्षित पाए जाते है, सस्कृत मे मूल व्यजन। दोनो मे सुर है। सस्कृत मे विभक्ति-रूप सम्पूर्ण पाए जाते

है, ग्रीक में खण्डित। दोनों में अव्ययों का बाहुल्य है। समास और द्विवचन दोनों में है। दोनों में परस्मैपद और आत्मनेपद है। लकारों की समृद्धि संस्कृत में अधिक है पर ग्रीक में निष्ठा, तुमन्त, पूर्वकालिक क्रिया आदि की।

प्राचीन इतिहास में **थ्रेशी, फ्रिजी** और **मेसेडोनी** भाषाओं का भी पता चलता है। ये ग्रीक और आर्मीनी के बीच की रही होंगी। फ्रिजी आर्मीनी के सन्निकट समझी जाती है।

जर्मनी

इस नाम के अन्तर्गत अंगरेजी, जर्मन, डच आदि वर्तमान पश्चिमी यूरोप की कई भाषाएं आती है। 'जर्मनी' शब्द का सर्व-प्रथम प्रयोग केल्टों द्वारा मिला है जो प्राय ई० पू० पहली सदी का है और अनुमान है कि उन्होंने इस शब्द का प्रयोग 'पड़ोसी' के अर्थ में किया है। इनके एक ओर केल्ट और दूसरी ओर स्लाव जाति के लोग थे। निश्चय है कि ईसा के दो चार सदी पूर्व ही इस शाखा में विभिन्न बोलियां हो गई थी। इस शाखा का दूसरा नाम ट्यूटानी भी है। ट्यूटन शब्द से जर्मन, इंगलिश आदि सभी जातियों का बोध होता है। जर्मनी के उत्तरी भाग की भाषा के कुछ लेख रूनी लिपि में खुदे हुए ई० तीसरी सदी के मिलते हैं। यह लिपि इनकी निजी थी और ग्रीक और रोमन से भिन्न। इसके अलावा गाथी बोली में विशप उल्फिलस (३११—३८१ ई०) कृत इंजील का अनुवाद भी मिलता है। यही इस शाखा की सबसे पुरानी सामग्री है। इस प्राचीन सामग्री के आधार पर, आरम्भ से ही इस शाखा की अन्तर्गत भाषाओं के तीन समूह हो जाते हैं, उत्तरी पूर्वी और पश्चिमी।

उत्तरी समूह की प्राचीन नार्स या प्राचीन स्कैन्डीनेवी के लेख तीसरी सदी से ८वीं सदी तक के मिलते हैं। ११वीं सदी से दो शाखाएँ फूट निकली मालूम होती हैं। (क) पश्चिमी स्कैंडीनेवी जिसमें आइसलैण्ड की भाषा आइसलैण्डी और नार्वे की भाषा नार्वेजी है

और (ख) पूर्वी स्कैण्डीनेवी जिसमे स्वीडेन की भाषा स्वीडी और डेनमार्क की डेनी आती है। आइसलैण्डी के एड्डा नाम के गीत (१०००-१३५० ई० के) ससार भर मे प्रसिद्ध है।

पूर्वी समूह की प्राचीन बोली गाथी का उल्लेख हो चुका है। इसके अलावा कई और थी। ये सब अब केवल साहित्य मे ही मिलती है। पच्छिमी समूह के अन्तर्गत तीन शाखाएँ है, (क) **इङ्गलिश-फ्रीजी** (ख) **जर्मन** और (ग) **डच**।

इगलिश-फ्रीजी के अन्तर्गत दो भाषाएँ है, अँगरेजी और फ्रीजी। फ्रीजी बोलने वाले लोग हालैंड मे और जर्मनी के उत्तर-पच्छिमी भाग मे रहते है। इनकी बोली के ग्रथ १३वी सदी तक के पुराने मिलते है। फ्रीजी गठन मे अन्य जर्मनी भाषाओ की अपेक्षा अँगरेजी से सर्व-निकट है।

अँगरेजी का नाम इगलिश इसके बोलने वाले ऐंगेल (Angel) जाति के कारण पडा। सैक्सन, जूट, आदि अन्य सहकारी जातियो के साथ इन्होने ब्रिटेन पर ५वी ६वी सदी मे धावा किया और यहाँ के निवासियो को परास्त कर के उन पर अपनी भाषा का आरोप किया। अँगरेजी भाषा के सर्वप्रथम लेख, धर्म-ग्रथो की टीका के रूप मे ७वी सदी तक के मिलते है। गठन आदि विकास के अनुकूल अँगरेजी के तीन काल निर्धारित किए जाते है—(क) प्राचीन, प्राय ११वी सदी के अन्त तक, (ख) मध्य, १५वी सदी तक और (ग) आधुनिक, प्राय १५०० ई० से इधर। अँगरेजी की ही कई बोलियाँ है (Put उत्तरी पट्ट दक्खिनी पुट्ट), पर १६वी सदी से ही लन्दन और उसके आस-पास की बोली को राजभाषा का श्रेय मिलता रहा है और आज यही प्रमुख है। अँगरेजी आज बीस पच्चीस करोड मनुष्यो की बोली है, ब्रिटिश साम्राज्य और अमरीकी साम्राज्य के साथ साथ यह सब तरफ फैली है। इग्लैंड की और अमरीका की भाषाओ मे विशेष अतर है, प्राय इतना कि बोली से ही, बोलने वाला अमरीका निवासी है या इग्लैंड का रहने वाला यह बात जानी जा सकती है अन्य भाषाओ के क्षेत्रो म

फैलने के कारण इंगलिश के विभिन्न रूपांतर हो गए हैं। चीनी मनुष्य की अंग्रेजी को अँगरेज लोग पिटगिन इंगलिश और हमारी को बाबू इंगलिश कहते हैं। आधुनिक अंगरेजी गठन में सीधी सादी है और प्राय अयोगावस्था आकृति की ओर जा पड़ी है। उसके सीखने में जो कठिनाई है वह इस कारण से कि उसका अक्षर-विन्यास पुराना है, परिणामस्वरूप लिखते कुछ हैं और बोलते कुछ। इस दोष को मिटाने का कुछ प्रयास अमरीका में हुआ है पर बहुत सफल नहीं हो पाया। अपने प्रसार के कारण अँग्रेजी आज संसार की प्रमुख भाषा मानी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और राजनीति में अब इसका सर्वत्र प्रयोग होता है और इस क्षेत्र में इसने पिछले तीस चालीस साल में फ्रेंच को हटा भगाया है।

जर्मन—इस समूह की बोलियों का विभाग हाइ (उच्च) जर्मन और लोउ (निम्न) जर्मन के रूप में ८वीं सदी के आरम्भ से ही मिलता है। हाइ बोलियाँ दक्खिनी और पर्वतीय प्रदेश की हैं और लोउ उत्तरी की जो अपेक्षाकृत ऊँचाई में कम हैं। यह विभाग व्यंजनों के एक भेदक विकास के कारण किया जाता है प्राचीन जर्मन के प् (त्) ट् क् यदि दो स्वरों के मध्य में या शब्द के अन्त में किसी स्वर के बाद स्थित हो तो जर्मन में उनके स्थान पर क्रम से फ् (फ्फ), स (स्स्) और ह्, ह (ख् ch) हो जाते हैं। लोउ जर्मन (और अँगरेजी जो इस विकास के पूर्व ही यहा से ब्रिटेन जा पड़ी थी,) उस में यह नहीं होता।

उदाहरणार्थ—

हाइ जर्मन	*श्लाफेन*	*लासेन्*	*त्साइशे (खेन्) स्प्राखेन्*
इंगलिश	*स्लीप्*	*लेट्*	*स्पीक्*

इसी प्रकार प्राचीन जर्मन के शब्द के आदि में या किसी व्यंजन के उपरान्त स्थित प्, पट्, क् के स्थान पर हाइ जर्मन में क्रम से फ्, त्स् (ज) और क्ख् हो जाते हैं, यह विकास भी लोउ जर्मन और अँगरेजी में नहीं मिलता

उदाहरणार्थ—

हाइ जर्मन	*फुंड्*	*त्सेहन्*	*गा० किउ की*
इगलिश	*पॉउड्*	*टेन्*	*नी (ग्नी)*

जर्मन भाषाओ के व्यजनो के इस विकास को द्वितीय ध्वनि-परिवर्तन कहते हैं। पहला ध्वनि परिवर्तन कई सदी पहले हो चुका था। इसका उल्लेख आगे किया जायगा। प्राय ११०० ई० तक की हाई जर्मन को प्राचीन काल की, तब से १५५० ई० वाली तक को मध्यकाल की, और इधर वाली को आधुनिक कहते है। आधुनिक काल मे ही साहित्यिक और राजकीय जर्मन का विकास हुआ है। आधुनिक जर्मन भाषा भाषियो की सख्या ८ करोड से ऊपर है। जर्मनी के अलावा पास पडोस के चेकोस्लोवेकिया, स्विटजरलैंड, बेल्जियम आदि राज्यो मे जर्मन भाषा-भाषी बहुत लोग हैं। जर्मन भाषा मे विज्ञान और दर्शन सबधी बडा ऊँचा साहित्य है। इसकी तुलना ससार मे कोई साहित्य नही कर सकता। जर्मन लोग अपनी भाषा को डाइट्श कहते है जिसका अर्थ है 'जन भाषा'।

डच भाषा मुख्य रूप से हालैंड की भाषा है और इधर १६वी सदी से लगाकर आज तक बराबर इसकी उन्नति होती आई है। बेल्जियम की भाषा इससे बहुत मिलती-जुलती है।

जर्मनी शाखा की सभी भाषाओ पर सामूहिक रूप से विचार करने पर पता चलता है, कि ये सभी, आर्य परिवार की अन्य शाखाओ की भाँति, श्लिष्ट योगात्मक अवस्था से अयोगात्मक होती जा रही हैं, कोई कम, कोई ज्यादा। जर्मन की अपेक्षा अँगरेजी ज्यादा अयोगात्मक हो गई है। सभी मे बलाघात महत्वपूर्ण स्थिति को पहुँच गया है। आदिम आर्य मे सुर था, इस शाखा मे इसका अवशेष केवल स्वीडी मे पाया जाता है। अन्यत्र सब भाषाओ मे बलाघात है और सो भी प्रत्यय पर नही, धातवश पर।

जर्मनी शाखा का एक बडा महत्वपूर्ण लक्षण उसके कुछ ध्वनि-नियमो के रूप में है इन नियमों में सब प्रमुख ग्रिम नियम है सन

१८१९ में याकोब ग्रिम नामक विद्वान ने *डोइट्शेस् ग्रामाटिक* नाम का जर्मन भाषा का व्याकरण प्रकाशित किया। तीन साल बाद १८२२ में उन्होंने इस पुस्तक का दूसरा संस्करण निकाला। इस संस्करण में उन्होंने जर्मन भाषा संबंधी चन्द ऐसे नियम स्पष्ट और विशद रूप से विद्वानों के सामने रक्खे जिनसे जर्मन भाषा के विकास के समझने में बड़ी आसानी हुई। इन नियमों का संकेत कई साल पूर्व प्रसिद्ध डेनी विद्वान रास्क ने भी किया था। पर इनका स्पष्ट अभिधान ग्रिम ने ही किया, इसलिये ये ग्रिम के नाम से प्रसिद्ध हुए।

ग्रिम-नियमों के अनुसार जर्मनी शाखा में ये परिवर्तन हुए—

(क) आदिम आर्य भाषा के क् त् प् के स्थान पर क्रम से, ख (ह) थ् फ्

(ख) „ ग् द् ब् „ क् त् प

(ग) „ घ् ध् भ् „ ग् द् ब्

कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी—

आदिम	संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	गाथी	अँगरेजी
*कर्द	हृद्-(धा)	कर्द्	कौर्द्	हेर्तो	हार्ट्
*त्रेयस्	त्रि	त्रेइस्	त्रेस	थ्रीस्	थ्री
*पोद्	पाद्	पोडस्	पेस	फोटुस्	फुट
*गेनोस्	जनुः	गेनोस्	गेनुस्	कुनि	किन्
*डेकं	दश	डेक	डेकेम्	तैहुन्	टेन
*स्लेउब्			लाब्रिकुस्	स्लिउपान्	स्लिप
*घेन् स्	हंस	खेन् (ख्वान्)	अन्सर	गन्स्	गूज्
*मेधु	मधु	मेथु	*मेद् (केल्टी)		मीड्
*भेरो	भरामि	फेरो	फ़ेरो	बैरान्	बेअर

ग्रिम द्वारा प्रतिपादित इस ध्वनि-नियम से जर्मनी शाखा के शब्दो मे के अधिकाश व्यजनो का समाधान हो गया, पर ग्रिम ने स्वय अनुभव किया था कि तब भी बहुतेरे अपवाद रह जाते है। इनमे से एक अपवाद यह था कि जहाँ अधिकाश आदिम ब् द् की जगह इस शाखा मे क्रम से प् त् मिलते है, वहाँ गाथी *बिउद*, *बिन्दान्*, *दास* आदि शब्दो मे आदिम ब् और द् की जगह ब्, द् ही पाये जाते है, प् त् नहीं। इस अपवाद का समाधान हर्मन ग्रासमन नामक, सस्कृत और ग्रीक भाषाओ के प्रसिद्ध विद्वान ने किया। इन्होने प्रतिपादित किया कि सस्कृत और ग्रीक के एक स्वकीय नियम के अनुसार, यदि आदिम भाषा मे धातु के आदि और अन्त दोनो स्थानो पर महाप्राण ध्वनि थी तो इन दो भाषाओ मे, एक महाप्राण के स्थान पर अल्पप्राण कर दी जाती थी। इस प्रकार गाथी *बिउद्* (स० *बोध्*) *बिन्दान्* (स० *बन्ध्*-) और *दास्* (स० *दस्*-) के आदि भाषा के रूप **भेउध्*- **भेन्ध्*-और **धीम्* की कल्पना की गई। सस्कृत और ग्रीक दोनो, आदिम भाषा की सर्वप्राचीन प्रतिनिधि है, इस बात से यह भी विचार उठा कि सभव है आदिम भाषा की ही दो अवस्थाएँ रही हो, (१) जब धातु मे दो महाप्राण रह सकते थे और (२) जब धातु मे एक ही महाप्राण सभव था। ग्रासमन द्वारा प्रतिपादित इस विवेचन को **ग्रासमन नियम** कहा जाता है।

ग्रिम-नियम के अनुसार आदिम क्, त्, प् की जगह जर्मनी शाखा मे ख् (ह्), *थ्*, फ् मिलना चाहिए, पर कुछ शब्दो मे क्रम से ग्, द्, व् मिलते है। इस अपवाद का समाधान कार्लवर्नर ने किया, और इसलिए इस ध्वनि-नियम को **वर्नर-नियम** कहते है। इसके अनुसार आदिम आर्य क्, त्, प् यदि शब्द के आद्यक्षर हो तो जर्मनी शाखा मे अवश्य *ख*, *थ*, फ्, हो जाते है। पर शब्द के बीच मे या अन्त मे आने पर ये तभी ख्, *थ*, फ् मे परिवर्तित होते है जब आदिम आर्य शब्द मे इनके अनन्तर पूर्व स्वरो पर सुर हो अन्यथा (अर्थात् सुर सान्तर पूर्व अथवा बाद मे होने पर) इनके स्थान पर ग् द् ब् (वास्तव मे ग् द् व्) हो जाते है। उदाहरणार्थ

आदिम	संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	गाथी	अँगरेज़ी
*युव्नकॉस्	युवश'		युवॅन्कुस्	युङ्-ग्-स्	यग्
*कं्मतोम्	शतम्	हेकतोन्	केन्टुम्	हुन्द्	हड्रेड्
*लेइप्	लिम्पामि	लिपरॅम्रो	लिप्पुस्	बिलीब्	बेलीफान्(लीव)
*सेप्तन्	सप्त	हेप्त	सेप्टेन्		सिबुन् सेवेन्

अनुमान है कि ऐसे उदाहरणो मे विकास का क्रम क् त् प्>ख्, थ्,फ् घ्- ध्, भ्>ग्, द, व्> ग्, द, ब्, रहा होगा।

ग्रिम आदि विद्वानो द्वारा प्रतिपादित इस विकास को ही जर्मनी शाखा का प्रथम ध्वनि-परिवर्तन कहते है। द्वितीय का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। यह प्रथम परिवर्तन ईसवी सन् की पूर्व की सदियो मे हो चुका था, द्वितीय प्राय ६०० ई० से आरम्भ होकर ८०० तक पूरा हुआ।

तोखारी

इस सदी के आरम्भ मे कुछ जर्मन विद्वानो ने मध्य एशिया के तुर्फान प्रदेश मे अनुसन्धान किया था। अन्य सामग्री के साथ-साथ उन्हे भारतीय लिपि मे लिखे कुछ ऐसे ग्रथ मिले, जिनकी भाषा अब तक की ज्ञात भाषाओ से भिन्न थी। पढने पर यह आर्य परिवार के केटुम वर्ग की साबित हुई। इस पर उराल-अल्ताई भाषाओ का भी प्रभाव पडा है। स्वरो की जटिलता कम हो गई है और स्वर-मात्रा छोड दी गई है। सन्धि के कुछ नियम संस्कृत के से है। सर्वनाम और संख्यावाची शब्द निश्चित रूप से आर्य है। आठ विभक्तियाँ है। क्रिया के रूपो मे जटिलता है। शक जाति की एक शाखा की यह भाषा थी। इस शाखा ने ई० पू० दूसरी सदी मे मध्य एशिया मे साम्राज्य स्थापित किया था।

अल्बेनी

इसके लेख १५ वी सदी ई० से पुराने नही मिलते बहुत दिनों

तक इसको स्वतन्त्र शाखा की सत्ता नही दी गई थी। पर ध्वनि-समूह और गठन दोनो से इसको स्वतन्त्र सत्ता देनी पडी। यह एड्रियाटिक सागर के पूरब वाले पहाडी प्रदेश की भाषा है और बोलने वाले केवल करीब १५ लाख है। शब्द-समूह अधिकतर विदेशी, ग्रीक लैटिन आदि भाषाओ से उधार लिया हुआ है।

हिट्टाइट

बोगाजकोई मे कीलाक्षर लेखो मे एक भाषा ऐसी मिली है जो पदरचना की दृष्टि से निश्चय ही आर्य परिवार की है। संज्ञा की छ विभक्तियां, शतृ रूपो के समान रूप, सर्वनामो की समानता और क्रिया के पुरुषो और वचनो मे रूप-विभिन्नता सभी बाते आर्य होने की पोषक है। शब्दावली अवश्य अधिकाश मे मेल नही खाती और ध्वनि-साम-जस्य की भी चूल कही कही नही बैठती पर इस भेद का कारण यही हो सकता है कि यह भाषा विषम परिस्थिति मे पड गई थी। हिट्टा-इट केन्टुम वर्ग की भाषा है। हिट्टाइट जाति का उल्लेख ऊपर किया गया है।

बाल्टी

बाल्टी शाखा के अतर्गत तीन भाषाएँ है प्रशियाई, लिथुएनी और लेटी। प्रशियाई अब जीवित भाषा नही है, पहले यह प्रशिया नाम के जर्मनी के एक प्रदेश मे बोली जाती थी। वहाँ अब जर्मन बोली जाती है। प्रशियाई साहित्य मे १५ वी १६ वी सदी की कुछ पुस्तके है। इन्ही से हमें इस भाषा का ज्ञान प्राप्त होता है।

लिथुएनी का भी साहित्य १६ वी सदी से पुराना नही मिलता पर इसका विकास इतने धीरे धीरे हुआ है कि इसके विविध रूपो की तुलना चौथी सदी की गाथो से कर सकते है। इसमे ग्रीक की तरह सुर अब भी विद्यमान है। द्विवचन के रूप भी है। यह लिथुएनिया राज्य की भाषा है जिसने पिछले महासमर मे स्वतन्त्रता प्राप्त की थी और अब रूसी (सोवियत राष्ट्रसघ में शामिल हो गया है

लेटी लैट्विया राज्य की भाषा है। यह भी रूस से जा मिला है। इसका भी साहित्य १६ वी सदी के पहले का नही मिलता। यह भाषा लिथुएनी की अपेक्षा अधिक विकसित है।

स्लावी

बाल्टी और स्लावी शाखाओ मे परस्पर काफी समानता है, विशेषकर सज्ञा के रूपो की और शब्दावली की। इसलिए कभी-कभी दोनो शाखाओ को मिलाकर बाल्टी-स्लावी कहते है। भाषा-विज्ञान की अध्ययन की दृष्टि से इन सबमे लिथुएनी ही प्रमुख है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

स्लावी शाखा के तीन विभाग किए जाते है, दक्खिनी, पूर्वी और पश्चिमी। दक्खिनी विभाग के अतर्गत बल्गेरिया की भाषा बल्गेरी, और युगोस्लाविया की सर्वो-क्रोटी है। बल्गेरी मे ९ वी सदी का इजील का अनुवाद मौजूद है। स्लावी शाखा का यही सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। प्राचीन बल्गेरी मे तीनो वचन मिलते है। आधुनिक बल्गेरी प्राय अयोगावस्था की है और शब्दावली मे बहुतेरे शब्द तुर्की, ग्रीक, रूमानी आदि भाषाओ से आ गए है। बल्गेरीभाषियो की सख्या कोई ३० लाख है। सर्वोक्रोटी का साहित्य इधर पिछली सदी मे ही बना है। बोलने वालो की सख्या करीब एक करोड की है।

पूर्वी विभाग का साहित्य ११ वी सदी तक का मिलता है। इसके अतर्गत कई भाषाए है। ये प्राय १२ वी सदी तक एकरूप थी। ये सब रूसी भाषाए है और उस महादेश के विभाग के अनुसार लघु-रूसी, श्वेतरूसी, और महारूसी कहलाती है। लघुरूसी (या रुथेनी) प्राय तीन करोड जनता की भाषा है और दक्खिनी रूस (उक्रेन) मे बोली जाती है। श्वेतरूसी श्वेतरूस नाम के अर्थात् पश्चिमतम प्रदेशो मे बोली जाती है। महारूसी को कभी-कभी केवल रूसी कहते है। यह रूस के प्रधान नगर मास्को से फैली और अब ससार की प्रमुख

भाषाओं में से है। बोलने वालों की संख्या दस करोड़ से ऊपर है। इसने १८ वीं सदी से समस्त रूस की सामान्य और राजकीय भाषा होना आरंभ किया।

पच्छिमी विभाग के अंतर्गत चेकोस्लोवाकिया की भाषा चेक और पोलैंड की पोली है। चेक के बोलने वाले करीब अस्सी-नब्बे लाख हैं, पोली के करीब दो करोड़। चेक का साहित्य १३ वीं सदी में और पोली का १४ वीं में आरंभ होता है।

आर्मीनी

आर्मीनी भाषा-भाषियों की संख्या कोई पचास लाख है। आर्मीनिया का ईरान से घनिष्ठ संबंध रहा है, ५ वीं सदी ई० तक ईरान का ही युवराज आर्मीनिया का राजा होता था। इस भाषा में दो हजार से ज्यादा फारसी शब्द हैं, अरबी काकेशी आदि के भी हैं पर इतने अधिक नहीं। इन्हीं कारणों से बहुत दिनों तक आर्मीनी ईरानी की केवल शाखा मात्र समझी जाती रही। पर गम्भीर अध्ययन के फलस्वरूप इसकी सत्ता स्वतंत्र शाखा के रूप में स्थापित हो गई है। संभवतः इसकी स्थिति ग्रीक और हिन्द-ईरानी के बीच की है। मेसोपोटैमिया के और काकेशस पर्वत के दक्खिनी भाग और काले सागर के दक्खिनी किनारे के बीच में स्थित प्रदेश की यह भाषा है। आर्मीनी भाषा का सबसे पहला ग्रंथ इंजील के शुभ संवाद (गॉस्पेल) का ९वीं सदी में किया हुआ अनुवाद है। इस पुस्तक की भाषा ९ वीं से भी दो-तीन सदी पूर्व की मानी जाती है। बोलियों में सर्व-प्रमुख स्तम्बूल की बोली है।

बाकी बची हिन्द ईरानी। इसका विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा।

चौतीसवाँ अध्याय

हिन्द-ईरानी शाखा

आर्य-परिवार की यह शाखा कई कारणो से महत्त्वपूर्ण है। इसी मे आर्यजाति का प्राचीनतम साहित्य मिलता है। ऋग्वेद संहिता को विविध विद्वान ३००० ई० पू० से १५०० ई० पू० तक रखते है। अवेस्ता ७०० ई० पू० का ग्रन्थ समझा जाता है। इन दो के मुकाबिले मे केवल ग्रीक भाषावाले होमर के महाकाव्य (ई० पू०१०००) ही ठहर सकते है। अन्य शाखाओ मे साहित्य-निर्माण बहुत बाद को शुरू हुआ। अनुमान है कि हिन्द-ईरानी शाखा के आर्य मेसोपोटेमिया होते हुए पूरब की ओर बढे। ई० पू० १४०० के बोगाजकोई लेख मे कई आर्य गोत्रो का उल्लेख पाया जाता है। प्राय १८०० ई० पू० तक सर्यन्नि, हरि, मन्द और कस्सि नाम के गोत्रो ने बाबेरु राज्य पर आधिपत्य प्राप्त करके कई सदियो तक शासन किया। कुछ गोत्र मेसोपोटेमिया मे न ठहर कर और आगे बढते हुए ईरान आए। इनमे परशु और मन्द गोत्र मुख्य थे। शक गोत्र वाले और आगे बढते हुए मध्य एशिया और दक्खिनी रूस पहुँचे। इनके अलावा भृगु, भरत, मद्र, कुरु आदि गोत्र ईरान से आकर सप्तसिन्धु प्रदेश मे बस गए।

हिन्द-ईरानी शाखा मे परस्पर कुछ ऐसे समान लक्षण है जिनके कारण हम इस शाखा की भाषाओ को अन्य आर्य भाषाओ से अलग कर सकते है।

(१) दोनो समुदायो मे तीन मूल स्वरो की जगह एक आकार ही मिलता है।

(२) दोनो मे उदासीन स्वर की जगह इकार है।

(३) अन्त स्वर र् (ऋ) ल् (लृ) का हिन्द-ईरानी मे अभेद

मिलता है, कभी कभी आदिम र् (ऋ) के स्थान पर ल् (लृ) यथा लै० रुन्करै स० लुचामि, और कभी ल् (लृ) की जगह र् (ऋ) यथा लै० लुपुस्, ग्री० लुकं स० वृक, अव० वह्र्को। विद्वानो का विचार है कि आदिम के यह दोनो अन्तस्थ हि० ई० मे एकरूप (र्, ऋ) हो गए और बाद को जो ल् (लृ) मिलता है वह इससे परकालीन परिवर्तन हुआ।

(४) इ, उ, र्, और क् के बाद आने वाला स् इस शाखा मे श् हो गया। और यही बाद को भारतीय मे ष् मे परिणत हुआ (स० वक्ष्यामि अव० वख्श्या, स० उक्षा गा० ओक्स, स० पितृषु ग्री० पत्रसि, स० स्नुषा, गा० अगरेजी स्नोरु।

(५) आदिम के प्रथम श्रेणी के कण्ठ्य स्पर्श हिन्द-ईरानी मे क्, ख्, ग्, घ् से श्, श्ह्, ज्, ज्ह् मे परिणत हुए। बाद को ईरानी मे ये स्, ज्, ज्ह् के रूप मे मिलते है और भारतीय मे श्, ज्, ह के रूप मे।

(६) ओष्ठ्य गौण सहायता वाले कण्ठ्य हि० ई० मे गौणत्व-विहीन पाए जाते है और यदि इनकी स्थिति इ, ए, स्वरो के पूर्व थी तो ये च्, छ्, ज्, झ् मे परिणत हो गए है।

ध्वनि-सबधी इन भेदक लक्षणो के अतिरिक्त पद-रचना सबधी दो बाते उल्लेखनीय है।

(७) एक तो स्वरात सज्ञाओ के षष्ठी बहुवचन का परप्रत्यय नाम और दूसरे,

(८) लोट् (आज्ञा) लकार के अन्यपुरुष मे परप्रत्यय -तु -न्तु।

ईरानी और भारतीय की प्राचीन अवस्थाओ मे इतना साम्य है कि एक मे थोडे से आवश्यक परिवर्तन कर देने से ही दूसरे रूप मे रूपान्तर हो जाता है। उदाहरणार्थ डा० बटकृष्ण घोष द्वारा अनुवादित, यस्न (१०८) का सस्कृत रूपातर देखे—

अव० यो यथा पुथ्रम् तउरुनम् हओमम् वन्दएँता मश्यो।
स० यो यथा पुत्र तरुण सोम वन्देत मर्त्य
अव० फ्रा आब्यो तनुब्यो हओमो वीसइते बएशजाइ।।
स० प्र सोमो विशते विशते भेषजाय

ईरानी और भारतीय उपशाखाओं के मुख्य भेदक लक्षण ये हैं।

(१) स्वर की मात्रा कहीं-कहीं ठीक नहीं बैठती, जैसे सं० ऋतुम् जव० रतूम्।

(२) अवेस्ती में स्वर-समुदायों का बाहुल्य पाया जाता है, सं० ए ओ की जगह *अए अओ* और ऐ औ की जगह *आइ आउ*।

(३) अवेस्ती में स्वर का अग्रागम (सं० *रिणक्ति* अव० *इरिनरिति*) और बाद के अक्षर के स्वर का पूर्व के अक्षर पर प्रभाव (सं० *भरति* अव० *बरइति*) अधिक पाया जाता है।

(४) ऋकार के स्थान पर अवेस्ती में अर मिलता है, *रा*, *र*, या, *अ*।

(५) अघोष अल्पप्राण (क्, त, प्) अवेस्ती में संघर्षी (ख्, थ्, फ्) हो जाते हैं (*क्रतु खतुश्*, *सत्य -हइत्या*, *स्वप्नम्-वफ्नम्*) और महाप्राण भी कभी-कभी (*सखा-हख*, *गाथा-गाथा*, *कफम्-कफम्*)।

(६) सघोष महाप्राण (घ्, ध्, भ्) अल्पप्राण (ग्, द्, ब्) परिणत पाए जाते हैं (*जघा-जंगा*, *धारयत्-दारयत्*, *भूमे-बूमे*)।

(७) शब्द के आदि का स् ह् (*सिन्धु-हिन्दु*, *सप्ताह-हफ्ता*) हो जाता है।

(८) ईरानी में ज़ ज़्ह कायम रह गए, भारतीय में इनकी जगह ज् और ह् हो गया है। (*ज़ानु —जानु*, *दहति- दज़्हेति*)।

(९) संस्कृत की पञ्चमी विभक्ति के एकवचन का प्रत्यय (-अत्) जो केवल अकारान्त संज्ञाओं में मिलता है, अवेस्ती में सब संज्ञाओं में मिलता है (*ज़्ननात्—रश थ्रात्*, *विश—वीसत्*, *द्विष्यत् त्विश्यन्तत्*)।

(१०) भारतीय शाखा में टवर्ग ध्वनियाँ हैं, ईरानी में बिल्कुल नहीं।

(११) भारतीय में लट् (वर्तमान) लकार के उत्तम पुरुष एकवचन में मि प्रत्यय का सर्वकाल प्रयोग मिलता है, ईरानी में केवल प्राचीन फारसी में, सो भी जहाँ-तहाँ ही (सं० *भरामि*, अव० *बरा*, प्रा० **फ़ारसी** *बरामिय*

ईरानी

हिन्द-ईरानी की उप-शाखा ईरानी मे काफी प्राचीन साहित्य रहा होगा। परन्तु दुर्भाग्य है कि इनके ग्रंथ दो बार जला डाले गए एक बार सिकदर द्वारा ३२३ ई० पू० मे और दूसरी बार अरब विजेताओ द्वारा ६५१ ई० पू० मे। प्राचीन चीजो मे जो बची है वे है पारसियो के धर्मग्रथ स्वरूप अवेस्ता और हख्मानी बादशाहो के छठी सदी ई० पू० के शिलालेख। इन्ही मे प्रसिद्ध शाहशाह दारा के, बहिस्तून पहाडी की चट्टानो पर खुदाए हुए, ससार-प्रसिद्ध प्राचीन फारसी के लेख है। ईरानी की दो उपशाखाएँ प्राचीन काल से ही मिलती है, (क) परशी (फारसी) और (ख) अवेस्ती। पहली पच्छिम भाग की और दूसरी पूरब की है।

फारसी—इसमे हख्मानी बादशाहो के लेख मिलते है। ये कीला-क्षरो मे खुदे हुए है। इसी भाषा का कई सदी बाद वाला रूप पह्लवी है। इसमे अवेस्ता की टीका है। इसकी एक शैली म सामी शब्दो का आधिक्य है जिसे हुज्वारेश कहते है, दूसरी मे सामी शब्दो का नितान्त अभाव है जिसे पाजन्द या पार्सी कहते है। आधुनिक फारसी का साहित्य ई० ९ वी सदी से मिलता है। आकृति मे यह बहुत अयोगात्मक हो गई है और सीधी सादी है, सीखने मे सरल, सुनने मे मधुर। भारत-वर्ष मे अँगरेजी आधिपत्य के पूर्व कई सदियो तक यह राजभाषा रही। इसी कारण इसके बहुतेरे शब्द भारतीय भाषाओ मे विशेषकर सिन्धी, लहँदी, पजाबी और उर्दू शैली मे घुस आए है। फारसी मे स्वय अरबी भाषा के एक तिहाई के करीब शब्द है, और बहुतेरे फ्रेंच के भी।

अवेस्ती—पारसी धर्म की मूल पुस्तक का नाम अवेस्ता है। इसकी भाषा को अवेस्ती कहते है। इस पुस्तक की टीका जेन्द (पह्-लवी) मे है, इसलिए भाषा को कभी कभी जेन्द और मूल पुस्तक को जेन्दावेस्ता कहते है, अवेस्ता मे अधिकाश मे वैदिक सहिताओ की तरह सूक्त है। इसमे भी भाषा और भाव की नजर से कई श्रेणियाँ सकती अश गाथाएँ ह जिनका काल ई० पू० ७ वी

सदी तक जाता है। पर अवेस्ता के कुछ अर्वाचीन अंश ईसवी सन् के बाद की दो एक सदियों के भी मालूम पड़ते हैं। पारसी धर्म के प्रचारक जरथुश्त्र थे और देवता अहुर मज्दा। भाषा की दृष्टि से अवेस्ता प्राचीन फारसी से मिलती-जुलती है, पर बोली का भेद काफ़ी है। प्राचीन ईरानी की यही सामग्री है, अवेस्ता और प्राचीन फारसी के लेख।

मध्यकालीन इरानी की कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें कोई चालीस साल पूर्व मध्य एशिया (तुर्किस्तान) में प्राप्त हुई थीं। इनमें से दो-तीन ईसाई धर्म की हैं, शेष बौद्ध धर्म की। प्रायः ये सब ८वीं सदी की हैं, केवल एक ईसवी सन् के प्रारंभ के आस-पास की है। जिस भाषा में ये हैं उसको पश्चिमोत्तर प्रदेश की ईरानी मान सकते हैं। भाषा का नाम सोग्दी है, यह एक समय मचूरिया तक फैली हुई थी।

आधुनिक ईरानी में फारसी के अलावा, पश्तो, बलोची और पामीरी विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कुर्दी आदि और बोलियाँ भी हैं। पश्तो अफगानिस्तान की और भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा है। कुल बोलनेवाले कोई ५० लाख होंगे, जिसमें सोलह-सत्रह लाख भारतीय भाग में हैं। [illegible] अनुकरण पर लिखा हुआ १६ वीं सदी के इधर का साहित्य है। ग्रामगीत प्रसिद्ध हैं। बलोची बलोचिस्तान और सिन्ध के पश्चिमी हिस्से की भाषा है। इसमें कोई विशेष साहित्य नहीं। पामीरी की तराई में और हिन्दू-कुश पर्वत पर सर्वत्र अधिकांश में ईरानी बोलियाँ पाई जाती हैं। इस बोली समूह को पामीरी कहते हैं। गठन में ये कैस्पियन सागर के आस-पास बोली जाने वाली ईरानी बोलियों से मिलती हैं। इनके पड़ोस में भारतीय आर्य बोलियों के बोलने वाले पूरब और दक्खिन की ओर हैं।

दर्दी

हिन्द-ईरानी शाखा की एक उप-शाखा दर्दी भाषाएँ हैं। इनका क्षेत्र पामीर और पंजाब के बीच में पड़ता है इधर पिछले

तीस-चालीस साल में इन भाषाओं को ध्यानपूर्वक देखा गया है। गठन में ये इरानी और भारतीय आर्य के बीच की है, इरानी की अपेक्षा भारतीय के अधिक निकट। अनुमान है कि हिन्द-ईरानी शाखा की जब प्रशाखाएँ होने लगी तब, सबसे पहले इन दर्दी भाषाओं के मूल भाषा-भाषी अलग होकर पूरब की ओर फैले। बाद को जब भारतीय आर्य भाषा के मूल भाषी इधर बढ़े तब दर्दी उत्तर की ओर सीमित रह गये। अपने पुराण ग्रंथों में दरद (दराद) जाति का उल्लेख मिलता है। इन्हीं को पिशाच संज्ञा भी दी गई है। भारतीय वैयाकरण इनकी भाषा को स्वदेशी समझते आए हैं। पैशाची प्रकृति का विवरण प्राकृत व्याकरणों में बराबर मिलता है और इसका साहित्य भी भारतीय वाङ्मय में सदा समाविष्ट होता रहा है।

दर्दी भाषाओं के कई समूह हैं, खोवार, काफिरी और दर्दी विशिष्ट। समस्त दर्दी भाषाओं के बोलने वालों की संख्या १५ लाख है। खोवार समूह की प्रमुख बोली चित्राली है। दर्दी विशिष्ट समूह की कश्मीरी और शीना उल्लेखनीय हैं। कश्मीर प्रदेश संस्कृत साहित्य का केन्द्र रहा है। कश्मीरी में साहित्य-निर्माण १४ वीं सदी से आरंभ होता है। लाल देह (लल्ला) की कविताएँ प्रसिद्ध हैं। तब से बराबर साहित्य बनता आया है। दर्दी की अन्य किसी भाषा में कोई साहित्य नहीं।

दर्दी भाषाओं के अध्ययन से पता चलता है कि व्याकरण के प्राचीन लक्षण इसमें अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की अपेक्षा अधिक सुरक्षित हैं।

भारतीय आर्य

हिन्द इरानी की इस उप-शाखा को विवरण की सुविधा के लिए तीन भागों में बाँटा जाता है, प्राचीन युग, मध्ययुग और वर्तमान युग। मोटे तौर से प्रथम का समय प्रागैतिहासिक काल से ५०० ई० पू० तक, मध्य युग का ई० पू० ५०० से १००० ई० तक और वर्तमान का १००० ई० से इधर का मानना ठीक मालूम होता है। इन तीनों का अलग-अलग विवेचन करना उचित होगा

प्राचीन युग

तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अध्ययन से भारतवर्ष में आर्यों के आगमन का समय, १५०० ई० पू० के आस-पास कहा जाता है। आर्य यहाँ विभिन्न टोलियों में आकर बसते गए और यहाँ के द्रविड मुंडा आदि मूल निवासियों के संघर्ष से भाषा, रहन-सहन आदि में आवश्यक परिवर्तन करते रहे। प्राचीन युग की भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण ऋग्वेदसंहिता में मिलता है।

आदिम आर्य-भाषा से ऋग्वेदीय भाषा की तुलना करने से पता चलता है कि भारतीय शाखा के स्वरों में घोर परिवर्तन हो गया है। तीन मूल स्वरों के स्थान पर एक होने के कारण ह्रस्व, दीर्घ और मिश्र स्वरों की संख्या बहुत कम हो गई है। म न स्वरों के स्थान पर अ और अ (श्वा) के स्थान पर इ पाया जाता है। ऌकार का प्रयोग बहुत सीमित हो गया है। व्यंजनों में कवर्ग की एक ही श्रेणी का रह जाना, चवर्ग और टवर्ग का आविर्भाव तथा श्, ष्, ह् का आगमन भी महत्व का है।

ऋग्वेदसंहिता के सूक्ष्म अध्ययन से मालूम होता है कि उसके सूक्तों में जहाँ-तहाँ बोली-भेद है। प्रथम मंडल और दशम मंडल के सूक्तों की भाषा अपेक्षाकृत कुछ बाद की है। ब्राह्मण ग्रंथों, प्राचीन उपनिषदों और सूत्र ग्रंथों की भाषा क्रमशः विकसित हुई जान पड़ती है। पाणिनि के समय तक वैदिक वाङ्मय की भाषा (छन्दस्) और साधारण पढ़े जन की भाषा (भाषा) में काफी अन्तर पड़ गया था। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों का उल्लेख किया है। बुद्ध भगवान् के समय तक उत्तर भारत में उदीच्य, प्राच्य और मध्यदेशीय, ये तीन भाग भाषा के विभेदों के कारण हो गये थे।

प्राचीन युग के अन्तर्गत वैदिक और लौकिक दोनों भाग आते हैं। संस्कृत शब्द से कभी-कभी दोनों भागों का और कभी केवल लौकिक का बोध कराया जाता है। दोनों के मुख्य भेदक लक्षण इस प्रकार हैं

(१) धातु-रूपों की बहुलता—

वैदिक	लौकिक
इमसि, इम	*इम*
स्मसि, स्म	*स्म*
ईष्टये, ईष्टे, ईशे, ईशते	*ईष्टे*
श्रुधि, शृणुहि, शृणोधि	*शृणु*
शेये, शेते	*शेते*

(२) प्रातिपदिकों की विभक्तियों के शब्द-रूपों की बहुलता—

	वैदिक	लौकिक
प्रथमा ब० व०	*मर्त्याः, मर्त्यासः*	*मर्त्याः*
	ब्राह्मणाः, ब्राह्मणासः	*ब्राह्मणाः*
	देवाः, देवासः	*देवाः*
	रुद्राः, रुद्रासः	*रुद्राः*
तृतीया ब० व०	*देवेभिः, देवैः*	*देवैः*
	पूर्वेभिः, पूर्वैः	*पूर्वैः*
सप्तमी ए० व०	*अग्नौ, अग्ना*	*अग्नौ*

(३) लकार—

वैदिक में ११ लकार प्राप्त होते हैं। उसमें 'सभावना' तथा 'आज्ञा' के लिए लेट लकार भी है, जैसे *भवाति, पताति, तारिषत,* आदि। लौकिक में १० लकार हैं। उसमें लेट लकार नहीं मिलता।

(४) वैदिक में लुङ् लकार का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत अधिक मिलता है। वैदिक भाषा में इसका प्रयोग ५५१८ बार हुआ है। लौकिक में इसके प्रयोग कम हैं।

(५) प्रत्यय—

वैदिक में 'तुमुन्' (Infinitive) के रूप चलते थे। उसमें उसके अर्थ में ८-१० प्रत्ययों का प्रयोग प्राप्त होता है, जैसे *तवे, ध्ये,*

ध्यै, आदि मे *पातवे, गम ये, जीवगे* आदि। लौकिक मे इसके केवल एक रूप तुमुन् से *गतुम्, कर्तुम्, पठितुम* आदि।

(६) वैदिक मे लोट लकार के मध्यम पुरुष बहुवचन के प्रत्यय *त, तन, थन, तात्* से *शिणोत, सुनोतन, यतिष्ठन, कृणुतात* बनते है, जब कि लौकिक मे केवल *त* से *शिणुत*, आदि।

(७) वैदिक मे यु प्रत्यय से बने अनेक शब्द, जैसे *यज्यु, देवयु, वाजयु*, आदि लौकिक मे लुप्त है, और उसमे 'दस्यु' जैसे अकेले शब्द रह गए है।

(८) वैदिक मे अन्य गणो की धातुओ का प्रयोग अधिक मिलता है, और लौकिक मे भ्वादिगणी धातुओ की प्रधानता है तथा *दिवादि, चुरादि* गण की धातुओ का प्रयोग अधिक है।

(९) वर्ण—

वैदिक मे ६४ वर्ण प्राप्त होते है, जबकि लौकिक मे केवल ५०।

(१०) आत्मनेपद और परस्मैपद—

वैदिक मे आत्मनेपद और परस्मैपद दोनो मे पठित धातुओ मे से कई लौकिक मे केवल आत्मनेपद मे प्रतिष्ठित मिलती है।

(११) एकार्थक धातुएँ—

वैदिक मे एकार्थवाचक कई धातुएँ दृष्टिगत होती है, पर लौकिक मे ऐसा नही है, जैसे

वैदिक	लौकिक
ग्रभ्, ग्रह्	*ग्रह*
दाति, ददाति	*ददाति*

(१२) अनेक वैदिक शब्द लौकिक मे लुप्त हो गए है, जैसे—

दृशीक = *सुन्दर*
दर्शत = *रमणीय*
अमीवा = *रोग*

तृप = *घी*
असुर = *अमृत*

ये शब्द लौकिक मे प्रयुक्त नही होते।

(१३) अनेक वैदिक शब्द ऐसे है जिनके लौकिक अर्थो मे भेद हो गया है, जैसे—

शब्द	वैदिक अर्थ	
वध	*कोई भयकर शस्त्र*	*मार डालना*
न	*इव*	*नही*
अरि	*ईश्वर, निवास स्थान*	*शत्रु*
क्षिति	*गृह, मनुष्य*	*पृथ्वी*
मृडीक	*अनुग्रह*	*शिव का नाम*
ऋदूदर	*कोमलाशय*	*दयालु*

(१४) वैदिक का त्वान प्रत्यय लौकिक मे लुप्त हो गया है।

(१५) वैदिक के लुच् प्रेरणार्थक और रुच् गोत्रनार्थक रूप लौकिक से गायब हो गए है।

(१६) वैदिक मे सप्तमी के एकवचन मे ङि का लोप हो जाता है, जैसे *व्योमन्* मे। लौकिक मे *व्योमनि* मिलता है।

(१७) वैदिक मे *तिङन्त* परस्मैपदी उत्तम पुरुष बहुवचन *मसि* प्रत्यय से बनता है, जैसे *एमसि* (इण् धातु का रूप), *मिनीमसि*। लौकिक मे *मसि* नही है, उसमे *म* मे, उदाहरणार्थ *इम' मिनीम* बनते है।

(१८) वैदिक म *'त्यत्'* मर्वनाम प्राप्त होता है, लौकिक म यह लुप्त हो गया है। उसमे *'तत्'* मिलता है।

(१९) वैदिक मे *स्वस्ति* के रूप चलते थे। उससे बना *'स्वस्तये'* वैदिक भाषा मे मिलता है। लौकिक भाषा मे यह अव्यय है।

(२०) वैदिक मे उपसर्ग क्रिया से दूर रहते है, जैसे *प्र* बभ्रवे *श्वितिभाय श्वितीचे* लेकिन लौकिक मे वे क्रिया के ठीक पूर्व पाए जाते है

(२१) वैदिक मे उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन प्रकार के सुर मिलते है। लौकिक मे यह भेद उपलब्ध नही होता। वैदिक मे, जैसे 'वर' सुर से ही जाना जायगा कि वह सज्ञा है या विशेषण। वैदिक मे ग्रीक की भॉति सगीतात्मकता है, लौकिक मे यह सगीतात्मकता दूर हो गई।

(२२) वैदिक मे सुर के कारण समास मे भी भेद पड जाता है, जैसे यदि आद्योदात्त हो तो बहुब्रीहि, और यदि अन्तोदात्त हो तो तत्पुरुष, उदाहरणार्थ *इन्द्र-शत्रु*।

(२३) वैदिक मे कर्ता बहुवचन के साथ एकवचन की क्रिया देखी जाती है, जबकि लौकिक मे कर्ता के वचन के अनुसार ही क्रिया चलती है, जैसे वैदिक मे '*अभ्रा स्वादति*', इत्यादि।

(२४) वैदिक मे सन्धियॉ गुथी हुई है, जो अपने प्राचीन रूप को बताती है। लौकिक मे सन्धियॉ विशेष गुॅथी हुई नही है। वैदिक मे अभिनिहित, क्षेप, सप्रसारण अधिक प्रचलित थी। लौकिक मे स्वर, व्यजन और विसर्ग सन्धियो के बहुत सूक्ष्म नियम बने।

(२५) वैदिक मे विशेषण और विशेष्य मे विभिन्नता मिलती है। लौकिक मे उनमे सामजस्य प्राप्त होता है।

(२६) वैदिक मे युष्मद् और अस्मद् शब्द के सप्तमी और चतुर्थी के बहुवचन के रूप क्रमश युष्मे और अस्मे भी होते है। लौकिक मे ये युष्मासु और अस्मभ्यम् है।

(२७) वैदिक भाषा मे प्रथमा और सबोधन का द्विवचन '*आ*' प्रत्यय से, तथा इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दो के तृतीया एकवचन का रूप '*ई*' प्रत्यय से बनता है, जैसे '*अश्ना*' और '*सुष्टुती*'। लौकिक मे '*अश्नौ*' और '*सुष्टुत्या*' मिलते है।

(२८) वैदिक भाषा मे केवल वर्णिक छन्द मिलते है। लौकिक मे वर्णिक और मात्रिक दोनो प्रकार के प्राप्त होते है। वैदिक सस्कृत मे त्रिष्टुप्, गायत्री, अनुष्टुप्, जगती, आदि उपलब्ध है, और लौकिक मे वैदिक के उक्त चार मे से केवल अनुष्टुप और अन्य छन्द स्रग्धरा

शार्दूलविक्रीडित, उपजाति, वशस्थ, वसन्ततिलका, आदि मिलते है।

(२९) वैदिक मे लौकिक के य व के स्थान पर इय, उव मिलता है, जैसे

वैदिक	लौकिक
वीरियम्	*वीर्य*
तुवम्	*त्वम्*

बोली-भेद को मिटाने का सबसे सफल उद्योग पाणिनि का साबित हुआ। इन्होने उदीच्य भाग की भाषा को प्रश्रय दिया। इनके समय मे सस्कृत शिष्ट समाज के परस्पर विचार-विनिमय की भाषा थी। सस्कृत यह काम कई सदी बाद तक करती रही। प्राच्य प्रभाव के कारण कुछ सदियो तक सस्कृत का प्रभाव सीमित हो गया परन्तु मौर्य साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर सस्कृत भाषा ने फिर अपना आधिपत्य जमा लिया। सस्कृत का प्रथम शिलालेख रुद्रदाम का गिरनार वाला है जिसकी तिथि ई० १५० है। अब से बराबर प्राकृतो के प्रश्रय पाने तक सस्कृत हिन्दू राज्यो की राजभाषा रही। प्राय १२वी सदी तक इसको राज-दरबारो से विशेष प्रश्रय मिलता रहा।

सस्कृत का प्रभाव बराबर उत्तरकालीन मध्ययुग की भाषाओ पर पडता रहा है। क्या प्राकृते, क्या आधुनिक भाषाएँ सभी, सस्कृतकोष से अनायास शब्द लेती आई है। भारत से बाहर, चीन, तिब्बत, हिन्द-चीन, जावा, सुमात्रा, बाली, कोरिया और जापान तक इसका प्रभाव फैला है। यूरोप म जो प्रभाव लैटिन का, और अफ्रीका तथा एशिया के पच्छिमी भाग मे जो प्रभाव अरबी का पडा है, वही अथवा उससे भी अधिक सस्कृत का एशिया के बाकी हिस्से पर बराबर रहा है। भारतीय आर्य इसे देववाणी कहते है और आज भी यह तीस करोड हिन्दुओ की श्रद्धा की चीज है। बोलचाल की भाषा न होते हुए भी आज **जो श्रेय इसे प्राप्त है वह ससार की किसी भाषा को नही**

साहित्य की रक्षा के लिए प्राचीन युग मे जो युक्तियाँ काम मे लाई गई, वे सभ्य ससार के इतिहास मे अद्वितीय है। श्रुति की रक्षा के लिए पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ आदि कृत्रिम उपायो का सहारा लिया गया। भाव गरिमा की रक्षा सूत्रशैली से की गई। इन साधनो के द्वारा प्राचीन से प्राचीन भाषा की ठीक ठीक सरक्षा हो सकी।

प्राचीन युग मे भारतीय आर्य भाषा बराबर अन्य एतद्देशीय और विदेशी भाषाओ से जरूरत के अनुकूल शब्द लेती रही। इस बात की पुष्टि सस्कृत, ग्रीक, लैटिन और अवेस्ती के शब्दकोषो की तुलना से होती है। उणादि-सूत्रो से जिन शब्दो की सिद्धि की गई है उनमे से कुछ अवश्य अन्य भाषाओ से लिए हुए है। इस युग मे इस देश मे आर्य के अतिरिक्त द्राविड, मुडा आदि परिवारो की भाषाएँ जीती-जागती, सभ्य अवस्था मे थी। उनके शब्दो का आर्य भाषा मे आ जाना स्वाभाविक ही था। आर्य भाषा श्लिष्ट योगिक आकृति की थी, उस काल की यहा की अन्य भाषाएँ अश्लिष्ट थी। इस बात का भी असर आर्य भाषाओ पर पडा और मध्य युग मे हम उत्तरोत्तर श्लिष्ट अवस्था से हटने का प्रमाण पाते है। इसी प्रकार उच्चारण मे भी प्रभाव पडने के सबूत मिलते है। किसी अन्य आर्यभाषा मे मूर्धन्य वर्ण नही मिलते, पर भारतीय आर्य मे बराबर मिलते है और उत्तरोत्तर इनके अनुपात की वृद्धि होती जाती है। यह सच है कि मूर्धन्य ध्वनियाँ-दन्त्य ध्वनियो से ही विकसित हुई है पर इस विकास मे देश की परिस्थिति ने अवश्य सहायता की होगी।

मध्ययुग

जो परिवर्तन प्राचीन युग मे होने आरम्भ हुए थे वे इस युग मे अधिक बढे। सामान्य तुलना से पता चलता है कि इस युग के प्रारम्भ मे ही द्विवचन का और आत्मनेपद का ह्रास हो गया था। विभक्तियो मे षष्ठी और चतुर्थी का एक-दूसरे के स्थान पर प्रयोग, सज्ञा और सर्वनाम के परप्रत्ययों मे परस्पर व्यत्यय सख्यावाची शब्दों में नपुसक लिग

के रूपो की प्रमुखता और अन्यो का उत्तरोत्तर ह्रास, क्रिया के लकारो मे लुट् (अनद्यतन भविष्य), लङ् (अनद्यतनभूत), लिट् (परोक्षभूत) और लृङ् (क्रियातिपत्ति) के रूपो का प्राय सर्वांश मे अभाव और विधिलिंग तथा आशीर्लिंग का सर्वथा एकीकरण, क्रिया के रूपो म गणविभेद की और सज्ञा के रूपो मे व्यजनान्त की जटिलता की कमी, इत्यादि लक्षण मध्ययुग के आदिकाल की सामग्री मे भी मिलते है। ऐ, औ, ऋ, ऌ का अभाव और ऍ ऒ (ह्रस्व) का आविर्भाव, प्राय पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोडकर ष् का नितान्त अभाव और प्राच्य देश मे श्, ष्, स्, के स्थान पर श् तथा अन्यत्र इनकी जगह स्, विसर्ग का सर्वत्र अभाव, सयुक्त व्यजनो का प्राय बहिष्कार और अनेक स्वरो की एकत्र स्थिति, ये ध्वनि-सबधी लक्षण भी मिलते है। शब्दावली म भी देशी शब्दो की सख्या बढ गई है।

मध्ययुग को तीन कालो मे विभाजित किया जाता है, आदि, मध्य और उत्तर। आदिकाल प्राय ईसवी सन् के प्रारम्भ तक, मध्य ५०० ई० तक और उत्तरकाल १००० ई० तक माना जाता है।

आदिकाल के अन्तर्गत पालि और अशोकी प्राकृत है। ऊपर प्राचीन युग मे ही बोली-भेद के कारण उदीच्य, मध्य-देशीय और प्राच्य क्षेत्रो का उल्लेख किया गया है। प्राच्य क्षेत्र मे अधिक परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था। इतिहास से हमे पता चलता है कि बुद्ध भगवान् ने सस्कृतेतर भाषा मे अपने आर्य-धर्म का प्रचार किया। महावीर स्वामी ने भी यही किया था। इसका मतलब यह हुआ कि इन महानभावो के समय मे प्राच्य भाग (अर्थात् वर्तमान अवध और बिहार प्रान्त) मे सस्कृत की प्रतिष्ठा जनसाधारण मे बहुत न थी और उनकी बोलचाल की भाषा सस्कृत से काफी भिन्न हो गई थी। कोई भी प्रचारक ऐसी ही भाषा को अपनाता है जो जन-साधारण की समझ मे आती हो पर यह वह अवस्था थी जब सस्कृत और ये विभिन्न बोलियाँ परस्पर समझी जा सकती थी।

पालि को सिहलद्वीपी लोग मागधी कहते है पालि के ग्रथो म

भाषा के लिए मागधी शब्द का ही प्रयोग हुआ है और पालि का टीका (अर्थकथा) में भिन्न मूल पाठ के अर्थ में। यूरोपीय विद्वानों ने पालि शब्द का व्यवहार किया है और यही श्रेयस्कर है क्योंकि मागधी शब्द का प्रयोग मागधी प्राकृत के लिए जिसका उल्लेख आगे किया जायगा, सीमित रखना आवश्यक है। पालि शब्द का प्रारंभ में अशोकी प्राकृत के लिए भी प्रयोग किया गया था किन्तु अब यह हीनयान बौद्धधर्म के धर्म-ग्रंथों की भाषा के लिए ही काम में आता है।

पालि किस प्रान्त की भाषा थी, इस प्रश्न पर विद्वानों में परस्पर बहुत वादविवाद होता है। रीजडेविड्स का विचार था कि यह कोसल देश की भाषा थी, अन्यों ने इसे मगध देश की ठहराने की कोशिश की। गठन पर विचार करते हुए यह किसी पूर्वी प्रान्त की नहीं ठहरती। प्राकृतों के तुलनात्मक अध्ययन से यह पश्चिमी प्रदेश (मध्यदेश) की भाषा सिद्ध होती है और ऐसा समझा जाता है कि यद्यपि बुद्ध भगवान् ने किसी प्राच्य भाषा में उपदेश किया होगा तथापि उनके निर्वाण के सौ दो सौ साल बाद समस्त ग्रन्थों का अनुवाद किसी ऐसी मध्यदेशी भाषा में हुआ जो संस्कृत के समकक्ष स्टैंडर्ड हो चुकी थी। गठन में पालि बुद्धकालीन नहीं ठहरती, काफी अर्वाचीन (ई० पू० तीसरी सदी की) जान पड़ती है। जब अशोकी प्राकृत से उसकी तुलना करते हैं तब यह बात स्पष्ट हो जाती है।

पालि में बौद्धधर्म के मूल ग्रंथ, टीकाएं तथा काफी कथा-साहित्य, काव्य, कोष, व्याकरण आदि हैं। वर्तमान-कालीन सिंहल, ब्रह्मदेश, थाईदेश आदि में उसे वही गौरव प्राप्त है जो भारतवर्ष में संस्कृत को। इस साहित्य में धम्मपद, जातक आदि अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है।

पालि भाषा के सूक्ष्म निरीक्षण से पता चलता है कि इसमें जहाँ-तहाँ बोली-भेद के उदाहरण हैं। एक ही शब्द के अनेक स्थलों पर अनेक रूप मिलते हैं। मूल में एक भाषा है। स् का सर्वत्र अस्तित्व और श् का अभाव तथा र् का अस्तित्व और ल् से भेद, आदि लक्षण इस बात को पुष्कल रूप से प्रमाणित करते हैं कि यह पश्चिमी भाषा है त्रिपिटक क

भी सभी अश एक समय के लिखे नही मालूम पडते। शैली का काफी भेद है।

पालि ग्रन्थ भारत से सिहल गए। पौराणिक गाथा के अनुकूल यह माना जाता है कि अशोक के पुत्र महेन्द्र इन बौद्ध ग्रन्थो को वहा ले गए। बाद को भी आदान-प्रदान होता रहा। बुद्धघोष के समय ५वी (ई० सदी) मे भारत मे केवल मूलग्रथो के ही रह जाने का पता चलता है। वह अर्थकथा सिहल से लाए। वर्तमान युग मे हम भारतीयो को पालि का पुन ज्ञान यूरोपीय विद्वानो की कृपा से मिला है।

पालि मे कुछ लक्षण ऐसे मिलते है जिनसे हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते है कि इसका विकास उत्तर-कालीन सस्कृत की अपेक्षा वैदिक सस्कृत और तत्कालीन बोलियो मे मानना अधिक उचित है। तृतीय बहुवचन मे अकारान्त सज्ञाओ का *-एभि* प्रत्यय और प्रथमा ब० व० मे *-आस्* के विकल्प मे *आसः*, धातु (यथा *गम्*) और धात्वादेश (यथा *गच्छ्*) के प्रयोग म भेद का अभाव, अडागम (*हसि* *अहसीत्*) का प्राय अभाव, आदि बाते उदाहरण है। सस्कृत के *इह* के स्थान मे पालि *इध* पाया जाता है जो वैदिक-पूर्व भाषा का अवशेष समझा जाता है।

अशोकी प्राकृत—प्रियदर्शी राजा अशोक ने अपने शासनकाल के विविध सवत्सरो मे स्थान-स्थान पर स्तम्भो, चट्टानो, गुफाओ आदि मे 'धर्म' के प्रचार के लिए बहुतेरे लेख खुदवाये थे। इन लेखो मे 'अभिषेक से ८ वर्ष बाद, ९ वर्ष बाद, १० वर्ष बाद आदि' शब्दो मे उन लेखो का समय भी दिया हुआ है। भारत मे इस प्रकार विवाद-रहित तिथि पडे हुए न इतने पुराने लेख है न पुस्तके। इसलिए इन लेखो का अद्वितीय महत्व है। प्राय ये सब के सब २६२-२५० ई० पू० के है और भारत की सभी दिशाओ और कोनो मे पाए जाते है। इनकी भाषा का समष्टिरूप से नाम अशोकी प्राकृत है। इन लेखो के सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि इनमे उत्तर पच्छिमी (शाहबाजगढी, मनसेहरा), पच्छिमी (गिरनार मध्यदेशी पूर्वी (कालसी धौली जौगढ) बोलियाँ

हु और दक्खिनी भी। अनुमान है कि राजधानी से अर्ध-मागधी के किसी रूप मे लेख सब प्रान्तो मे भेजा जाता था और प्रान्त की बोली के अनुकूल उसमे परिवर्तन कर लिए जाते थे। राजधानी से जितनी ही दूर लेख पाए गए है, परिवर्तन की मात्रा उतनी ही अधिक होती गई है। मध्य-देशी के कोई लेख नही मिलते, इससे अनुमान है कि उस समय मध्य-देश मे अर्धमागधी समझी जाती थी। गिरनार के लेख सस्कृत भाषा और शौरसेनी प्राकृत के, अन्यो की अपेक्षा, अधिक निकट है।

अशोक के लेखो के अलावा और भी लेख प्राकृतो मे लिखे हुए पाए गए है। प्राय ये सभी मध्यकाल के गिने जाते है, केवल गोरखपुर जिले के सोहगौरा के लेख को प्रो० सुनीतिकुमार चटर्जी अशोक के पूर्व (ई० पू० चौथी सदी) का मानते है।

मध्ययुग के मध्य काल के अन्तर्गत जैन प्राकृते और महाराष्ट्री आदि साहित्यिक प्राकृते आती है। इस काल मे प्राचीन युग की भाषा मे भेद की मात्रा, मध्ययुग के आदि काल से भी अधिक बढ गई है। सयुक्त व्यजनो मे केवल (क) अपने अपने अनुनासिक के बाद उस-उस वर्ग का स्पर्श वर्ण, (ख) अनुनासिक या ल् के अनन्तर ह् और (ग) व्यजन की दीर्घमात्रा (स्स, त्त, प्प आदि) बाकी बचे है। दो स्वरो के बीच के स्पर्श का प्राय लोप होना मध्यकाल की विशिष्टता है (काक काओ, कति - कइ, रूप' रूओ)। प्रो० सुनीति कुमार चटर्जी का विचार है कि व्यजन का यह ह्रास पहले अघोष से सघोष (क्>ग्) फिर सघोष मे सघर्षी (ग्>ग़्) और तब लोप की अवस्थाओ के द्वारा आया है। इन सघर्षी ध्वनियो को व्यक्त करने का ब्राह्मी लिपि मे कोई साधन नही था इसी कारण प्राचीन लेखो मे इनका व्यक्तीकरण नही मिलता। विद्वानो का विचार है कि जैन ग्रथो में जो लघु प्रयत्नतर यकार (य) मिलता है यह ग् ज् द् की सघर्षी अवस्था का ही द्योतक है। विभक्तियो मे से चतुर्थी का प्राय सर्वांश मे लोप हो गया है, पचमी का प्रयोग बहुत कम मिलता है। इसी प्रकार क्रिया मे भी रूपबाहुल्य कम होता आ रहा है

जैन प्राकृतो मे प्रमुख आर्ष (अर्धमागधी) है। इसी मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अग (११) ओर उपाग (१२) आदि ४५ आगम ग्रन्थ मिलते है। जैन मत का प्रादुर्भाव उसी प्रदेश (कोसल, वाराणसी, मगध आदि जनपदो) मे हुआ जहा बौद्ध मत का। कहा जाता है कि इनके धर्मग्रन्थ कई सौ वर्ष तक मौखिक रहे। प्रथम बार इनका सकलन चन्द्रगुप्त मौर्य के काल (चौथी सदी ई० पू०) मे पाटलिपुत्र मे हुआ और इनका सम्पादन पाँचवी सदी ई० मे देवर्धिगणी ने किया। अन्य ग्रन्थो की अपेक्षा अगो की भाषा पुरानी है, तब भी ई० पू० चौथी सदी की भाषा किसी मे नही मिलती। गठन मे यह अर्धमागधी (शौरसेनी और मागधी के बीच की) जँचती है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अन्य (कथा आदि) साहित्य महाराष्ट्री (जैन महाराष्ट्री) मे है। दिगम्बर सम्प्रदाय का साहित्य जैन शौरसेनी मे है। इन दोनो का रूप आर्ष से पुराना नही है।

साहित्यिक प्राकृतो के नामो से प्रकट है कि ये विभिन्न प्रान्त की लोकभाषाएँ थी जो समय के अनुकूल साहित्यिक पदवी को प्राप्त कर अब तक बची रह सकी। इनमे सबसे पुरानी सामग्री शौरसेनी मे मिलती है।

शौरसेनी—सस्कृत के नाटको मे स्त्रीजन तथा मध्यम वर्ग के पुरुषो की भाषा यही है। इससे जहाँ यह सिद्ध होता है कि नाटक का सर्वप्रथम विकास शौरसेनी प्रान्त मे हुआ वहाँ साथ ही साथ यह भी मालूम होता है कि अन्य प्राकृतो की अपेक्षा शौरसेनी का प्रसार अधिक विस्तृत क्षेत्र मे था। अनुमान है कि यह सस्कृत की समकक्ष स्टैंडर्ड भाषा थी। इसमे ई० प्रथम सदी के लिखे हुए अश्वघोषकृत सारिपुत्र-पकरण आदि तीन रूपक पाए गए है। इनकी भाषा उत्तर-कालीन शौरसेनी से कुछ भिन्न है पर है शौरसेनी ही। शौरसेनी का मुख्य लक्षण तवर्ग के विकास मे पाया जाता है। दो स्वरो के बीच से, स० -त्-, -थ्-का शौ० मे -द-,-ध- हो जाता है, और दो स्वरो के बीच की -द्-, ध ध्वनियो में [illegible] होता, जैसे

गच्छति- गच्छदि, यथा >जधा, जलद >जलदो, क्रोध >क्रोधो।

प्राकृतो म शोरसनी के बाद महाराष्ट्री का नम्बर आता है। यह काव्य और विशेषकर गीति-काव्य की भाषा है। जो स्थिति ब्रज-भाषा की इधर कई सदियो तक रही है, वही महाराष्ट्री की ईसवी सन् के आरम्भ से कई सदियो तक रही। सस्कृत के नाटको में पद्य भाग यदि प्राकृत मे मिलता है तो महाराष्ट्री मे इसका साहित्य बहुत ऊँचा है। हालकृत गाथासप्तशती (गाहासत्तसई) और प्रवरसेन के सेतुबन्ध (रावणवहो) काव्य के टक्कर की कोई चीज सस्कृत वाङ्मय म भी नही मिलती।

महाराष्ट्री मे दो स्वरो के बीच मे आनेवाले अल्पप्राण स्पर्श-वर्ण का लोप और महाप्राण का ह हो जाता था, तवर्ग का भी। ऊपर उद्धृत शब्दो के महा० रूप *गच्छइ, जहा, जलओ* और *कोहो* है। इस लक्षण के कारण कुछ यरोपीय विद्वानो का विचार यह हुआ था कि यह काव्य की कृत्रिम भाषा रही होगी। पर निश्चय ही यह उनका भ्रम था। डा० ज्यूल ब्लाख ने मराठी का विकास महाराष्ट्री से होना साबित किया है। कालान्तर मे सभी भारतीय आर्य-भाषाओ मे स्वरद्वय के बीचवाले स्पर्श वर्ण गायब हो गए है। इससे इतना ही सिद्ध हो सकता है कि वैयाकरणो और नाटको की शौरसेनी सभवत उनकी महाराष्ट्री से, गठन मे पुरानी है। डा० मनमोहन घोष का विचार है कि महाराष्ट्री शौरसेनी की उत्तरकालीन शाखा है जिसे विद्वान् दक्खिन ले गए।

मागधी—यह मगध जनपद की भाषा थी। नाटको मे नीच पात्रो की भाषा यही है। सिंहल आदि बौद्ध देशो मे पालि को ही मागधी कहते और जानते है। पर इस मागधी प्राकृत मे उसका कोई भी वास्तविक सम्बन्ध नही। मागधी के मुख्य लक्षण—

(१) सस्कृत ऊष्म वर्णों के स्थान पर श् (*सप्त >शत्त*)।

(२) र की जगह ल् (*राजा लाजा*)।

(३) अन्य प्राकृतो की ज् की जगह य् और ञ्ज की जगह य्य यथा *याएदि, अय्य, मय्य कय्य*)

(४) 'य' की जगह 'ज', (पुञ्ज, लञ्जो)।

(५) अकारान्त संज्ञा के प्रथमा एकवचन में ओ की जगह ए, ([illegible]) आदि हैं। ये पालि में जहाँ-तहाँ अपवाद-स्वरूप मिलते हैं, लक्षण-रूप नहीं। मागधी प्राकृत में साहित्य नहीं मिलता, इसका अस्तित्व व्याकरणों और नाटकों में ही है।

अर्धमागधी—इसकी स्थिति शौरसेनी और मागधी के बीच की मानी गई है। यह मुख्य रूप से जैन-आदि धार्मिक साहित्य में काम में आई है। अनुमान है कि बुद्ध भगवान और महावीर स्वामी के समय में इसने यथेष्ट क्षमता प्राप्त कर ली थी। अशोक के लेखों की भी यही मूलभाषा समझी जाती है। इसमें मागधी के दो एक लक्षण, अकारान्त संज्ञा के प्र० एक० के एकारान्त रूप, जहाँ-तहाँ र के स्थान पर ल आदि मिलते हैं, पर इसमें स है, श नहीं।

पैशाची—इस प्राकृत में किसी समय अच्छा खासा साहित्य रहा होगा। गुणाढ्य की बृहत्कथा इसी में थी। यह अमूल्य ग्रन्थ अब अप्राप्य है। इसके संस्कृत भाषा में किए हुए दो संक्षिप्त अनुवादों, बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर, से ही बृहत्कथा के महत्व की सूचना मिलती है। पैशाची के लक्षण प्राकृत व्याकरणों में पाए जाते हैं। मुख्य यह है कि संस्कृत शब्दों में दो स्वरों के बीच में आनेवाले सघोष स्पर्श वर्ण वर्गों के तीसरे, चौथे (अघोष) (पहले, दूसरे) हो जाते हैं जैसे *गगन>गकन, मेघो>मेखो, राजा>राचा, वारिद >वारितो* आदि।

इन प्रधान प्राकृतों के अलावा नाटकों में जहाँ-तहाँ अन्य प्राकृतों के कुछ अवतरण और व्याकरणों में उनके कुछ लक्षण मिलते हैं। मृच्छकटिक में शाकारी, ढक्की और अन्यत्र शाबरी और चाण्डाली पाई जाती है। आभीरिका और अवन्ती का भी उल्लेख मिलता है। इनमें से प्रथम दो मागधी के ही कोई भेद हैं। शाबरी और चाण्डाली नामों से जाति-विशेष की भाषा का भास होता है पर ये भी मागधी की ही विशेष बोलियाँ थी। इसी तरह आभीरिका अहीर जाति की बोली रही होगी अवन्ती उज्जैन की प्राकृत थी

मध्ययुग के उत्तरकाल में ध्वनियों और व्याकरण का और भी ज्यादा विकास पाया जाता है। संयुक्त व्यंजनों के समीकरण के कारण जो व्यंजन का द्वित्व (दीर्घत्व) आदिकाल से प्रारम्भ हुआ था और मध्यकाल में चरम सीमा को पहुँच चुका था, अब एकत्व (ह्रस्वत्व) की ओर चलने लगा (त, क्त>त्त>त) और प्रतिकार स्वरूप उससे पूर्व का ह्रस्व स्वर दीर्घ होने लगा। यह प्रवृत्ति आधुनिक युग में पूर्ण रूप से पाई जाती है पर इसका आरम्भ मध्ययुग के उत्तरकाल से ही हो गया था। प्रत्ययों ष्य, स्य> स्स की जगह -ह (*मत हो<मतस्स मन्त्रस्य, तहिं तम्सि तास्मिन्*) मिलता है। प्रत्ययों के न, -णा, -म की जगह अनुस्वार भी आ गया (*राएँ राजेण राज्ञा, पुच्छउँ पृच्छामि।*) शब्द के अन्त का दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गया (*सवा पत्र, मानिनी माणिणि*) और -ओ, -ए का -उ, -इ पुत्तो -पुत्तु, घरे घरि। संज्ञा और क्रिया के रूपों की जटिलता और भी कम हो गई। प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों के रूपों में निकटता आ गई (पुत्तु एक० व० पुत्त ब० व०) इसी तरह षष्ठी और सप्तमी के एकवचन में (ष० पुत्तह ए० व० पुत्तहँ ब० व०, स० पुत्तहिं)। प्रतिकार रूप परसर्गों का प्रयोग जारी हुआ। क्रिया में भी प्राय वर्तमान काल (लट्) सामान्य भविष्य (लृट), आज्ञा (लोट्) के ही रूप पाये जाते हैं, अन्य सब लकारों के रूप गायब हो गए। भूतकाल के लिए निष्ठा का आश्रय सर्वांश में लिया जाने लगा।

उत्तरकाल की भाषा को सामान्यरूप से अपभ्रंश नाम दिया गया है। कालिदास की विक्रमोर्वशीय में अपभ्रंश के कुछ पद्य मिलते हैं। दण्डी (ई० ७वीं सदी) के समय से अपभ्रंश का काव्य में थोड़ा बहुत प्रयोग होने लगा था और यह हिंदी, मराठी आदि आधुनिक भाषाओं के प्रयोग के पूर्व तक जारी रहा। विद्यापति ठक्कुर ने जहाँ मैथिली में अपने अमरपदों की रचना की है, वहाँ साथ ही साथ कीर्तिलता सा सुन्दर ग्रंथ अपभ्रंश (अवहट्ठ) में लिखा है। प्राकृतसर्वस्व के रचयिता मार्कण्डेय ने अपभ्रंश का नागर उपनागर और व्राचड में विभाग किया

है। नागर गुजरात का, व्राचड सिन्ध का और उपनागर इन दोनों के बीच के प्रदेश का समझा जाता है। इतना निश्चय समझना चाहिए कि जिन प्रान्तों में प्राकृतें बोली जाती थीं उनमें ही उत्तरकाल में उस-उस प्रान्त के अपभ्रंशों का प्रयोग होने लगा। इन सब में शौरसेन अपभ्रंश का प्रयोग प्रायः समस्त भागों में साहित्यिक रूप में पाया जाता है। इसमें बड़ा अच्छा साहित्य, विशेषकर चरितों और कथाओं के रूप में है, जो धीरे-धीरे प्रकाशित हो रहा है।

मध्ययुग के उत्तर-काल तक आते-आते प्राचीनयुग की भाषा से यथेष्ट भेद पड़ गया था। प्राचीन युग में कुछ परिस्थितियों में दन्त्य व्यंजन मूर्धन्य होने लगे थे, यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती बढ़ती मध्ययुग के उत्तरकाल में चरम सीमा को पहुँच गई। प्राचीन में सुर था, इसके स्थान पर बलाघात मध्ययुग के आदि काल में ही आ गया था। यह बलाघात प्रायः उपधा के अक्षर पर पड़ता था। मध्ययुग में आर्य-भाषाओं और बोलियों में परस्पर शब्दों का आदान-प्रदान होता रहा। इसका सर्वोत्तम उदाहरण सख्यावाची शब्दों में मिलता है। द्राविड आदि अन्य देशी भाषाओं में भी शब्द निःसकोच लिए जाते रहे। जहाँ संस्कृत के भंडार से जब जरूरत हुई शब्द ले लिए गए और एक ही शब्द के तत्सम् और अर्धतत्सम् तद्भव रूपों की प्रचुरता हो गई, वहाँ संस्कृत ने भी मध्ययुग की भाषाओं से वट, *नापित*, *पुत्तलिका*, भट, भट्टारक, *छात* आदि कुछ शब्द ग्रहण किए। विदेशी भाषाओं से आर्य-भाषाओं में बराबर थोड़े-बहुत शब्द आते रहे हैं और यहाँ की ध्वनियों की चूल बैठ जाने पर घुल मिल गए हैं। इस ध्वनि-चूल के कारण ही द्राविड, मुडा आदि देशी परिवारों से अथवा विदेशी भाषाओं से आए हुए शब्दों को हम वास्तविक आर्य शब्दों से भिन्न नहीं कर पाते। हेमचन्द्र ने देशीनाममाला में ऐसे शब्दों की सूची दी है। व्युत्पत्ति-विज्ञान के तत्वों का प्रयोग करके हम उनमें से कुछ को आर्य शब्दों से सम्बद्ध कर सके हैं पर बहुतेरे सचमुच आर्य

नही है। यदि द्राविड मुंडा आदि के प्राचीन कोष होते तो सम्बन्ध खोजने मे आसानी रहती। उनके अभाव मे भी इस दिशा मे प्रयत्न जारी है।

वर्तमान युग

भारतीय आर्य शाखा के वर्तमान युग का आरभ प्राय १००० ई० से माना जाता है। इस समय तक प्राचीन युग की श्लिष्ट अवस्था बदलते-बदलते श्लेष से काफी दूर जा पड़ी थी और यह परिवर्तन बराबर जारी है। महत्ता की दृष्टि मे आर्य परिवार की भाषाएँ सर्वोपरि है। इनके बोलनेवालो की सख्या वर्तमान भारत मे २५.३ करोड है और इसके बाद आनेवाले द्राविड परिवार की ७.१ करोड है।

वर्तमान युग की भाषाओ म ध्वनियाँ प्राय वही है जो मध्ययुग मे थी। प्राचीन युग के उधार लिये शब्दो मे प्राचीन युग की विशेष ध्वनिया ऋ, ष, वर्तमान काल मे लिखी अवश्य जाती है, पर इनका उच्चारण शुद्ध नही होता। ऋ का उच्चारण उत्तर भारत मे रि (रिशि) और दक्खिन मे रु (रुशि) होता है, और ष् का श्। इसी प्रकार ज्ञ सयुक्ताक्षर का उच्चारण प्रदेशभेद मे ग्यँ, ग्यँ होता है, यद्यपि कुछ सुधारक ज्ञ भी बोलते है। पूर्वी प्रान्तो मे ब व दोनो ब ज य दोनो ज सुनाई पडते है। सस्कृत के सयुक्ताक्षर शिष्ट समाज के उच्चारण मे ज्यादातर ठीक ठीक उतर जाते है। इस युग मे भारतीय भाषाओ मे अरबी-फारसी के भी शब्द काफी तादाद मे आ गए है और इनमे आई हुई विदेशी ध्वनियो (क़, ख़, ग़, ज़, श़, द़, फ़) के स्थान पर, प्राय सब प्रदेशो मे देशी ध्वनियो को लाकर उच्चारण किया जाता है, केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश, सिन्ध, पजाब और सयुक्त प्रात के पश्चिमी भाग म इन ध्वनियो को ठीक-ठीक बोलने की कोशिश शिष्ट समाज द्वारा की जाती है। पर देश मे राष्ट्रीय भावना की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ यह प्रवृत्ति निर्बल पडती जा रही है

मध्ययुग तक तीन लिंग थे पर वर्तमान में नपुंसक का प्राय ह्रास हो गया है, केवल गुजराती, मराठी, सिंहली तथा पश्चिमोत्तर हिमालय की भदरवाही और स्त्राणी आदि कुछ बोलियों में इसकी थोड़ी-बहुत निशानी बाकी है। लिंग के ह्रास का कारण शायद इस देश की पूर्ववर्ती भाषाओं का प्रभाव है। तिब्बत ब्रह्मी समूह की भाषाओं में व्याकरणात्मक लिंग का अभाव ही शायद इस बात का कारण है कि बगाली, असामी और उडिया से लिंग-भेद गायब हो गया और नैपाली तथा बिहारी मे थोडा सा ही रह गया है। प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक का नया भेद भी जिसका अस्तित्व हिंदी, मराठी, गुजराती आदि मे प्राणिवाचक कर्म के बाद परसर्ग लगाने से और अप्राणिवाचक कर्म के बाद न लगाने से सिद्ध होता है, मुडा और द्राविड भाषाओ के प्रभाव का फल जान पडता है।

प्राचीन युग मे सज्ञा की आठ विभक्तियाँ थी। मध्ययुग मे इनमे बराबर कमी होती गई। वर्तमान युग मे केवल दो ही रह गई, एक विकारी और दूसरी अविकारी। सर्वनाम मे अवश्य (मुझ, तुझ, उस, किस) कुछ रूपो मे एक और विभक्ति बच रही है। साथ ही साथ परसर्गों का प्रयोग उत्तरोत्तर बढता गया है और सर्वनाम के (*मोर<मो+केर, मेरा, तेरा, हमारा, तुम्हारा*) कुछ रूपो मे वह सर्वनाम के रूप के साथ जा मिला है। जहाँ प्राचीन युग मे किसी सज्ञा के १७ रूप थे, वहाँ वर्तमान मे तीन ही बचे है।

क्रिया मे कर्मवाच्य के अलग रूप बिल्कुल गायब हो गए। *जा* सहायक क्रिया से उसका काम चला लिया गया। क्रिया के अर्थो की बारीकी अब सयुक्त क्रियाओ द्वारा व्यक्त की जाती है। प्राचीन युग के लकारो का प्रयोग उत्तरोत्तर घटता रहा। फलस्वरूप पुराने वर्तमान के रूप आजकल, आज्ञार्थ काम मे लाए जाते है और वर्तमान का बोध शतृ प्रत्यय वाले रूपो के साथ 'होना' सहायक क्रिया के रूपो को जोडकर होता है। भूतकाल का बोध सर्वांश मे निष्ठा के रूपो से और भविष्य का प्राय कृत्यों के रूपो से होता है पुरुष भेद भी प्राय

मिट-सा रहा है (*करगा, करेंगे, था, थी, थे, थी*)। जान बीम्ज ने प्राचीन युग की धातु के क्रिया-रूपो की सख्या ५८० बताई है। और अवधी की एक बोली (लखीमपुरी) मे किसी भी धातु के रूप अब केवल तीस-पंतीस से अधिक नही हैं।

इस प्रकार प्राचीनयुग की रूप-भेद की जटिलता बहुत कुछ समाप्त हो गई और हिंदी आदि आधुनिक आर्य भाषाएँ उसी प्रकार श्लिष्ट अवस्था से अयोगावस्था की ओर बढ आई है, जिस प्रकार यूरोप मे इनकी समकालीन अँगरेजी, जर्मन, फ्रेंच, आदि। भारतीय आर्य-भाषाओ मे परस्पर भेद की मात्रा भी प्राय उतनी ही है जितनी यूरोपीय भाषाओ मे परस्पर। भारत मे भेद और अलगाव, मुख्यरूप से लिपि-भेद के कारण दिखाई पडता है, यूरोप मे सौभाग्य से लिपि प्राय एक है।

भारतीय आर्य शाखा के अन्तर्गत नीचे लिखी भाषाएँ हैं—

इस तुलना के विचार से कि बीस वर्षों की अवधि मे किस किस भाषा के भाषी कितने बढे और कितने घटे, नीचे पहले १९३१ की जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार कोष्ठक मे बोलने वालो की सख्या दी गई है, और उसके बाद १९५१ की जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार विभिन्न भाषा-भाषियो की सख्या के विषय मे लिखा गया है।

लहँदी (८६ लाख), सिन्धी (४० लाख), मराठी (२ करोड ९ लाख), उडिया (१ करोड १२ लाख), बिहारी (२ क० ७९ लाख), बगाली (५ क० ३५ लाख), आसामी (२० लाख), हिन्दी (७ क० ८४ लाख), राजस्थानी (१ क० ३९ लाख), गुजराती (१ करोड ० लाख), पजाबी (१ क० ३९ लाख), भीली (२२ लाख), पहाडी (२८ लाख), रूमडी (जिप्सी), सिहली।

१९५१ मे (पाकिस्तान के बन चुकने के कारण) हिंदुस्तान मे लहँदी-भाषी बिल्कुल नही रहे, और सिंधी-भाषी केवल ७ लाख ५० हजार रह गए। मराठी-भाषी बढ कर २ करोड ७० लाख हो गए, और उडिया-भाषी १ करोड ३१ लाख बिहारी भाषियो ने अपने को

हिन्दी-भाषी ही माना, उसी प्रकार राजस्थानी-भाषियों ने भी अपने को हिन्दी भाषियों से अलग नहीं स्वीकार किया (अपने को हिन्दी से बिल्कुल पृथक्, राजस्थानी को मानने वाले केवल ६ लाख ५० हजार निकले), और इस प्रकार के परिवर्तनों के बाद हिन्दी-भाषियों की संख्या १४ करोड ९० लाख तक पहुंच गई। बगाली-भाषी केवल २ करोड ५१ लाख और पजाबी भाषी केवल ८ लाख ५० हजार रह गए। आसामी-भाषी ४९ लाख और गुजराती भाषी १ करोड ६३ लाख हो गए। और भीली-भाषियो की सख्या घट कर १२ लाख रह गई।

कुछ सामान्य लक्षणो के कारण भाषाविज्ञानी इनको समुदायो मे बाँटते है। लहदी सिन्धी का पश्चिमोत्तर समुदाय, मराठी का दक्खिनी, उडिया बिहारी, बगाली, असामी का पूर्वी, पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पजाबी, भीली का पच्छिमी और पहाडी का अलग समुदाय बनता है। पूर्वी हिन्दी की स्थिति भाषा की गठन के हिसाब से पच्छिमी और पूर्वी समुदाय के बीच मे पडती है। हबूडी और सिहली इस देश के बाहर गई हुई भारतीय आर्य भाषाएँ है।

लहदी—पजाब के पच्छिमी हिस्से की तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग की भाषा है। पच्छिम की ओर बोली जाने वाली पश्तो से भेद करने के लिए इसको कभी-कभी हिन्दकी भी कहते है। यह केवल बोलचाल की भाषा है। कुछ भी उल्लेखनीय साहित्य नही है।

सिन्धी—सिन्ध प्रान्त की भाषा है। साहित्य अभी तक नाम-मात्र का है, उल्लेखनीय ग्रन्थ केवल 'शाहजी रिसालो' है। वाचड अपभ्रश का एक लक्षण आदिम त् द का ट ड हो जाना सिन्धी मे मिलता है (हि० *तावा* सि० *टामो*, हि० देना सि० *डिअणु*)। सिन्धी लिपि अरबी का एक सशोधित रूप है। शब्दावली मे विदेशी शब्दो की मात्रा अधिक है।

मराठी—महाराष्ट्र प्रान्त की भाषा है। अच्छा-खासा साहित्य है जिसमे उत्तर भारत की तरह सत साहित्य का अच्छा स्थान है

नामदेव और ज्ञानेश्वर की कृतियाँ उल्लेखनीय है। अन्य आर्यभाषाओं की अपेक्षा इसमे टवर्ग ध्वनिया अधिक है। च के अलावा च ध्वनि भी है जिसका उच्चारण त्स होता है, इसी तरह ज के अलावा ज। यह ज विदेशी ज से उच्चारण मे भिन्न है।

पूर्वी समुदाय की भाषाओ मे कुछ सामान्य लक्षण है—भूतकाल की क्रिया मे -ल, भविष्य मे -ब् और लिंग का प्राय अभाव। अ का उच्चारण हिन्दी के पूरब से ही गोल होता-होता बगाली मे जाकर ओ हो गया है।

उड़िया—उड़ीसा प्रान्त की भाषा है। इसका एक शिलालेख १२६६ ई० का मिला है। साहित्य कोई चार सौ साल पुराना है।

बिहारी—तीन (मैथिली, मगही, भोजपुरी) बोलियो का समूह है। ये बिहार प्रान्त मे बोली जाती है और भोजपुरी संयुक्तप्रान्त की गोरखपुर और बनारस कमिश्नरी मे भी। मैथिली मे अच्छा खासा साहित्य है और प्राचीन साहित्य की दृष्टि से इसका महत्व किसी भी अन्य आधुनिक भाषा से कम नही। विद्यापति की कृतियां उल्लेखनीय है।

आसामी—आसाम प्रान्त की भाषा है, इसका भी साहित्य पुराना है, कोई ६०० वर्ष तक का। शंकरदेव का नाम उल्लेखनीय है। इस आसाम प्रान्त को स्वतंत्र सत्ता मिल गई है इसलिए असामी का उद्धार हो रहा है। अभी तक वह बगाली के बोझ मे दबी थी।

मणिपुरीभाषा—मणिपुर भारत का सुदूर प्रान्त तथा पहाडों से घिरा हुआ रमणीय प्रदेश है। असल मे यह भारत का सिंह द्वार है। इस प्रान्त की भाषा मणिपुरी है। इसको मीतरोल भी कहते है। इस भाषा को बोलनेवालो की आबादी करीब दस लाख है।

इसका साहित्य पुराना है। इस भाषा मे पुराण, इतिहास, नाटक, पद्य-गद्य आदि है। अपनी लिपि है। पर आजकल प्रचलित नही है। मणिपुरी बंगला-लिपि मे लिखी जाती है। कुछ प्रतिष्ठित लोग बंगला-लिपि के बजाय राष्ट्र-लिपि देवनागरी मे मणिपुरी भाषा लिखने का प्रयास कर रहे है

संस्कृत के श्रीमद्भागवत गीता, महाभारत, आदि ग्रथो का मणिपुरी मे अनुवाद किया गया। अब तुलसी-कृत रामायण का भी इसी भाषा मे अनुवाद करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

बगाली—बगाल प्रान्त की भाषा है। साहित्यिक भाषा को साधुभाषा कहते है। इसमे सस्कृत के शब्दो की प्रचुरता है। पर उच्चारण अपना निजी है। इस कारण लिखित शब्द और बोले हुए शब्द मे बहुत अन्तर पड गया है (जैसे लक्ष्मी लाक्खी)। साहित्य की दृष्टि से बगाली समस्त आधुनिक भाषाओ म सर्वोन्नत है। पुराने साहित्य मे चडीदास और वर्तमान मे रवीन्द्रनाथ ठक्कुर उल्लेखनीय ह।

हिन्दी—भाषाविज्ञानी इस शब्द को एक अर्थ म इस्तेमाल करते है, साहित्यिक दूसरे मे। यह बिहार, सयुक्त प्रदेश, मध्य प्रदेश, हिमालय के पहाडी प्रान्त तथा पजाब की साहित्यिक भाषा ह और इस प्रकार १५ करोड जनता की उच्च भावनाओ के व्यक्तीकरण का साधन है। गठन की दृष्टि से इसकी दो उपशाखाए है, पश्चिमी और पूर्वी। पश्चिमी के अन्तर्गत बॉगडू, हिन्दुस्तानी, बुदेली और ब्रज ये चार बोलियाँ है, और पूर्वी के अन्तर्गत दो, अवधी और छत्तीसगढी। ब्रज और अवधी मे उच्चकोटि का पुराना साहित्य है। ब्रज मे सूरदास और अवधी मे तुलसीदास अमर है। कबीर अद्वितीय है। हिन्दुस्तानी के दो साहित्यिक रूप है, हिन्दी (खडी बोली) और उर्दू। उर्दू की लिपि अरबी का एक सशोधित रूप है, हिन्दी की देवनागरी जिसका विकास ब्राह्मी लिपि से स्पष्ट है। उर्दू मे अरबी फारसी आदि (एशियाई) विदेशी शब्दो की प्रचुरता है, हिन्दी मे देशी शब्दो की। उर्दू सस्कृत क तत्सम शब्दो का बहिष्कार किए हुए है, हिन्दी उनको हृदय से लगाए हुए है। उर्दू का छन्द और साहित्यिक भावना विदेशी है फारसी की जूठन, पर हिन्दी की स्वदेशी।

राजस्थानी—इसमे कई बोलियाँ है जिनमे मारवाडी और मेवाडी प्रमुख है। ये राजपूताना और मध्यभारत मे बोली जाती है। चारण-साहित्य अच्छा है इन बोलियो में ए ल ध्वनियो का विशेष स्थान है,

और दो स्वरों के बीच की ल का उच्चारण ळ् होता है। इसी तरह-मराठी और गुजराती में भी ळ् है।

गुजराती—गुजरात, काठियावाड़ तथा कच्छ की भाषा है। गठन में राजस्थानी और पच्छिमी हिन्दी से बहुत मिलती है, मराठी से कम। हिन्दी के ऐ औ की जगह यहाँ ए ओ मिलते हैं जो हिन्दी के ए ओ से जरा अधिक विवृत हैं। गुजराती का विकास नागर अपभ्रंश से स्पष्ट है। साहित्य अच्छा खासा है। पुराने साहित्य के ग्रन्थकारों में नरसिंह मेहता उल्लेखनीय हैं।

पंजाबी—पंजाब प्रान्त की भाषा है। साहित्य पुराना नहीं है, पर अब पंजाबीपन की भावना से उन्नति करने लगा है। लिपि गुरुमुखी है।

भीली—इसकी बोलियाँ राजपूताना, मध्यभारत, खानदेश आदि में रहनेवाली कुछ जंगली जातियों की हैं। इनमें कोई साहित्य नहीं।

पहाड़ी—हिमालय के निचले भाग में बोली जाती है। इसके अन्तर्गत तीन बोली-समूह हैं मध्य (११ ला०, ७ हज़ार) पूर्वी (४ ला० १३ ह०) पच्छिमी (२३ लाख २६ ह०)। पच्छिमी बोलियाँ पच्छिम में शिमला पहाड़ों तक बोली जाती हैं। मध्य में गढ़वाली और कुमाउनी हैं। कुमाउनी में थोड़ा-सा साहित्य है। पूर्वी बोली नेपाली है। इसे खशकुरा या गोरखाली भी कहते हैं। इसमें इधर सौ साल में कुछ साहित्य हो गया है। नैपाल की यही राजभाषा भी है।

हब्ड़ी—भारत से कुछ जातियाँ ईसवी सन् के सौ-दो-सौ बरस पहले या बाद को पच्छिम की ओर चल पड़ीं। ये लोग ईरान, आर्मीनिया, सीरिया, ग्रीस आदि सभी यूरोपीय देशों में पच्छिम में वेल्ज़ तक पाए जाते हैं। इनकी भाषा की गठन भारतीय आर्य है, यद्यपि शब्दावली में अन्य भाषाओं में से बहुतेरे शब्द आ गए हैं। सेम्सन ने वेल्ज़ के इन लोगों की बोली का अच्छा अध्ययन किया है। इसमें संस्कृत के सघोष महाप्राण वर्णों की जगह अघोष मिलते हैं: घ ध भ की जगह ख थ फ

जिप्सी लोग अपना अस्तित्व अलग ही रख गये हैं। इनका पेशा हाथ देखना और छोटी-मोटी चीजें बेचना है। वेल्ज के जिप्सी रोमानी कहलाते हैं। यह शब्द हिन्दी के डोम शब्द से सम्बद्ध है।

सिंहली—सिंहलद्वीप की विशेषकर दक्खिनी भाग की भाषा है। यह भारत से ईसवी सन् के पूर्व किसी समय, शायद सौ-दो-सौ बरस पूर्व, गई। इसमें महाप्राण वर्ण अल्पप्राण हो गए हैं। इसमें श ष स की जगह स है, सो भी ह में विकसित हो रहा है। अनुमान है कि सिंहली किसी पच्छिमी प्रान्त (गुजरात काठियावाड) से सिंहल गई। इसके दो लक्षण मराठी से मिलते हैं। सिंहली के आदि रूप को एळु कहते हैं। सिंहलद्वीप से भाषा मालद्वीप भी गई।

भारत में इस प्रकार कई भाषाएँ बोली जाती हैं। अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए अभी तक अँगरेजी का इस्तेमाल होता रहा है। पर स्वतन्त्रता प्राप्त करते ही भारत अब अँगरेजी से ऊब उठा है। प्रान्तीय भाषाएँ अपने-अपने प्रान्त में अपना स्वभाव-सिद्ध अधिकार प्राप्त कर रही हैं। इसमें जो देर हो रही है वह या तो प्रान्तों और रियासतों की सीमाओं के, भाषाओं की सीमाओं से भिन्न होने के कारण या कुछ नेताओं की अनौचित्य तक पहुँचने वाली अन्तर्राष्ट्रीय भावना के कारण है। पर विश्वास है कि शीघ्र ही लोकमत के अनुकूल अँगरेजी का बहिष्कार और भारतीय भाषाओं का सिंहासनारोहण हो जायगा। जल्द ही प्रान्तीय भाषाएँ उच्चतम शिक्षा तक के लिए माध्यम बन जायँगी।

अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए हिन्दी का स्थान निश्चित और सर्वसम्मत रहा है। इसके दो साहित्यिक रूप (हिन्दी और उर्दू) इधर प्रचलित रहे हैं पर हिन्दी रूप दिन-दिन आशातीत विस्तार पाता रहा है। तुलनात्मक दृष्टि से उर्दू उतनी उन्नति और विस्तार नहीं पा सकी है और उसकी बाजी हारती सी दिखाई पड़ती है। मुट्ठी भर राष्ट्रीयतावादी मुसलमानों को सन्तोष देने के लिए इधर कई साल से महात्मा गान्धी की प्रेरणा से कुछ लोग हिन्दी और उर्दू के बीच की एक शैली का प्रचार कर रहे हैं ये इसे हिन्दुस्तानी कहते हैं पर यह हिन्दुस्तानी

भी हिन्दुओं की लेखनी से प्राप्त हरकी हिन्दी और मुसलमानों के कलम के जोर से हल्की फुल्की उर्दू का ही रूप न पाई। न इसकी शैली निखर पाई और न इसमें किसी उत्तम ग्रन्थ की रचना हो पाई। महात्माजी का यह अनुरोध कि प्रत्येक भारतीय देवनागरी और उर्दू दोनों लिपियों को सीखे और दोनों का व्यवहार करे, जनता को मान्य न हो सका।

अब पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के दो अलग-अलग स्वतन्त्र राष्ट्रों के रूप में इस उपद्वीप के परिणत हो जाने से, भारत की राष्ट्रभाषा की समस्या सुलझ गई है। भारतीय केन्द्रीय सरकार की राजभाषा हिन्दी और राजलिपि देवनागरी मान ली गई है तथा पाकिस्तान की लिपि फारसी (उर्दू)।

भारत की राष्ट्रभाषा का भविष्य उज्ज्वल है। हमारे राष्ट्र के अधिकारसिद्ध मान प्राप्त करने पर इसकी भाषा का मान बढ़ेगा। जहाँ-जहाँ भारतीय जायँगे, यह भाषा भी जायगी, अभी उनके साथ अँगरेजी जाती थी। हिन्दी का आधुनिक साहित्य भी उच्चकोटि का है, जो अंग अपूर्ण हैं वे शीघ्र ही पूर्ण हो जायगे और भारत की भारती राष्ट्र के गौरव की वस्तु होगी।

शुभ भयात्

प्रथम परिशेष

ग्रन्थ-सूची

भाषाविज्ञान के ग्रन्थो की एक बडी अच्छी सूची विल्हेम ग्रेफ की पुस्तक के ४३७—'७१ पन्नो पर दी हुई है। भारतीय भाषाओ के विवेचन के लिए सुनीतिकुमार चटर्जी जी की 'इण्डोआर्यन एण्ड हिन्दी' के अन्त मे पृ० २५०—'५८ पर भी एक अच्छी सूची दी हुई है। विशेष विवरण के लिए पाठको को उन सूचियो को देखकर अपनी जरूरत के लिए पुस्तके छाँट लेनी चाहिए। विषय के सामान्य ज्ञान और भारतीय भाषाओ के जरा विशिष्ट परिचय के लिए नीचे लिखी पुस्तको से काम लिया जा सकता है।

W S Allen—Phonetics in Ancient India (Oxford Univ Press) 1953

Armfield, N —General Phonetics (London, 1930)

Belvalkar, S K —Systems of Sanskrit Grammar (Poona)

Bender H H —A Lithuanian Etymological Index (Princeton 1921)

Bhandarkar, R G —Wilson Philological Lectures (Bombay, 1914)

Bloch, J —L'Indo-Aryen (Paris 1934)

Bloomfield, L —Language (London, 1935)

Bréal, M —Semantics (Eng translation of the original French Work, London, 1900)

Brunot, F E —La pensee et la Langue (Paris, 1922)

Buhler, G —On the Origin of the Indian Brahma Alphabet (Strassburg, 1898)

Chatterji, S K —Indo-Aryan and Hindi (Ahmedabad 1942)

D Jon The Phonema W Heffer & Sons Cambridge

Dauzat, A —La Vie du Language (Paris, 1910)

Dauzat, A —La Philosophie du Language (Paris, 1912)

Graff, W —Language and Languages (N Y & London, 1932)

Grierson, G A —Linguistic Survey of India, Vol I part I (Calcutta, 1928)

Gune, P D —An Introduction to Comparative Philology (Poona)

Geschichte der deutschen Sprachen (Munchen, 1919)

Jesperson, O —Fonetik (Copenhagen, 1899)

—Language its Nature, Development & Origin (London, 1922)

The Philosophy of Grammar (N Y 1924)

Logic and Grammar (Oxford, 1924)

Jones, D —An Outline of English Phonetics (London, 1932)

Meillet, A —Les Dialectes Indo-Europeennes (Paris, 1908)

— Linguistique Historique et Linguistique General (Paris, 1926)

— Introduction a l' Etude Comparative des Langues Indo-Europeennes (Paris, 1924)

Do & Cohen —Les Langages du Monde (Paris)

Michigan Press Pikes, K L —Phonetics, (University of Do

—Phonemics do

Pillsbury & Meader —The Psychology of Language (N Y 1928)

Saksena, B R —The Evolution of Awadhi (Allahabad 1938)

Sapir, E —An Introduction to the study of speech (N Y 1921)

Scripture, E W —The Elements of Experimental Phonetics (N Y & London, 1904)

Sturtevant, E H—A Comparative Grammar of the Hittite Language (Philadelphia, 1933)

Taraporewala, I J S—Elements of the Science of Language (Calcutta)

Turner R L —Nepali Dictionary London 1931

Varma, S.—Speculations of Ancient Indian Phoneticians (London)

Vendryes, J.—Language: A Linguistic Introduction to History (Eng. trans. of original French work Le Langage, Paris, 1921)

Woolner, A. C.—Introduction to Prakrit (Lahore)

Encyclopaedia Brittanica—Article on Alphabet (14th ed. pp 177-84)

Fourth Oriental Conference (Proceedings)—Article on the Origin of Brahmi Alphabet by I. J. S. Taraporewal pp 625-661)

गौरीशंकर हीराचंद ओझा—प्राचीन लिपिमाला (अजमेर, १९१८)

धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास (प्रयाग)

मंगलदेव शास्त्री—तुलनात्मक भाषाशास्त्र अथवा भाषाविज्ञान (बनारस, १९४०)

द्वितीय परिशिष्ट

पारिभाषिक शब्द-सूची

नीचे [illegible] पारिभाषिक शब्दों की सूची दी गई है। कुछ शब्दों के अंगरेजी पर्याय भी दे दिए गए हैं जो [illegible] के लिए जरूरी [illegible] गए पर [illegible] शब्दों के जो नितान्त स्वदेशी हैं, तथा भाषाओं के नामों के, अंगरेजी पर्याय नहीं दिए गए। भाषाओं के नाम भी [illegible], आर्य भाषा-समूह, इन दो के नीचे, [illegible] लिपियों के नाम प्राय: [illegible] के नीचे [illegible]। [illegible] कोई विशेष शब्द अकारादि क्रम से [illegible] स्थान पर [illegible] है, [illegible] सामान्य शब्द के अन्तर्गत खोजना चाहिए जैसे [illegible] व्यंजन, [illegible] के नीचे, [illegible]-भाषा, भाषा के नीचे।

[illegible] की पुस्तक में पारिभाषिक शब्दों [illegible] और [illegible] व्याख्या [illegible] में दी गई है। [illegible]

अ

[illegible] क्रिया Intransitive Verb
[illegible]
[illegible] syllable
[illegible] formation of
[illegible] haplology
[illegible] spelling
[illegible]
[illegible] similarity
[illegible] suprasegmental phoneme
अग्रागम prothesis
[illegible]
अनियमित [illegible] free variation
अनुकरण imitation
[illegible] imitative [illegible]
अनुनासिक nasal
[illegible]
[illegible]

[illegible] secondary articulation
[illegible]
[illegible]
[illegible] onomatopoetic [illegible]
[illegible] similar
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] variety, diversity
[illegible] sound, semi-vowel
[illegible] ([illegible])
उपनागर
नागर
[illegible]
[illegible]
[illegible] exception
अपश्रुति ablaut
अभिव्यक्ति expression
reduplication

ओ

ओष्ठ lip

ओष्ठ्य (वर्ण) labial

क

कजा

कण्ठकुड़ी डिस्ट्रियोजन

काकु intonation

कायसंकेत logograph

कारक

कर्म (कर्ता) कर्म, करण, सम्प्रदान अपादान, अधिकरण

काल tense

-प्रक्रिया conjugation

अनिश्चित- indefinite t

अपूर्ण- imperfect t

निश्चित- definite t

-पूर्ण perfect t

कीलाक्षर लेख cuneiform inscription

कुड़पु

कुमाउनी (बोली)

केल्टिक (आर्य भाषाएं) centum

केल्टा (आ० भा० सं०) Pelasgic

क्रम

कृत्य

-रूप

कृदन्त

कोटि device

निश्चय- d of determination

विचार- d of consideration

कोमल अस्थि cartilage

कोमलतालु (सुकुमार) velum, soft palate

कोरियायी (भाषा)

काश्मीरी (भाषा)

कौआ uvula

क्त Passive past participle

क्तवतु active past participle

क्रिया verb

-का प्रकार aspect of v

-विशेषण adverb

अकर्मक- intransitive v

सकर्मक- transitive

सहायक auxiliary

ख

खण्डरूप ध्वनिग्राम segmental phoneme

खरोष्ठी नपाली (भाषा)

ग

गढ़वाली (बोली)

गण conjugation, group

गति speed flow

गाथा (अवेस्ता के पद्य)

गिनती numerals

गुजराती

गुण (ध्वनि-) quality of—

गुण (सन्धि)

गोरखाली (नैपाली भाषा)

ग्रन्थ

-लिपि

ग्रिम नियम Grimm's law

ग्रीक (भाषा, लिपि)

ग्रासमान नियम Grassman's law

घ

घोष,-त्व voice, voice-ness

अपूर्ण partial voice

पूर्ण- full voice

च

चाम्बाली (प्राकृत)

चित्र picture

-लिपि pictorial script, hieroglyphic

-संकेत picture-symbol

चिह्न symbol

नेत्रग्राह्य- visual sy

श्रोत्रग्राह्य- auditory sy

स्पर्शग्राह्य tactile sy

स्वरसूचक (ज़ेर, ज़बर, पेश)

-विभिन्नता phonetic or sound difference
-विज्ञान phonetics
प्रयोगात्मक ध्व० वि० experimental phonetics
-सामंजस्य phonetic harmony
-साम्य phonetic similarity
ध्वन्यात्मक शब्द phonetic word
समान-ध्व० श० homophone

न

नपुंसकलिंग common gender
नली pipe, tube
श्वास- trachea
नाम noun
नालिका pipe
-मुख mouth of p
श्वास- wind-pipe
भोजन- food-pipe
निपात
निरुक्त
निरुक्ति
निरुक्ति (भा०) dialect
निषेध negation
-त्मक, negative
-त्मक रूप negative case
नैपाली (भाषा)

प

पंजाबी (भाषा)
पद word
-क्रम word-order
-रचना word-formation
-रचना-विज्ञान morphology
-विकास evolution of word
-विज्ञान science of morphology
आत्मने-
परस्मै-
-र्थ word meaning
परसर्ग postposition
परसर्ग-अनियम n. t. illness
परिभाषा technical definition
परिस्थिति जन्य उपरूप conditioned variants, allophone
पारिभाषिक शब्द technical term
परिवर्तन change
-शील changing
पहाड़ी (बोलियाँ)
पाठ
क्रम-, घन-, जटा-, पद-, संहिता-
पालि
पितृप्रधान संगठन patriarchal system
पुरुष person
अन्य (प्रथम) third
उत्तम first
मध्यम second
पुंल्लिंग masculine gender
पैशाची
पैशाचिका
केकय-, चूलिका-, पाञ्चाल-, शौरसेन-
प्रकरण context
प्रकृति (आधार) base
प्रतिपद crude form
प्रतिमा image
ध्वनि- sound image
विचार- thought-image
वाक्य- sentence-image
प्रतिमानता या समतुल्यता pattern congruence
प्रतीक symbol
प्रत्यय suffix, termination
पर- termination
पूर्व suffix
मध्य-विन्यस्त- infix
प्रत्याहार
प्रयत्न effort
-लाघव economy of effort
प्रयोग use
कर्तरि active use
कर्मणि passive use

म

मगही (बोली)
मनोराग passion
मनोविज्ञान psychology
मनोवैज्ञानिक psychologist
मराठी
महाराष्ट्री
जैन- „
मागधी
मात्रा unit, degree, length
अर्धदीर्घ half-long
दीर्घ long
प्लुत longer
ह्रस्व short
माध्यम intermediary, medium
मारवाड़ी (बोली)
माफ morph
शून्य zero m
मिश्रस्वर diphthong
मुहाविरा idiom
मूर्धा cerebra
-भाग
मेवाड़ी
मैथिली

य

यकार
लघुप्रयत्नतर-
यन्त्र mechanism
उच्चारण-, ध्वनि- m of speech
य श्रुति y glide
यादृच्छिक arbitrary
योग agglutination
अन्त- suffix a
पूर्व- prefix-a
मध्य- infix-a
योगात्मक agglutinative
अन्त-, पूर्व-, मध्य-, पूर्वान्त- sufix a, pre a, in a, pre suf a
अश्लिष्ट simple agglutinative
प्रश्लिष्ट incorporative
श्लिष्ट inflexional

र

रहस्यात्मक प्रभाव mystic influence
राजस्थानी
राष्ट्रभाषा national language
राष्ट्रलिपि national script
रूढि convention
रूप form, morpheme
अनियमित irregular f
नियमित regular f
निर्बल weak f
सबल strong f
विज्ञान morphology

ल

लकार
(लट्, लोट्, विधिलिङ्, लङ्, लृट, लुट्, लृङ्, आशीर्लिङ्, लिट्, लुङ्, लट्)
लक्षण definition characteristic
लहँदी
लिंग gender
अचेतन inanimate g
चेतन animate g
नपुंसक neuter g
पुंलिंग masculine g
स्त्रीलिंग feminine g
व्याकरणात्मक grammatical g
लिपि script (दे० पृ० ३४०)
लुक् loss
लेख record, inscription
लेमुरी Lemuri continent
लैटिन
लोप elision

व

वक्तव्य unit of speech
वक्रोक्ति
वचन number
एक- singular n
द्वि- dual n

त्रि- trial n
बहु- plural n
समूह-वाचक- collective n
वक्र (भाषा)
वर्गीकरण classification
आकृतिमूलक morphological c
इतिहासिक historical (geneological) c
वर्ण letter
वर्णन description
-त्मक क्रियाविशेषण descriptive adverb
वर्त्सभाग alveolar region
वर्नर-नियम Verner's law
व श्रुति w glide
वाक्य sentence
-विज्ञान syntax
व्यापारात्मक वा० verbal sentence
संज्ञा वा० substantives s
वाक्यार्थ meaning of s
वाग्यंत्र speech organ
वाङ्मय literature (general)
वाचिक vocal
वाच्य voice
कर्तृ- active v
कर्म- passive v
भाव- impersonal v
वाणी speech
वाद theory
विकास evolution
वाद theory of evo
विकृत बोली slang
विचार thought
-तरंग wave of th
-धारा current of th
विनिमय exchange of th
विज्ञान science
विधेय predicate
विनिमय exchange
परस्पर- metathesis
विचार- e of thought
विन्यास sequence
विभाषा sub-language
भिन्नता diversity, variety
बोली- dialectal d
भाषा- Linguistic d
भूगोलिक- geographical d
शारीरिक physical d
वियोगात्मक भाषाएँ analytic
विरोध contrast languages
विवर opening, cavity
नासिका nasal c
विवृति juncture
मुख- buccal (mouth) c
विशेषण adjective
विशेषात्मक गुण attributes
विश्लेषण analysis
विषमीकरण dissimilation
विस्मयादिबोधक शब्द interjection
विभक्ति case
(प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, सम्बोधन),
अविकारी, विकारी direct, oblique
विभक्त्यर्थक प्रत्यय case-terminations
वीरोस Wiros
वृत्ति mood
वृद्धि (सन्धि)
व्यक्तीकरण expression, specification
व्यतिरूप allomorph
व्यंजन consonant
अनुनासिक nasal
अलिजिह्वीय uvular
अल्पप्राण unaspirated
उत्क्षिप्त (उत्क्षेपात्मक) flapped
उपालिजिह्वीय pharyngal
ऊष्म sibilant

ओष्ठ्य labial
कण्ठ्य velar, guttural
क्लिक click
तनु tenue
तालव्य palatal
दन्त्य dental
अग्र- pre-dental
पश्च- post-dental
मध्य- centro-dental
दन्तोष्ठ्य labio-dental
दीर्घ long
पार्श्विक lateral
मध्य media
महाप्राण aspirated
मूर्धन्य cerebral
लोडित rolled
संयुक्त conjunct
सघोष voiced
अपूर्ण- partially v
पूर्ण- fully v
संघर्षी fricative
स्पर्श stop, mute
स्पर्शसंघर्षी affricate
स्फोटात्मक plosive
अन्तः implosive
बहि - explosive
स्वरयन्त्रस्थानीय glottal
ह्रस्व short
व्याकरण grammar
-कार ian
-पंडित, नवयुवक neo-, junggrammarians
-त्मक grammatical
लिंग g gender
धारा g category
तुलनात्मक व्या०- comparative g
ऐतिहासिक ,, historical g
व्युत्पत्ति etymology
-विज्ञान science of e

श

शतृ, शानच् present participle
शब्द word
-कोष vocabulary
-चित्र word-picture
-शक्ति power of word
(अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्य)
-समूह stock of words
अर्थवान meaningful w , full w
अर्थहीन meaningless, empty w
तत्सम
तद्भव
देशी
ध्वन्यात्मक phonetic word
शब्दार्थ भेदकारी विरोध distinctive contrast
व्याकरणात्मक grammatical word
पूर्ण full w
रिक्त empty w
शरीरविज्ञान physiology
शकारी (प्राकृत)
शाबरी (प्राकृत)
शिक्षा phonetics (Ancient Indian)
शुद्ध स्वर Monophthong
शौरसेनी, जैन
श्रुति Veda
श्रुति glide
य y g
व w g
श्लिष्ट synthetic (inflexional)
अश्लिष्ट, प्रश्लिष्ट
श्लेष synthesis, first stage of inflexion
श्वास wind breath
-नालिका w pipe
-नली trachea
संधि morphophonemics

स

संस्कृत (वैदिक, उदीच्य, प्राच्य, मध्यदेशीय)
संहिता
संकेत symbol
-स्वरूप symbolic
-चित्र picture-symbol
भावात्मक- ideographic symbol
संघटना structure
संघटनात्मक भाषाविज्ञान Structure Linguists
संघर्षित्व friction
संज्ञा technical term
संज्ञा noun
अविकारी, विकारी direct oblique
जीवित, मृत living, dead
उच्चजातीय high-caste
नीचजातीय casteless
विवेकी, अविवेकी rational, irrational
व्यक्तिवाचक, जातिवाचक, भाववाचक proper n, concrete n, abstract n
संज्ञात्मक वाक्य noun-sentence
सतम भाषाएं Satam languages
सत्ता position
गौण secondary
मुख्य primary
सत्यनियम static laws of nature
समभिहार (पौनःपुन्य, भृशार्थ) intensity
समाजशास्त्र sociology
समास compound
(अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्वन्द्व, बहुव्रीहि)
समीकरण assimilation
पुरोगामी progressive a
पश्चगामी regressive a
सम्प्रदाय tradition
सम्प्रसारण (संधि)
सम्बन्ध relation
-तत्त्व morpheme
समवाय- necessary connection
सर्वसापेक्षवाद theory of relativity
सर्वजनभाषा universal language
सर्वनाम pronoun
वाच्य समावेशक inclusive p
व्यतिरिक्त exclusive p
सादृश्य analogy
अस्थान- false a
सामंजस्य harmony
ध्वनि- sound-harmony
स्वर vowel-harmony
साम्य similarity, affinity
अक्षरनिर्माण- in syllable-formation
ध्वनि- s in sounds
व्याकरणात्मक- s in grammar
शब्द- s of words
शब्दावली- s of vocabulary
सिंहली (भाषा)
सिन्धी (भाषा)
सुप् case-terminations
सुबन्त declensional form
सुमेरी (भाषा)
सुर pitch (accent)
उच्च high p
नीच low p
सम level p
सूक्ष्मलेखन narrow transcription
स्त्रीप्रत्यय feminine affixes
स्त्रीलिंग f gender
स्थान position
स्थान-विपर्यय epenthesis
स्थिति state
स्पर्श contact
-संघर्षी affricate
-संघर्षित्व affrication

स्फोट plosion
-कत्व plosiveness
स्लावी भाषा
स्वच्छन्द परिवर्तन free variation
स्वर vowel
-अनुरूपता vowel-affinity
-क्रम ablaut
-व्यत्यय different position of v
-सामञ्जस्य vowel-harmony
-साम्य vowel similarity
-यन्त्र, -यन्त्रपिटक Glottis larynx
-समुदाय vowel-group
अग्र front v
गुरु- heavy v
पश्च- back v
मध्य- central v
मूल- cardinal, simple
मिश्र- dipthong
अवनायक- falling d
उन्नायक- rising d
लघु (हल्का)- light v
संयुक्त conjunct vowels
एकमात्रिक short v
द्विमात्रिक long v
त्रिमात्रिक longer v
विवृत open v
अर्धविवृत half-open v
अर्धसंवृत half-close v
संवृत close v
नासिक्य nasalised v
उदासीन neutral v, schwa
स्वर accent (pitch)
उदात्त high (pitch accent)
अनुदात्त lowpitch (accent)
स्वरित level pitch (accent)
स्वरतन्त्री glottal cord, vocal cord
स्वरत्व sonority
स्वरभक्ति anaptyxis (vocalic)
व्यंजनभक्ति anaptyxis (consonantal)
स्वराघात stress accent

ह

हब्शी (जिप्सी)
हाइपर-बोरी (भाषा)
हिट्टाइट
-कप्पडोमी
हिन्दको
हिन्दी
हिन्दुस्तानी
भाषापरिवार
जाय (इंडो-केल्टिक, इंडो-जर्मनिक, इंडो-यूरोपियन, जेफाइट, सान्स्क्रिटिक)
उराल-अल्ताई
तुंगजी, मंगोली (तुर्क-तातारी) तुर्की, किरगिज, नोगाइर,
याकूत, फीनी-उग्री—फीनी (सुओमी) मगयार (हंगेरी)
मगोली, समोयेदी
काकेशी
उत्तरी, दक्खिनी (अवर, चेचेन, जार्जी)
चीनी
अनामी, तिब्बती-ब्रह्मी (तिब्बती-ब्रह्म लद्दाखा), थाई
(आहोम, स्यामी, शान),
स्वयं चीनी (मन्दारी, कटूनी)
बाटू
कांगो, काफिर, जुलू,
ससुतो स्वहीली
बुशमैन
सामी-हामी
(क) सामी (अक्कदी, अरबी, अरमी गीज, फीनीशी, यहूदी-इब्रानी, सीरी, हब्शी)
(ख) हामी (काप्टी, कुशी—खमीर, गल्ल, नामा, लीबी—बबर, मिस्री, सोमाली)
सुडान

(इब, कनूरी हाउसा, नूबी, ग्यल
सोम, थाउ, वोलोफ, सनेगल)
होटेंटाट
द्राविडी
कन्नड, कुरुख, कूई (कन्धी), कोटा
कोडगु, कोलामी, गोंडी, टोडा, तामिल
तळ, तेलगु, ब्राहुई, मलयालम, माल्टो
मलाया-पॉलीनेशियाई (आस्ट्रोनेशियाई)
(क) आस्ट्रेलियाई (टस्मेनिया)
(ख) पापुआई (मफोर)
(ग) पॉलिनेशियाई (माओरी, टोंगी, समोअई, हवाई)
(घ) मलयाई (कवि, क्रोमा, तागालो)
जावी, टगल, दयक, फारमोसी, मलगसी (होवा), मुन्दियन
(ङ) मलेनेशियाई (फीजी)
मुंडा
खेरवारी (मुंडारी, सन्थाली), कनावरी, कूक, बुरुशस्की, मवर, हो
मोनख्मेर—खासी, नागा
आर्य भाषा समूह
इटाली
उम्ब्री, ओस्की, टिन
इटाली
पुर्तगाली
प्रोवेंशल
फ्रेंच
रुमानी
सेफार्डी
स्पेनी
केल्टी
आइरी (गैली)
ग्रीक
ऐटिक, कोइनी, डोरिक,
थ्रूशी, फ्रिजी, मैसेडोनी
जर्मनी (ट्यूटानी)
आइसलैंडी
इंगलिश (अंगरेजी)
पिडगिन, बाबू

गाथी
डच
डनी
जर्मन
हाई, लाउ ड्यूटस् प्राखेन
नार्वजी
नार्स
फ्रीजी
स्कैंडीनेवी
स्वीडी
दर्दी
दर्दी विशिष्ट, कश्मीरी,
काफिरी, खावारी,
शिणा,
शोणा
बाल्टो स्लावी
(क) बाल्टी
प्रशियाई,
लिथुआनी, लट्टी
(ख) स्लावी
चेक, पोली, बल्गारी,
रूसी (लघु रूसी),
श्वेतरूसी, महारूसी
(रूसी), सर्वोक्रोटी
हिन्द-ईरानी
(क) ईरानी—जेन्द,
पश्ती, पहलवी,
पाजन्द, पार्सी
हुज्वारेश
(ख) भारतीय
(वै) प्राचीन युग
(वैदिक-छन्दस्)
लौकिक (भाषा)
संस्कृत (उदीच्य आदि)
(२) मध्ययुग
पालि
अशोकी प्राकृत
प्राकृतें
अवन्ती पैशाची

अर्ध मागधी,
मागधी
महाराष्ट्री
शौरसेनी
अपभ्रंश
(३) वर्तमान युग
असामी, उड़िया,
गुजराती, पंजाबी,
पहाड़ी, बंगाली,
बिहारी, भीली
मराठी, राजस्थानी,
लहँदी, सिंहली,
सिन्धी, हल्बी, हिन्दी
लिपि (लिबि) script alphabet
अरबी
अरमी (अरमइक)
आर्मीनी
उड़िया
उर्दू
एट्रुस्की
ओघ
कन्नड़ी
कलिंग
कश्मीरी
कुटिल
कूफी
खरोष्ठी (खरोट्ठी)
गुजराती
गुप्त
गुरुमुखी
ग्रन्थ

ग्रीक
ग्लैगालिथी
चित्रलिपि
टाकरी
तामिल
तुळु
तेलगू
कन्नडी
देवनागरी
नन्दिनागरी, नागरी
दोमापुरिया
नस्ख
नैपाली
बंगला
ब्राह्मी (बम्भी)
उत्तरी, दक्षिणी,
पश्चिमी, मध्यप्रदेशी
मलयालम
महाजनी
मिताक्षरा
मैथिली
यवनानी (जवणालिया)
राजस्थानी
रूनी
रोमन
इडारोमन
लैटिन
वट्टुत्तु
शारदा
सिरिली
हन

अनुक्रमणिका

नाम

भाषाएँ

अशुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
८	२८	बाद	वाद
८७	—	('प्रथम खंड' का आरंभ यहाँ से न मानकर पहला अध्याय से समझिए)	पृष्ठ १,
२१३	११	तीन	तीस
२४२	२१	किया गया था। स्थानीय-भाषा [illegible]	किया गया था। [illegible] भाषा के
२४८	२०	लिपिविशिष्ट भाषा[illegible] परन्तु उड़िया	[illegible] भाषा[illegible] और उड़िया
२७२	९	[illegible]बार	[illegible]बार
२७२	६-७	[illegible]	[illegible]
२७२	२२	[illegible]	[illegible]
२८०	१०	[illegible]	[illegible]
२८२	४-५	[illegible] और [illegible]	[illegible] और [illegible]
२८२	१०	जो	[illegible]
२८२	१८	[illegible]	[illegible]
२८२	२७	[illegible]	[illegible]
२८४	२२	जैसे [illegible] ([illegible]), [illegible] ([illegible]), [illegible] ([illegible]), [illegible] ([illegible])।	जैसे [illegible] ([illegible]), [illegible] ([illegible]), [illegible] ([illegible]) [illegible] ([illegible])
२८४	२६-२७	[illegible] ([illegible]) ([illegible]) [illegible] ([illegible])	[illegible] ([illegible]) ([illegible]) [illegible] ([illegible])
२८५	४	सोन् (भाई), [illegible]	[illegible] (भा[illegible]), [illegible]
२८५	५	([illegible] पु० है)	([illegible])

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
२८६	१०	[illegible]	कल्ज
२८७	०	ह	ह्
२९०	१८	तुगजा	तुग्जी
२९५	१८	(पृ० ७९ पर)	(पृ० ७९-८० पर)
२९८	२	निव्वली-ब्रह्मा	निव्वनी-ब्रह्मी
३०६	११	ड	ड
३१८	१०	ऍन	ऍन
३२२	१	ह	ह
३२३	५	(अ, ए ओ,	(अ एँ ओ)
३३१	८	(पृ० २२० पर)	(पृ० २१९-२० पर)
३३१	२२	कुन्टम	केन्टुम्
३३२	१६	[illegible]म्	केन्टुम
३३५	२७	इटली	इटाली
३३७	३	पूर्वकालिक	पूर्वकालिक
३३९	२५	प्, [illegible], क्	प्, ट्, क्
३४३	७	थ्, फ्, घ्, ध्	थ्, फ्, घ, ध्
३५१	२०	पामीरा की तराई मे	पामीर की तराई में
३५२	९	पैशाची प्रकृति	पैशाची प्राकृत
३५३	१०	कोने	होने
३५३	१४	श्, ष् ह्	श्, ष्, ह्
३६६	१०	स्पर्श वर्ण वर्गों के तीसरे, चौथे (अघोष) (पहले, दूसरे)	स्पर्श वर्ण (वर्गों के तीसरे, चौथे) अघोष (पहले, दूसरे)